श्रीहरिः

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली

(तृतीय खण्ड)

रथारूढस्यारादधिपदवि नीलाचलपते-
रदभ्रप्रेमोर्मिस्फुरितनटनोल्लासविवशः
सहर्षं गायद्भिः परिवृततनुर्वैष्णवजनैः
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम् ॥

लेखक—

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक—

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

संवत् १९९१ प्रथम संस्करण ३२५०
मूल्य १) एक रुपया
सजिल्द १।) सवा रुपया

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क

श्रीहरिः

चित्र-सूची

श्रीहरिः

समर्पण

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

प्यारे! इतना मुझे पता है कि सब प्रकारके परिग्रहोंका परित्याग करके एकान्त-हृदयसे तुम्हारा आराधन करते रहना ही धर्म है और संसारी वस्तुओंमें आसक्ति-बुद्धि रखकर उनका संग्रह करना ही अधर्म है, किन्तु नाथ! मैं धर्मका पालन नहीं कर सकता, क्योंकि तुम्हारा गुलाम जो हूँ। गुलामोंका तो आजतक कोई भी धर्म नहीं सुना गया। उनका भी कोई-न-कोई धर्म अवश्य ही होता होगा, किन्तु मुझे उसका भी पता नहीं। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि जिस काममें तुमने लगा दिया उसीमें लग गया। पिछला काम अधूरा पड़ा रह गया, तो मैं क्या करूँ। तुम जानो तुम्हारा काम जाने। लो यह भी तुम्हारा काम हो गया। इसे स्वीकार करोगे ही, क्योंकि मैंने स्वेच्छासे थोड़े ही किया है। तुमने कराया, कर दिया।

श्रीहरिबाबाका बाँध
गँवा (बदायूँ)
सं० १९८९ का नव संवत्सर
बुधवार।

तुम्हारा ही
प्रभुदत्त

प्राक्कथन

ब्रह्मज्ञानविवेकिनोऽमलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं
यन्मुञ्चन्त्युपभोगकाञ्चनधनान्येकान्ततो निःस्पृहाः।
न प्राप्तानि पुरा न सम्प्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्ययः
वाञ्छामात्रपरिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम् ॥*

(श्रीभर्तृहरि० वैरा० १०८)

---

* सचमुच ब्रह्मज्ञानके कारण जिनकी बुद्धि स्वच्छ और निर्मल बन गयी है, ऐसे वैराग्यवान् विवेकी पुरुष बड़े साहसका, सबसे न किये जानेवाला कठिन काम करते हैं, जो संसारमें सर्वश्रेष्ठ समझे जानेवाले और इन्द्रियोंको अत्यन्त ही प्रिय प्रतीत होनेवाले कामिनी-काञ्चन आदि भोग्य पदार्थोंका परित्याग कर देते हैं और त्याग कर देनेपर फिर मनसे भी उनकी इच्छा नहीं करते। यथार्थमें तो वे ही धन्य हैं। अब हमारी सुनिये। पूर्व-जन्ममें कङ्गाल थे, तभी तो अबके कङ्गाल-घरमें जन्म लिया, इसलिये न तो पूर्वमें ही कुछ हमारे पास था, न अब है और न आगे ही कुछ होनेकी आशा है। क्योंकि कुछ करें तब तो आगे कुछ प्राप्तिकी आशा हो, सो करते-धरते कुछ भी नहीं। हाँ, हमारे पास एक धन है 'केवल विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छा है' आशा लगी रहती है कि सम्भव है आगे कुछ प्राप्त हो जाय। गाँठमें तो कुछ है नहीं, कोरी वाञ्छा-ही-वाञ्छा है। उस वाञ्छाको भी हम परित्याग करनेमें असमर्थ हैं। कैसी हमारी विवशता है।

गौराङ्ग महाप्रभुका जन्म, उनका बाल्य-काल, अध्ययन, अध्यापन और अध्यापकीका अन्त ये इस ग्रन्थके प्रथम भागमें वर्णित हैं। द्वितीय भागमें उनकी भक्तोंके साथ नवद्वीपमें की जानेवाली सम्पूर्ण लीलाओंका वर्णन किया गया है। नवद्वीपमें संकीर्तन करते-करते और अपनी कीर्तिके कारण लोगोंके हृदयोंको क्षुभित देखकर महाप्रभुको इन सभी बातोंसे वैराग्य हुआ। संकीर्तन कोई सांसारिक कार्य नहीं था, किन्तु फिर भी महाप्रभु अपने हृदयको विशाल बनानेके लिये नवद्वीपको तथा अपने सभी प्रिय बन्धुओंको परित्याग करनेकी बात सोचने लगे। वे जीवोंको त्यागका पाठ पढ़ाना चाहते थे। वे दिखा देना चाहते थे कि प्रभु-प्राप्तिके लिये प्यारी-से-प्यारी वस्तुका भी परित्याग करना आवश्यक है। नहीं तो उन्हें स्वयं संन्यासका क्या प्रयोजन था। अद्वैताचार्यके पूछनेपर आपने स्पष्ट ही कह दिया था—

विना सर्वत्यागं भवति भजनं नह्यसुपते-
रिति त्यागोऽस्माभिः कृत इह किमद्वैतकथया।
अयं दण्डो भूयान् प्रबलतरसो मानसपशो-
रितीवाहं　　दण्डग्रहणमविशेषादकरवम् ॥

(चैत० च० नाट०)

आचार्यने पूछा था—'आपने यह अद्वैत-वेदान्तियोंकी भ्राँति संन्यास लेकर दण्ड-धारण क्यों किया है?' इसपर महाप्रभु कहते हैं—'आचार्य! संन्यास धारण करनेमें द्वैत-अद्वैतकी कौन-सी बात है। मुख्य बात तो है, अपने प्यारेके पादपद्मोंतक पहुँचना, सो यह बिना सर्वस्व त्याग किये होनेका नहीं। यही सोचकर मैं संन्यास-धर्ममें दीक्षित

हुआ हूँ। यह जो तुम दण्ड देख रहे हो, सो तो मेरी साधनावस्थाका द्योतक है। यह मन बड़ा ही चञ्चल है, जबतक साधन और नियमरूपी डण्डेसे इसे हाँकते न रहोगे, तबतक यह अपनी बदमाशियोंको नहीं छोड़नेका। इसीलिये इसे वशमें करनेके निमित्त मैंने यह दण्ड धारण किया है। दण्डके भयसे यह इधर-उधर न भाग सकेगा।'

सचमुच उन महाभागका त्याग बड़ा ही अलौकिक कार्य था। मुँहसे ऐसी बातें बक देना कि, आसक्ति छोड़कर कर्म करते जाओ, स्त्री-पुत्रोंका पालन भगवत्-सेवा समझकर करते रहो, ईश्वरार्पण-बुद्धिसे सदा कर्म करते रहनेकी अपेक्षा कर्मोंका त्याग करना अत्यन्त हेय है। त्याग करनेमें कौन-सी बहादुरी है 'नारि मुई घर संपत्ति नासी। मूँड़ मुँड़ाइ भये संन्यासी ॥' ये बड़ी ही आसान बातें हैं। टकेभरकी जिह्वा हिलानेमें किसीका लगता ही क्या है। जिसे देखो वही जनकका दृष्टान्त देने लगता है। इन विषयोंमें आसक्त हुए महानुभावोंकी जनक महाराजकी आड़ लेकर कही हुई बातोंका उत्तर देना व्यर्थ ही है, वे तो जागते हुए भी सोनेका बहाना कर रहे हैं। उन्हें जगा ही कौन सकता है। नहीं तो आसक्तिका त्याग होनेपर सांसारिक कर्म अपने-आप ही छूट जाते हैं। अच्छा, छोड़िये इस नीरस प्रसङ्गको। हमारी तो प्रार्थना परमार्थ-पथके पथिकोंसे ही है, यथार्थमें जिनका लक्ष्य शुद्ध परमार्थ है, जो त्यागी कहलाकर विषयोंके सेवन करनेके इच्छुक नहीं हैं, उन्हींसे हमारा विनय है कि आप त्याग, वैराग्य और प्रेमकी सजीव मूर्ति महाप्रभु गौराङ्गके संन्यास-धर्मपर मनोयोगके साथ विचार करें, तब आपको पता चलेगा कि परमार्थकी ओर बढ़नेवालेको कितने भारी-भारी बलिदान करने पड़ते हैं। थोड़ी देर समाहित चित्तसे महाप्रभुके त्यागकी कल्पना तो कीजिये। संसार जिसके लिये

पागल हो रहा है, ऐसी देशव्यापी प्रतिष्ठा हो, भक्तगण जिन्हें साक्षात् भगवान् मानकर पूजा-अर्चा करते हों, जिनके भोजनके लिये भाँति-भाँतिकी नित्य-नूतन वस्तुएँ बनती हों, जिनके घरमें प्रेममयी वृद्धा माता हो। त्रैलोक्यसुन्दरी, सर्वगुणसम्पन्ना, पतिको ही सर्वस्व समझनेवाली नवयौवना पत्नी हो, इन सबका तृणकी भाँति परित्याग करके द्वार-द्वारके भिखारी बन जाना, कितना भारी त्याग है, कैसा घोर दुष्कर कर्म है। इसीसे पाठकोंको पता चलेगा कि भगवत्-प्रेममें कितना अधिक सुख होगा, जिसकी उपलब्धिके लिये इतने बड़े-बड़े सुखोंका बात-की-बातमें त्याग करके महापुरुष गृहत्यागी वनवासी बन जाते हैं। इसीलिये संन्यास-धर्मके उपासक संन्यासिचूडामणि महात्मा भर्तृहरिने रोते-रोते कहा है—

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतटे
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परिक्षीयते॥

(भर्तृहरि० वैराग्य० १०२)

'अहा! पर्वतकी कन्दराओंमें निवास करनेवाले वे महानुभाव मनस्वी, तपस्वी, यशस्वी, त्यागी पुरुष धन्य हैं जो निरन्तर परब्रह्मकी प्रकाशमय, प्रेममय, आनन्दमय और चैतन्यमय ज्योतिका ध्यान करते रहते हैं। जिनसे किसी भी प्राणीको भय तथा संकोच नहीं होता और जो प्रभुकी स्मृतिमें सदा प्रेमाश्रु ही बहाते रहते हैं उनके उन प्रेममय अश्रुओंको भीरु हृदयवाले पक्षी निःशङ्क होकर उनकी गोदीमें बैठे हुए ऊपर चोंच करके पान करते रहते हैं और अपनी सभी प्रकारकी पिपासाको शान्त करते हैं। यथार्थ जीवन तो उन्हीं महात्माओंका बीतता है। 'हमारा जीवन कैसे बीतता है?' इस बातको न पूछिये। हम तो

पहले अपने मनोरथोंके द्वारा एक सुन्दर-सा मन्दिर बनाते हैं, फिर उस मन्दिरके समीपमें ही, मनोहर-सी एक बावड़ी खोदते हैं और बावड़ीके पासमें ही एक क्रीडा-काननकी रचना करते हैं। बस, उस कल्पनाके क्रीडा-काननमें ही कुतूहल करते-करते हमारी सम्पूर्ण आयु क्षीण हो जाती है। सारांश यही है कि भाँति-भाँतिकी मिथ्या कल्पनाओंमें ही हमारा अमूल्य समय नष्ट हो जाता है। सच्चा मनोरथ कभी भी सिद्ध नहीं होता।'

रजनीका अन्त होनेको है, सूर्यदेवके पादहीन सारथी अरुणदेव पूर्व-दिशामें उदित होकर भगवान् भुवन-भास्करके आगमनका सुखद समाचार सुना रहे हैं। पतिवियोगरूपी दुःखके स्मरणके कारण निशादेवी-का मुखमण्डल कुछ म्लान-सा होता जा रहा है। आकाशमें स्थित तारागण अपने पराभवका स्मरण करके मन-ही-मन दुखी-से हो रहे हैं। पक्षियोंके अबोध बच्चे अरुणोदयको ही सूर्योदयका समय समझकर कभी-कभी शब्द करने लगते हैं। इसपर उनके सयाने माता-पिता उन्हें फिर धीरेसे सोनेके लिये कह देते हैं। कर्मकाण्डी पण्डित नित्यकर्मोंसे शीघ्र ही निवृत्त हो जानेके लोभसे उठकर स्नान करनेकी तैयारियाँ कर रहे हैं। विषयी लोग उस सुहावने समयको ही सुखकारी समझकर सोनेका उद्योग कर रहे हैं। उसी समय महाप्रभु अपनी प्रियतमा प्यारी पत्नीके वक्षःस्थलपरसे अपने पैरोंको धीरे-धीरे उठाकर महाप्रस्थानका निश्चय करते हैं। वे एक बार अपने धर्मको स्मरण करके चलनेको तैयार हो जाते हैं, फिर सामने ही बेसुध पड़ी हुई अपनी प्यारीके भोले-भाले मुख-कमलको देखकर प्रेमके कारण खड़े हो जाते हैं। उस समयके उनके हृदयगत भावोंको व्यक्त करनेकी इस निर्जीव लेखनीमें शक्ति ही कहाँ है? यदि इन पंक्तियोंका लेखक कहीं सुचतुर चितेरा होता तो भाषाकी अपेक्षा चित्रमें उस भावको कुछ सुन्दरताके साथ व्यक्त कर सकता था।

पत्नीको सोती छोड़कर, माताको दुखी और बेसुध बनाकर, भक्तोंके ममत्वको भुलाकर महाप्रभु गङ्गाजी पार करके कटवामें श्रीकेशव भारतीके आश्रमपर पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने क्या किया इसे पाठक इस पुस्तकके प्रथम अध्यायमें ही पढ़ेंगे। यहाँ फिरसे उसे दुहरानेकी आवश्यकता नहीं। उन मुरलीमनोहर मुकुन्दके चरणारविन्दोंमें इस साधनहीन मतिमन्दकी यही प्रार्थना है कि महाप्रभु गौराङ्गदेवके पद-चिह्नोंका अनुसरण करते हुए हम भी त्याग-पथके पथिक इस जीवनमें न सही तो अन्य किसी जन्ममें ही बन सकें। भगवान् वासुदेवके चरणोंमें महारानी कुन्तीके स्वरमें स्वर मिलाते हुए और इस प्रार्थनाको करते हुए हम अपने इस क्षुद्र वक्तव्यको समाप्त करते हैं—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥*

(महाभारत)

श्रीहरिबाबाका बाँध
गँवा (बदायूँ)
चैत्र शुक्ला १, १९८९ वि०

भक्तोंका दासानुदास—
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

---

* हे नाथ! हे अच्युत! हजारों योनियोंमेंसे कर्माधीन होकर किसी भी योनिमें क्यों न जाऊँ, आपके चरणोंमें अचला भक्ति तो सदा बनी ही रहे। (यथार्थ प्रार्थना तो भक्तिकी है, हृदयमें तुम्हारी दृढ़ भक्ति होनेपर फिर योनियोंमें भ्रमण करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती, किन्तु मैं योनियोंके भयसे भयभीत होकर आपके चरणोंकी शरण नहीं लेता। हृदयमें तुम्हारी भक्ति हो तो मुझे किसी भी योनिसे भय नहीं।)

श्रीहरिः

मङ्गलाचरण

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

प्यारे ! तुम्हारे चतुर्भुज, षड्भुज, अष्टभुज और सहस्रभुज आदि रूप भी होंगे, उन्हें मैं अस्वीकार नहीं करता । अस्वीकार करूँ तो तुम्हारी स्वतन्त्रतामें बाधा डालनेका एक नया अपराध मेरे ऊपर लग जायगा । इसलिये वे रूप हों या न भी हों उनसे मुझे कोई विशेष प्रयोजन नहीं । मुझे तो तुम्हारा वही किशोरावस्थाका काला कमनीय रूप, वही मन्द-मन्द मुसकानवाला मनोहर मुख, वही अरविन्दके समान खिले हुए नेत्र, वही मुरलीकी पञ्चम स्वरवाली मधुर तान और वही पीताम्बरका लटकता हुआ छोर ही अत्यन्त प्रिय है । प्यारे ! अपने इसी रूपसे तुम इस दासके मन-मन्दिरमें सदा निवास करते रहो, यही इस दीनकी एकमात्र प्रार्थना है ।

निमाईका गृहत्याग

श्रीहरिः

गौरहरिका संन्यासके लिये आग्रह

कुलं च मानं च मनोरमांश्च
दारांश्च भक्तान् रुदतीं च मातरम्।
त्यक्त्वा गतः प्रेमप्रकाशनार्थं
स मे सदा गौरहरिः प्रसीदतु॥*

(प्र० द० ब्र०)

गंगापार करके प्रभु मत्त गजेन्द्रकी भाँति द्रुतगतिसे महामहिम केशव भारतीकी कुटियाके लिये कटवा-ग्रामकी ओर चले। कंटवा या कण्टक-नगर गंगाजीके उस पार एक छोटा-सा ग्राम था। ग्रामसे थोड़ी दूरपर श्री-गंगाजीके ठीक किनारेपर एक बड़ा भारी वटवृक्ष था। उस वटवृक्षके ही नीचे एक कुटिया बनाकर संन्यासीप्रवर स्वामी केशव भारती निवास करते थे। भारती महाराज विरक्त और भगवद्भक्त थे। ग्रामके सभी स्त्री-

* जो अपने कुलको, मान-सम्मानको, सुन्दर पत्नीको, भक्तोंको और रोती हुई माताको छोड़कर संसारमें प्रेमको प्रकट करके उसके प्रकाशनके निमित्त वनवासी वैरागी बन गये ऐसे गौरहरि भगवान् हमपर प्रसन्न हों।

पुरुष उनका अत्यधिक आदर करते थे। उनकी कुटियाके नीचे ही गंगाजी-का सुन्दर घाट था। ग्रामवासी उसी घाटपर स्नान करने और जल भरने आया करते थे। भारतीकी कुटियाके चारों ओर बड़ा ही सुन्दर आमके वृक्षोंका बगीचा था।

भारतीजी अपने लिपे-पुते स्वच्छ आश्रमके चबूतरेपर धूपमें आसन बिछाये बैठे थे। चारों ओरसे आमोंके मौरकी भीनी-भीनी गन्ध आ रही थी। दूरसे ही उन्होंने प्रभुको अपने आश्रमकी ओर आते देखा। वे प्रभुकी उस उन्मत्त चालको देखकर विस्मित-से हो गये और मन-ही-मन सोचने लगे—'यह अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त युवक कौन है ? इसके मुख-मण्डलपर दिव्य प्रकाश आलोकित हो रहा है। मालूम पड़ता है साक्षात् देवराज इन्द्र युवकका रूप धारण करके मेरे पास आये हैं, या ये दोनों अश्विनीकुमारोंमेंसे कोई एक हैं, अपने भाईको अपनेसे बिछुड़ा देखकर ये उन्हें ढूँढ़नेके निमित्त मेरे आश्रमकी ओर आ रहे हैं। या ये साक्षात् श्रीमन्नारायण हैं, जो मुझे कृतार्थ करने और दर्शन देने इधर आ रहे हैं।' भारतीजी मन-ही-मन यह सोच ही रहे थे, कि इतनेमें ही गीले वस्त्रोंके सहित प्रभुने भूमिपर पड़कर भारतीके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया। भारतीजी सम्भ्रमके साथ 'नारायण नारायण' कहने लगे।

प्रभु बहुत देरतक भारतीजीके चरणोंमें पड़े ही रहे। प्रेमके कारण उनके सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो रहे थे। दोनों नेत्रोंमेंसे अश्रु बह रहे थे। लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ते हुए प्रभु जोरोंसे उसास ले रहे थे। भारतीजी-ने उन्हें उठाते हुए पूछा—'भाई, तुम कौन हो ? कहाँसे आये हो ? इतने व्याकुल क्यों हो रहे हो ? अपने दुःखका कारण बताओ ?'

भारतीजीके प्रश्नोंको सुनकर प्रभु उठकर बैठ गये और धीरे-धीरे कहने लगे—'भगवन् ! आपने मुझे पहचाना नहीं ? मेरा नाम

निमाई पण्डित है। मैं नवद्वीपमें रहता हूँ, आपने एक बार नवद्वीप पधारकर मेरे ऊपर कृपा की थी और मेरे यहाँ भिक्षा पाकर मुझे कृतार्थ किया था। मेरी प्रार्थनापर आपने मुझे संन्यास-दीक्षा देनेका भी वचन दिया था, अब मैं इसीलिये आपके शरणापन्न हुआ हूँ। मुझे संसार-दुःखोंसे मुक्त कीजिये। मेरा संसारी-बन्धन छिन्न-भिन्न करके मुझे संन्यासी बना दीजिये। यही मेरी आपके श्रीचरणोंमें विनम्र प्रार्थना है।'

भारतीजीको पिछली बातें स्मरण हो आयीं। निमाईका नाम सुनकर उन्होंने उनका आलिंगन किया और मन-ही-मन सोचने लगे—'हाय, इन पण्डितका कैसा सुवर्णके समान सुन्दर शरीर, कैसा अलौकिक रूप-लावण्य, प्रभुके प्रति कितना प्रगाढ़ प्रेम और कितनी भारी विद्वत्ता है, फिर भी ये मेरे पास संन्यास-दीक्षा लेने आये हैं! इन्हें मैं संन्यासी कैसे. बना सकूँगा? घरमें असहाया वृद्धा माता है, उसकी यही एकमात्र सन्तान है। परम रूपवती युवती स्त्री इनके घरमें है, उसके कोई सन्तान भी नहीं, जिससे आगेके लिये वंश चल सके। ऐसी दशामें भी ये संन्यास लेने आये हैं क्या इन्हें संन्यासकी दीक्षा देकर मैं पापका भागी न बनूँगा?' यह सोचकर भारतीजी कहने लगे—'निमाई पण्डित! तुम स्वयं बुद्धिमान् हो, शास्त्रोंका मर्म तुमसे अविदित नहीं है। युवावस्थामें विषय-भोगोंसे भलीभाँति उपरति नहीं होती इसलिये इस अवस्थामें संन्यास-धर्म ग्रहण करना निषेध है। पचास वर्षकी अवस्थाके पश्चात् जब विषय-भोगोंसे विराग हो जाय तब संन्यास-आश्रमका विधान है। अतः अभी तुम्हारी संन्यास-ग्रहण करने योग्य अवस्था नहीं है। अभी तुम घरमें ही रहकर भगवत्-भजन करो। घरमें रहकर क्या भगवान्का भजन नहीं हो सकता। हमारा तो ऐसा विचार है, कि द्वार-द्वारसे टुकड़े माँगनेकी अपेक्षा तो घरमें ही निर्विघ्नतापूर्वक भजन हो सकता है। पेट तो कहीं

भी भरना ही होगा। रहनेको स्थान भी कहीं खोजना ही होगा। इसलिये बने-बनाये घरको ही क्यों छोड़ा जाय। न दस-बीस घरोंसे भिक्षा माँगी, एक ही जगह कर ली। इसलिये हमारी सम्मतिमें तो तुम अपने घर लौट जाओ।'

अत्यन्त ही करुणस्वरसे प्रभुने कहा—'भगवन्! आप साक्षात् ईश्वर हैं। आप शरीरधारी नारायण हैं, मुझ संसारी-गर्तमें फँसे हुए जीवका उद्धार कीजिये। आप मुझे इस तरहसे न बहकाइये। आप मुझे वचन दे चुके हैं, उस वचनका पालन कीजिये। मनुष्यकी आयु क्षणभंगुर है। पचास वर्ष किसने देखे हैं। आप सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, आप मुझे संसार-बन्धनसे मुक्त कर दीजिये।'

भारतीजी प्रभुकी बातका कुछ भी उत्तर न दे सके। वे थोड़ी देरके लिये चुप हो गये। इतनेमें ही नित्यानन्दजी भी चन्द्रशेखर आचार्य आदि भक्तोंके सहित भारतीजीके आश्रमपर आ पहुँचे। उन्होंने एक ओर घुटनोंमें सिर दिये हुए प्रभुको बैठे देखा। प्रभुको देखते ही वे लोग प्रेमके कारण अधीर हो उठे। सभीने भारतीजीको तथा प्रभुको श्रद्धा-भक्ति-सहित प्रणाम किया और वे भी प्रभुके पीछे एक ओर बैठ गये। श्रीपाद नित्यानन्दजीको देखकर प्रभु कहने लगे—'श्रीपाद! आप अच्छे आ गये। आचार्यके बिना संस्कारोंके कार्योंको कौन कराता। आपके आनेसे ही सम्पूर्ण कार्य भलीभाँति सम्पन्न हो सकेंगे।' नित्यानन्दजीने प्रभुकी बातका कुछ उत्तर नहीं दिया। वे नीचेको दृष्टि किये चुपचाप बैठे रहे।

इतनेमें ही ग्रामके दश-पाँच आदमी भारतीजीके आश्रममें आ गये। उन्होंने देखा एक देव-तुल्य परम सुकुमार युवक एक ओर संन्यासी बननेके लिये बैठा है, उसके आसपास कई भद्रपुरुष बैठे हुए आँसू बहा रहे हैं, सामने शोकसागरमें डूबे हुए-से भारती कुछ सोच रहे हैं।

महाप्रभुके उस अद्भुत रूप-लावण्यको देखकर ग्रामवासी भौंचक्के-से रह गये। उन्होंने मनुष्य-शरीरमें ऐसा अलौकिक रूप और इतना भारी तेज आजतक देखा ही नहीं था। बात-की-बातमें यह बात आसपासके सभी ग्रामोंमें फैल गयी। प्रभुके रूप, लावण्य और तेजकी ख्याति सुनकर दूर-दूरसे लोग उनके दर्शनोंके लिये आने लगे। कटवा-ग्रामके तो स्त्री-पुरुष, बूढ़े-जवान तथा बाल-बच्चे सभी भारतीके आश्रमपर आकर एकत्रित हो गये। जो स्त्रियाँ कभी भी घरसे बाहर नहीं निकलती थीं वे भी प्रभुके देवदुर्लभ दर्शनोंकी अभिलाषासे सब कुछ छोड़छाड़कर भारतीजीके आश्रमपर आ गयीं।

प्रभु एक ओर चुपचाप बैठे हुए थे। उनके काले-काले घुँघराले बाल बिना किसी नियमके स्वाभाविक रूपसे इधर-उधर छिटके हुए थे। वे अपनी स्वाभाविक दशामें प्रभुके मुखकी शोभाको और भी अत्यधिक आलोकमय बना रहे थे। प्रभुकी दोनों आँखें ऊपर चढ़ी हुई थीं। शरीरके गीले वस्त्र शरीरपर ही सूख गये थे। वे अपने एक घोंटूपर सिर रखे ऊर्ध्व-दृष्टिसे आकाशकी ओर निहार रहे थे। उनकी दोनों आँखोंकी कोरोंमेंसे निरन्तर अश्रु बह रहे थे। पीछे नित्यानन्द आदि भक्त भी चुपचाप बैठे हुए अश्रु विमोचन कर रहे थे।

नगरकी स्त्रियोंने महाप्रभुके रूपको देखा। वे उनके रूप-लावण्यको देखते ही बावली-सी हो गयीं और परस्परमें शोक प्रकट करते हुए कहने लगीं—'हाय! इनकी माता कैसे जीवित रही होगी। जिसका सर्वगुण-सम्पन्न इतना सुन्दर और सुशील इकलौता पुत्र घरसे संन्यासी होनेके लिये चला आया हो वह जननी किस प्रकार प्राण धारण कर सकती है। जब अपरिचित होनेपर हमारा ही हृदय फटा जा रहा है, तब जिसने इन्हें नौ महीने गर्भमें धारण किया होगा, उसकी तो वेदनाका अनुमान

लगाया ही नहीं जा सकता। हाय! विधाताको धिक्कार है, जो ऐसा अद्भुत रूप देकर इनकी ऐसी मति बना दी। हाय! इनकी युवती स्त्रीकी क्या दशा हुई होगी।'

वृद्धा स्त्रियाँ इनको इस प्रकार आँसू बहाते देखकर इनके समीप जाकर कहतीं—'बेटा, तुझे यह क्या सूझी है, तेरी माँकी क्या दशा होगी। तेरी दशा देखकर हमारा हृदय फटा जाता है। तू अपने घरको लौट जा। संन्यासी होनेमें क्या रखा है। जाकर माता-पिताकी सेवा कर।'

युवती स्त्रियाँ रोते-रोते कहतीं—'हाय, इनकी स्त्रीके ऊपर तो आज बज्र ही टूट पड़ा होगा। जिसका त्रैलोक्य-सुन्दर पति युवावस्थामें उसे छोड़कर संन्यासी बननेके लिये चला आया हो उस दुःखिनी नारीके दुःखको कौन समझ सकता है। पति ही कुलवती स्त्रियोंके लिये एकमात्र आधार और आश्रय है। वह निराधार और निराश्रया युवती क्या सोच रही होगी। क्या कह-कहकर रुदन कर रही होगी।' कोई-कोई साहस करके कहतीं—'अजी, तुम अपने घरको चले जाओ, हम तुम्हारे पैर छूती हैं। तुम्हारी घरवालीकी दशाका अनुमान करके हमारी छाती फटी जाती है। तुम अभी चले जाओ।'

प्रभु उन स्त्रियोंकी बातें सुनते मुखमें तृण दबाकर तथा हाथ जोड़कर अत्यन्त ही दीन-भावसे कहते—'माताओ! तुम मुझे ऐसा आशीर्वाद दो कि मुझे कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति हो जाय। यह मनुष्य-जीवन क्षणभङ्गुर है। उसमें श्रीकृष्ण-भक्ति बड़ी दुर्लभ है। उससे भी दुर्लभ महात्मा और सत्पुरुषोंकी संगति है। महापुरुषोंकी संगतिसे ही जीवन सफल हो सकता है। मैं संन्यास ग्रहण करके वृन्दावनमें जाकर अपने प्यारे श्रीकृष्णको पा सकूँ, ऐसा आशीर्वाद दो।'

स्त्रियाँ इनकी ऐसी दृढ़तापूर्ण बातोंको सुनकर रोने लगतीं और इन्हें अपने निश्चयसे तनिक भी विचलित हुआ न देखकर मन-ही-मन पश्चात्ताप करती हुई अपने-अपने घरोंको लौट जातीं।

इसी प्रकार प्रभुको बैठे-ही-बैठे शाम हो गयी। किसीने भी अन्नका दाना मुखमें नहीं दिया था। सभी उसी तरह चुपचाप बैठे थे। भारती किंकर्तव्यविमूढ-से बने बैठे हुए थे। उन्हें प्रभुको संन्याससे निषेध करनेके लिये कोई युक्ति सूझती ही नहीं थी। बहुत देरतक सोचनेके पश्चात् एक बात उनकी समझमें आयी। उन्होंने सोचा—'इनके घरमें अकेली वृद्धा माता है, युवती स्त्री है, अवश्य ही ये उनसे बिना ही पूछे रात्रिमें उठकर चले आये हैं। इसलिये मैं इनसे कह दूँ, कि जबतक तुम अपने घरवालों-से अनुमति न ले आओगे, तबतक मैं संन्यास न दूँगा। इनकी माता तथा पत्नी संन्यासके लिये इन्हें अनुमति देने ही क्यों लगीं। सम्भव है इनके बहुत आग्रहपर वे सम्मति दे भी दें, तो जबतक ये सम्मति लेने घर जायँगे, तबतक मैं यहाँसे उठकर कहीं अन्यत्र चला जाऊँगा। भला, इतने सुकुमार शरीरवाले युवकोंको संन्यासकी दीक्षा देकर कौन संन्यासी लोगोंकी अप-कीर्तिका भाजन बन सकता है। इन काले-काले घुँघराले बालोंको कटवाते समय किस वीतरागी त्यागी संन्यासीका हृदय विदीर्ण न हो जायगा।' यह सब सोचकर भारतीजीने कहा—'पण्डित! मालूम पड़ता है, तुम अपनी माता तथा पत्नीसे बिना ही कहे रात्रिमें उठकर भाग आये हो। जबतक तुम उनसे आज्ञा लेकर न आओगे तबतक मैं तुम्हें संन्यास-दीक्षा नहीं दे सकता।'

प्रभुने कहा—'भगवन्! मैं माता तथा पत्नीकी अनुमति प्राप्त कर चुका हूँ।'

भारतीजीने कुछ विस्मयके साथ पूछा—'कब प्राप्त कर चुके हो?'

प्रभुने कहा—'बहुत दिन हुए तभी मैंने इस सम्बन्धकी सभी बातें बताकर उन्हें राजी कर लिया था और उनकी सम्मति लेकर ही मैं संन्यास ले रहा हूँ।'

भारतीजीने कहा—'इस तरहसे नहीं, बहुत दिनकी बातें तो भूलमें पड़ गयीं। आज तो तुम उनकी बिना ही सम्मतिके आये हो। उनकी सम्मतिके बिना मैं तुम्हें कभी भी संन्यासकी दीक्षा नहीं दूँगा।'

इतनी बातके सुनते ही प्रभु एकदम उठकर खड़े हो गये और यह कहते हुए कि—'अच्छा, लीजिये, मैं अभी उनकी सम्मति लेकर आता हूँ।' वे नवद्वीपकी ओर द्रुतगतिके साथ दौड़ने लगे। जब वे आश्रमसे थोड़ी दूर निकल गये तब भारतीजीने सोचा—'इनकी इच्छाके विरुद्ध करनेकी किसमें सामर्थ्य है। यदि इनकी ऐसी ही इच्छा है कि यह निर्दय काम मेरे ही द्वारा हो। यदि ये अपने लोक-विख्यात गुरुपदका सौभाग्य मुझे ही प्रदान करना चाहते हैं, तो मैं लाख बहाने बनाऊँ तो भी मुझे यह कार्य करना ही होगा। अच्छा जैसी नारायणकी इच्छा।' यह सोचकर उन्होंने प्रभुको आवाज दी—'पण्डित! पण्डित! लौट आओ। जैसा तुम कहोगे वैसा ही किया जायगा। तुम्हारी बातको टालनेकी किसमें सामर्थ्य है।'

इतना सुनते ही प्रभु उसी प्रकार जल्दीसे लौट आये। आकर उन्होंने भारतीजीके चरणोंमें फिरसे प्रणाम किया और मुकुन्दको कोई पद गानेके लिये कहा। मुकुन्द रुँधे हुए कण्ठसे बड़े ही करुणाके भावसे रोते-रोते पद गाने लगे। मुकुन्दके पदोंको सुनकर प्रभु श्रीकृष्ण-प्रेममें विभोर होकर रुदन करने लगे और मुकुन्द दत्तसे बार-बार कहने लगे—'हाँ, गाओ, गाओ। फिर क्या हुआ! अहा, राधिकाजीका वह अनुराग धन्य है।' इस प्रकार गायनके पश्चात् संकीर्तन आरम्भ हुआ। गाँवके

सैकड़ों मनुष्य आ-आकर संकीर्तनमें सम्मिलित होने लगे। गाँवसे मनुष्य खोल-करताल तथा झाँझ-मजीरा आदि बहुत-से वाद्योंको साथ ले आये थे। एक साथ बहुत-से वाद्य बजने लगे और सभी मिलकर—

हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

—इस पदका कीर्तन करने लगे। प्रभु भावावेशमें आकर संकीर्तनके मध्यमें दोनों हाथ ऊपर उठाकर नृत्य करने लगे। सभी ग्रामवासी प्रभुके उस अद्भुत नृत्यको देखकर मन्त्रमुग्ध-से हो गये। भारतीजीके शरीरमें भी प्रेमके सभी सात्त्विक भावोंका उदय होने लगा और वे भी आत्म-विस्मृत होकर पागलकी भाँति संकीर्तनमें नृत्य करने लगे। तब उन्हें प्रभुकी महिमाका पता चला। वे प्रेममें छक-से गये। इस प्रकार सम्पूर्ण रात्रि इसी प्रकार कथा-कीर्तन और भगवत्-चर्चामें ही व्यतीत हुई।

संन्यास-दीक्षा

> देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
> जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।
> पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
> वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः॥*
>
> (श्री० भाग० माहा० ४।७९)

वैराग्यमें कितना मजा है, इसे वही पुरुष जान सकता है, जिसके हृदयमें प्रभुके पादपद्मोंमें प्रीति होनेकी इच्छा उत्पन्न हो गयी हो, जिसे संसारी विषय-भोग काटनेके लिये दौड़ते हों . वही वैराग्यमें महान् सुखका अनुभव कर सकता है। जिसकी इन्द्रियाँ सदा विषय-भोगोंकी ही इच्छा करती रहती हों, जिसका मन सदा संसारी पदार्थोंका ही चिन्तन करता रहता हो, वह भला वैराग्यके सुखको समझ ही क्या सकता है। मन जब संसारी भोगोंसे विरक्त होकर सदा महान् त्यागके लिये तड़पता रहे, जिसका वैराग्य पानीके बुद्बुदोंके समान क्षणिक न होकर स्थायी हो वही त्यागके असली सुखका अनुभव करनेका सर्वोत्तम अधिकारी है। जो जोशमें आकर क्षणिक वैराग्यके कारण त्याग-पथका अनुसरण करने लगते हैं, उनका अन्तमें पतन हो जाता है, इसीलिये तो कहा है—'त्याग वैराग्यके बिना टिक ही नहीं सकता। इसलिये जो वैराग्य-राग-रसिक नहीं बना वह

---

*अस्थि, मांस और रुधिर आदि पदार्थोंसे बने हुए इस शरीरके प्रति अहंताको त्याग दो, स्त्री-पुत्र तथा कुटुम्ब-परिवारवालोंमें ममता मत रक्खो। इस क्षणभङ्गुर असार संसारकी वास्तविक स्थितिको समझते हुए वैराग्यसे प्रेम करनेवाले बन सदा भक्तिनिष्ठ होकर ही जीवनको बिताओ।

भगवत्-राग-रसका पूर्ण रसिया भक्तिनिष्ठ भागवत बन ही नहीं सकता। हृदय त्यागके लिये इस प्रकार अकुलाता रहे, जिस प्रकार जलमें बहुत देर डुबकी लगाये रहनेपर प्राण श्वास लेनेके लिये अकुलाने लगते हैं।

महाप्रभुको संन्यास-दीक्षा देनेके लिये भारती महाराज राजी हो गये। यह देखकर प्रभुकी प्रसन्नताका पारावार नहीं रहा। वे प्रेममें बेसुध बने हुए सम्पूर्ण रात्रि भगवन्नामका कीर्तन करते रहे और आनन्दके उल्लासमें आसनसे उठ-उठकर पागलकी तरह नृत्य करते रहे। जिस प्रकार नवागत वधूसे मिलनेके लिये अनुरागी युवक बेचैनीके साथ रात्रि होनेकी प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार महाप्रभु संन्यास-धर्ममें दीक्षित होनेके लिये उस रात्रिके अन्त होनेकी प्रतीक्षा करते रहे। उस रात्रिमें प्रभुको क्षणभरके लिये भी निद्रा नहीं आयी। निरन्तर संकीर्तन करते रहनेके कारण प्रभुके नेत्र कुछ आप-से-आप ही मुँदने-से लगे, इतनेमें ही आम्रकी डालोंपर बैठे हुए पक्षियोंने अपने कोमल कण्ठोंसे भाँति-भाँतिके स्वरोंमें गायन आरम्भ किया। मानो वे महाप्रभुके संन्यास ग्रहण करनेके उपलक्ष्यमें पहलेसे ही मंगलाचरण कर रहे हों।

पक्षियोंके कलरवको सुनकर प्रभुकी तन्द्रा दूर हुई और वे आसनपरसे उठकर बैठ गये। पासमें ही बेसुध पड़े हुए आचार्यरत्न, नित्यानन्द आदिको प्रभुने जगाया। सबके जग जानेपर प्रभु नित्यकर्मोंसे निवृत्त हुए। गंगाजीमें स्नान करनेके निमित्त अपने सभी साथियोंके सहित प्रभुने अपने भावी गुरुदेवके चरण-कमलोंमें प्रणाम किया और बड़ी ही नम्रतासे दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए उनसे निवेदन किया—'भगवन्! मैं उपस्थित हूँ, अब आज्ञा दीजिये मुझे क्या-क्या करना होगा।'

कुछ विवशता-सी प्रकट करते हुए भारतीजीने कहा—'अब संन्यास-दीक्षाके निमित्त जिन-जिन सामग्रियोंकी आवश्यकता हो, उन्हें

एकत्रित करना चाहिये। इसका प्रबन्ध मैं अभी किये देता हूँ।' यह कहकर उन्होंने एक आदमीको सब सामान लानेके निमित्त कटवा-के लिये भेजा।

कण्टक-नगर-निवासी नर-नारियोंको कलतक यही पता था कि भारतीजी उस युवकको संन्यास-दीक्षा देनेके लिये कभी सहमत न होंगे, किन्तु आज जब प्रातः-ही उन लोगोंने यह समाचार सुना कि भारती तो उस ब्राह्मण युवकको संन्यासी बनानेके लिये राजी हो गये और आज ही उसे शिखा-सूत्रसे रहित करके द्वार-द्वारसे भिक्षा माँगनेवाला गृह-त्यागी विरागी बना देंगे, तब तो उनके दुःखका ठिकाना नहीं रहा। न जाने उन ग्राम-वासियोंको प्रभुके प्रति दर्शनमात्रसे ही क्यों ममता हो गयी थी। वे सभी प्रभुको अपना घरका-सा सगा सम्बन्धी ही समझने लगे। बात-की-बातमें बहुत-से स्त्री-पुरुष आश्रममें आकर एकत्रित हो गये। स्त्रियाँ एक ओर खड़ी होकर आँसू बहा रही थीं। पुरुष आपसमें मिलकर भाँति-भाँतिकी बातें कर रहे थे।

कोई तो कहता—'अजी, इस युवकको ही समझाना चाहिये। जैसे बने, समझा-बुझाकर इसे इसकी माताके समीप पहुँचा आना चाहिये।' इसपर दूसरा कहता—'वह समझे तब तो समझावें। जब उसके सगे-सम्बन्धी ही उसे नहीं समझा सके, तो हम-तुम तो भला समझा ही क्या सकते हैं।'

इतनेहीमें एक बूढ़ा बोल उठा—'अजी, हम सब इतने आदमी हैं, संन्यासका कार्य ही न होने देंगे, बस निबट गया किस्सा।'

इसपर किसी विचारवान्ने कहा—'भाई! यह कैसे हो सकता है। हम ऐसे शुभ काममें जबरदस्ती कैसे कर सकते हैं। ऐसे पुण्य-कामोंमें

यदि कुछ सहायता न बन सके तो इस तरह विघ्न करना तो ठीक नहीं है। हमलोग मुँहसे ही समझा सकते हैं। जबरदस्ती करना हमारा धर्म नहीं।'

इसपर एक उद्धत स्वभावका युवक जोरोंसे बोल उठा—'अजी, धर्म गया ऐसी-तैसीमें। ऐसे धर्ममें तो तेल डालकर आग लगा देनी चाहिये। बने हैं, कहींके धर्मात्मा। यदि ऐसी ही बात है, तो तुम ही क्यों नहीं संन्यास ले लेते। क्यों दिनभर यह ला, वह ला, इसे रख उसे उठा करते रहते हो।'

'औरोंको बुढ़िया सिख-बुधि देय, अपनी खाट भीतरी लेय'

'तुम अपने बेटा-बेटियोंको छोड़कर संन्यासी हो जाओ तब तो हम भी जानें।' इतना कहकर वह लोगोंकी ओर देखता हुआ उसी आवेशके साथ कहने लगा—'देखो भाई, इन्हें बकने दो, इनकी तो बुद्धि सठिया गयी है। भला, जिसके घरमें युवती स्त्री हो, दूसरी सन्तानसे रहित बूढ़ी विधवा माता हो, ऐसे चौबीस वर्षके नवयुवकको घर-घरका भिखारी बना देना किस धर्म-शास्त्रमें लिखा होगा। यदि किसीमें लिखा भी हो तो बाबा! हम ऐसे धर्म-शास्त्रको दूरसे ही दण्डवत् करते हैं। ऐसा धर्म-शास्त्र इन बाबाको ही मुबारक हो। ये अपने बड़े लड़केको संन्यासी बना दें या इनकी अवस्था है, ये ही बन जायँ। हम अपनी आँखोंके सामने तो इस ब्राह्मण-कुमारको शिखा-सूत्र त्यागकर गेरुए रंगके वस्त्र न पहनने देंगे। भारती महाराज यदि सीधी तरह मान जायँ तब तो ठीक ही है, नहीं तो भारतीजीका गला दबाकर तो मैं इन्हें गाँवसे बाहर कर आऊँगा और आपलोग नावमें बिठाकर इस युवकको इसके घरपर पहुँचा आवें। भारतीको मना लेनेका ठेका तो मैं अपने जिम्मे लेता हूँ।'

उस युवककी ऐसी जोशपूर्ण बातें सुनकर सुननेवालोंमेंसे बहुतोंको जोश आ गया और वे 'ठीक है, ठीक है, ऐसा ही करना चाहिये।' ऐसा

कह-कहकर उसकी बातोंका समर्थन करने लगे। इसपर उसी विचारवान् वृद्धने कहा—'भाई, ऐसा करनेसे काम न चलेगा। यदि हम अपनी कमजोरीसे धर्म न कर सकें तो क्या उसे दूसरोंको भी न करने दें। यदि अपने भाग्य-दोषसे हम नकटे हीं तो दूसरेकी नाकको भी न देख सकें। ये सब जोशकी बातें हैं। हमलोग इतना ही कर सकते हैं कि भारतीजीको समझा-बुझाकर दीक्षा देनेसे रोक दें।' वृद्धकी यह बात सबको पसन्द आयी और सभी मिलकर भारतीजीके पास पहुँचे। सभी भारतीजीको प्रणाम करके बैठ गये। दूसरी ओर महाप्रभु नीचेको सिर किये हुए बैठे थे, उनके समीपमें ही चन्द्रशेखर आचार्य तथा नित्यानन्द-जी आदि एक पुरानी-सी फटी चटाईपर बैठे थे। भारतीके समीप बैठकर लोग परस्पर एक-दूसरेके मुखकी ओर देखने लगे। सब लोगोंके अभिप्रायको जानकर उसी विचारवान् वृद्ध पुरुषने हाथ जोड़े हुए कहा—'स्वामीजी महाराज! हमलोग आपसे कुछ निवेदन करना चाहते हैं।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए जल्दीसे भारतीजी महाराज बोल उठे—'हाँ, हाँ, कहो, जरूर कहो। जो कहना चाहते हो, निस्संकोच-भावसे कह डालो।'

वृद्धने कहा—'महाराज, आप सब कुछ जानते हैं, आपसे कोई बात छिपी थोड़े ही है। हमें इन ब्राह्मण-कुमारके ऊपर बड़ी दया आ रही है। इनकी घरमें वृद्धा माता है, युवती स्त्री है, घरपर दूसरा कोई आदमी नहीं। उनके निर्वाहके लिये कोई बँधी हुई वृत्ति नहीं। इनकी स्त्रीके अभीतक कोई सन्तान नहीं। ऐसी अवस्थामें भी ये आवेशमें आकर संन्यास ले रहे हैं, इससे हम सबोंको बड़ा दुःख हो रहा है। ये सभी बातें हमने इनके सम्बन्धियोंके ही मुखसे सुनी हैं। आपसे भी ये

बातें छिपी न होंगी। इसलिये हमारी यही प्रार्थना है, कि ये चाहे कितना भी आग्रह करें आप इन्हें संन्यास-दीक्षा कभी न दें।'

उन सब लोगोंकी बातें सुनकर भारतीजीने बड़े ही दुःखके साथ विवशता-सी प्रकट करते हुए कहा—'भाइयो! तुमने जितनी बातें कही हैं, वे सब मुझे पहलेसे ही मालूम हैं। मैं स्वयं इन्हें संन्यास देनेके पक्षमें नहीं हूँ और न मैं अपनी राजीसे इन्हें दीक्षा दे रहा हूँ। एक तो इनकी इच्छाको टाल देनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं। दूसरे इन्हें कोई धर्मका तत्त्व समझा ही नहीं सकता। ये स्वयं बड़े भारी पण्डित हैं, यदि कोई मूर्ख होता, तो आपलोग सन्देह भी कर सकते थे कि मैंने बहका दिया हो। ये धर्माधर्मके तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं। गृहस्थीमें रहते हुए भी वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए ये वेदोंमें बताये हुए कर्मोंके द्वारा अपने धर्मका आचरण कर सकते हैं। किन्तु अब तो ये महात्यागकी दीक्षाके ही लिये तुले हुए हैं। मेरी शक्तिके बाहरकी बात है। हाँ, आपलोग स्वयं इन्हें समझावें, यदि ये आपलोगोंकी बात मानकर घर लौटनेको राजी हो जायँगे तो मुझे बड़ी भारी प्रसन्नता होगी। आपलोग इस बातको तो हृदयसे निकाल ही दीजिये कि मैं स्वयं इन्हें दीक्षा दे रहा हूँ। यह देखो, इनके सामने जो ये आचार्य बैठे हुए हैं ये इनके पिताके समान सगे मौसा होते हैं, जब ये ही इन्हें न समझा सके और उलटे इनकी आज्ञानुसार सभी संन्यासके कर्मोंको करानेके लिये तैयार बैठे हैं, तो फिर मेरी-तुम्हारी तो सामर्थ्य ही क्या है?'

भारतीजीके मुखसे ऐसी युक्तियुक्त बातें सुनकर सभी प्रभुके मुखकी ओर कातर-दृष्टिसे निहारने लगे। बहुत-से पुरुष तो प्रभुकी ऐसी दशा देखकर रो रहे थे। प्रभुने उन सभी ग्राम-वासियोंको अपने स्नेहके कारण दुखी देखकर बड़ी ही कातर-वाणीमें कहा—'भाइयो, आप मेरे आत्मीय हैं,

सखा हैं, बन्धु हैं। आपका मेरे ऊपर इतना अधिक स्नेह है, यह सोचकर मेरा हृदय गद्‌गद हो उठा है। आपलोग जो कह रहे हैं, उन सभी बातोंको मैं स्वयं समझ रहा हूँ, किन्तु भाइयो! मैं मजबूर हूँ, मैं अब अपने वशमें नहीं हूँ। श्रीकृष्ण मुझे पकड़कर ले आये हैं। आप सभी भाई ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने प्यारे श्रीकृष्णको पा सकूँ। मैं वृन्दावनमें जाऊँगा, व्रज-वासियोंके घरोंसे टुकड़े माँगकर खाऊँगा। वृन्दावनके बाहर कदम्बके वृक्षोंके नीचे वास करूँगा। यमुनाजीका सुन्दर श्याम रंगवाला स्वच्छ जल पीऊँगा और अहर्निश श्रीकृष्णके सुमधुर नामोंका संकीर्तन करूँगा। जबतक मेरे प्राणप्यारे श्रीकृष्ण न मिलेंगे तबतक मैं सुखी नहीं हो सकता। मुझे शान्ति नहीं मिल सकती। श्रीकृष्ण-विरहमें मेरा हृदय जल रहा है, वह श्रीकृष्णके सुन्दर, शीतल सम्मिलन-सुखसे ही शान्त हो सकेगा। आप सभी एक बार हृदयसे मुझे आशीर्वाद दें।' यह कहते-कहते प्रभु जोरोंसे भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करते-करते बड़े ही करुण स्वरसे क्रन्दन करने लगे। सभी मनुष्य मन्त्रमुग्ध-से बन गये। आगे और किसीको कुछ कहनेका साहस ही नहीं हुआ।

जब लोगोंने देखा कि महाप्रभु किसी प्रकार भी विना संन्यास लिये नहीं मानेंगे, तो सभीने उनके इस शुभ काममें सहायता करनेका निश्चय किया। भारतीजीसे पूछकर कोई तो आस-पासके संन्यासियोंको बुलाने चला गया। कोई पूजनकी सामग्रीके ही लिये दौड़ा गया। कोई जल्दीसे केला और आम्र-पल्लव ही ले आया। कोई दूधकी हाँड़ी ही उठा लाया। कोई बहुत-सी मिठाई ही ले आया। इस प्रकार बात-की-बातमें ही भारतीजीका सम्पूर्ण आश्रम खाद्य पदार्थोंसे तथा पूजनकी सामग्रीसे भर गया। जिसके घरमें जो भी चीज थी, वह उसीको लेकर आश्रमपर आ पहुँचा। एक ओर हलवाई भण्डारेके लिये भोज्य पदार्थ बनाने लगा और दूसरी ओर
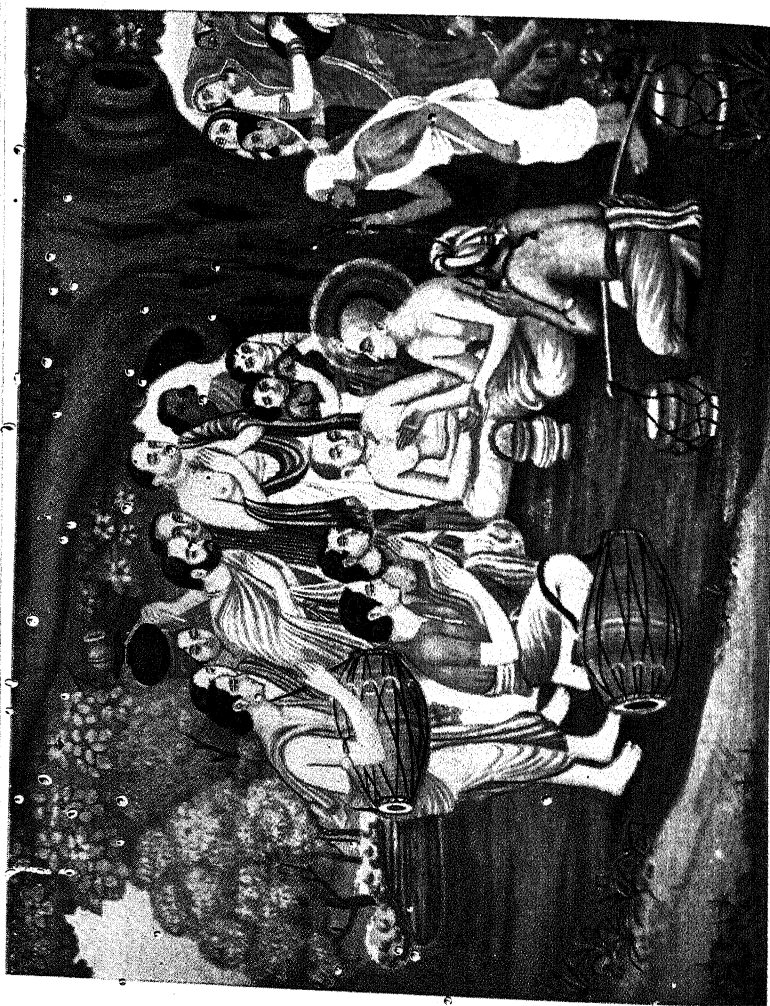
संन्यासी और पण्डित मिलकर संन्यासकी दीक्षाके निमित्त वेदी आदि बनाने लगे।

आश्रमके सामने आम्रके सुन्दर बगीचेमें हवनकी वेदियाँ बनायी गयीं। वे रोली, हल्दी, चूना तथा लाल, पीले, हरे आदि विविध प्रकारके रंगोंसे चित्रित की गयीं। स्थान-स्थानपर कदली-स्तम्भ गाड़े गये। प्रभुने सभी कर्म करनेके निमित्त पं० चन्द्रशेखर आचार्यरत्नको अपना प्रतिनिधि बनाया। आचार्यरत्नने डबडबाई आँखोंसे बड़े ही कष्टके साथ विवश होकर प्रभुकी इस कठोर आज्ञाका भी पालन किया। महाप्रभुने गंगाजीमें स्नान करके पहले देवता और ऋषियोंको तृप्त किया फिर अपने पितरोंको शास्त्र-मर्यादाके अनुसार श्राद्ध-तर्पणद्वारा सन्तुष्ट किया। प्रभुने प्रत्यक्ष देखा कि पितृलोकसे उनके पिता-पितामह आदि पूर्वजोंने स्वयं आकर उनके दिये हुए पिण्डोंको ग्रहण किया और प्रसन्नता प्रकट करते हुए उन्हें आशीर्वाद दिया।

वेदीके चारों ओर सुन्दर-सुन्दर अनेकों याग-वृक्षोंकी समिधाएँ, भाँति-भाँतिके सुगन्धित पुष्प, मालाएँ, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, पुङ्गीफल, नारिकेल, ताम्बूल, कई प्रकारके मेवे, तिल, जौ, चावल, घृत आदि हवनकी सामग्री, कुश, दूर्वा, घट, सकोरे आदि सभी सामान फैले हुए रखे थे। वेदीको घेरे हुए बहुत-से ऋत्विज् ब्राह्मण और संन्यासी बैठे हुए थे। इतनेमें ही एक आदमी हरिदास नामके नापितको साथ लिये हुए आश्रमपर आ पहुँचा। हरिदासको देखते ही भारतीजी जल्दीसे कहने लगे—'बड़ा अतिकाल हो गया है, अभी बहुत-सा कृत्य शेष है, आप जल्दीसे क्षौर करा लीजिये।'

प्रभु वेदीके निकटसे उठकर एक ओर चटाईपर क्षौर करानेके लिये बैठे। हरिदास नापित भी पासमें ही अपनी पेटीको रखकर बैठ गया। हरिदास वैसे तो जातिका नापित था, किन्तु उसका कटवा ग्राममें बड़ा

भारी प्रभाव था। वह पहलेसे ही भगवत्-भक्त था और सभी नाइयोंका पञ्च था। नाइयोंकी बड़ी-बड़ी पञ्चायतोंमें उसे ही निर्णय करनेके लिये बुलाया जाता और सभी लोग उसकी बातोंको मानते थे।

नापितने पहले तो एक बार सजे हुए सम्पूर्ण आश्रमकी ओर देखा। फिर संन्यासी और ब्राह्मणोंसे घिरी हुई वेदीकी ओर उसने दृष्टि डाली और फिर बड़े ही ध्यानसे महाप्रभुके मुख-कमलकी ओर निहारने लगा। महाप्रभुके दर्शनसे उसकी तृप्ति ही नहीं होती थी, वह ज्यों-ज्यों प्रभुकी मनोहर मूर्तिको देखता त्यों-ही-त्यों उसका हृदय प्रभुकी ओर अत्यधिक आकर्षित होता जाता था। थोड़ी देरतक वह इसी प्रकार टकटकी लगाये अविचलभावसे प्रभुके श्रीमुखकी ओर निहारता रहा। जब प्रभुने देखा यह तो काठकी मूर्ति ही बन गया तब आप उसे सम्बोधन करके बोले—'भाई, देर क्यों करते हो ? विलम्ब हो रहा है। जल्दी कार्य करो।'

नापितने कुछ अन्यमनस्क भावसे कहा—'क्या करूँ महाराज ?'

प्रभुने कहा—'क्षौर करो और क्या करते, इसीलिये तो तुम्हें बुलाया है ?'

नापितने कहा—'आपके बाल तो बहुत बड़े-बड़े हैं; मालूम पड़ता है आप तो बालोंको बनवाते ही नहीं ?'

प्रभुने कहा—'यह तो ठीक है, किन्तु संन्यासके समय सम्पूर्ण बालोंको बनवानेका शास्त्रीय विधान है ?'

नापितने कहा—'तो महाराजजी ! साफ बात है, आप चाहे बुरा मानिये या भला। मुझसे यह निर्दय काम कभी न होगा। आप आज्ञा करें तो मैं अपने छुरेसे अपने प्रिय पुत्रका वध कर सकता हूँ किन्तु इन काले-काले,घुँघराले बालोंको काटनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं। प्रभो ! इन रेशमके-से लच्छेदार केशोंके ऊपर मेरा छुरा नहीं चलेगा। वह फिसल जायगा। यह काम मेरी शक्तिसे बाहर है। कटवा आममें और भी

बहुत-से नाई रहते हैं उनमेंसे किसीको बुला लीजिये। मुझसे इस काम-की स्वप्नमें भी आशा न रखिये।'

प्रभुने अधीरता प्रकट करते हुए कहा—'हरिदास! तुम मेरे इस शुभ कार्यमें रोड़े मत अटकाओ। मैं श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये व्याकुल हो रहा हूँ, तुम मेरे इस काममें सहायक बनकर अक्षय सुखके भागी बनो। मेरे इस काममें सहायता करनेसे तुम्हारा कल्याण होगा। भगवान् तुम्हें यथेच्छ धन-सम्पत्ति प्रदान करेंगे और मेरे आशीर्वादसे तुम सदा सुखी बने रहोगे।'

हरिदास नापितने सूखी हँसी हँसकर कहा—'धन तो मेरे है नहीं, सन्तान चाहे मेरी आज ही मर जायँ और मेरे सम्पूर्ण शरीरमें चाहे गलित कुष्ठ ही क्यों न हो जाय। प्रभो! मुझसे यह काम नहीं होनेका। धन, सम्पत्ति और स्वर्गका लोभ देकर आप किसी औरको बहका सकते हैं, मुझे इनकी इच्छा नहीं। आप नगरसे दूसरा नापित बुला क्यों नहीं लेते?'

प्रभुने कहा—'हरिदास! बिना मुण्डन-संस्कारके संन्यास-कर्म सम्पन्न ही नहीं हो सकता। संन्यास-कर्ममें तुम्हीं तो एक प्रधान साक्षी हो। तुम मुझ दीन-हीन दुखी कंगालपर दया क्यों नहीं करते? मेरे प्राण श्री-कृष्णके लिये तड़प रहे हैं। तुम इस प्रकार मुझे निराश कर रहे हो। भैया! देखो, मैं अपनी धर्मपत्नीसे अनुमति ले आया हूँ, मेरी माताने मुझे संन्यासी होनेकी आज्ञा दे दी है। मेरे पितृतुल्य पूज्य मौसा आचार्यरत्न स्वयं अपने हाथोंसे संन्यासके कृत्य करा रहे हैं। पूज्यपाद गुरुवर भारतीजीने भी मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली है। अब तुम क्यों मेरे इस शुभ कार्यमें विघ्न उपस्थित करते हो? तुम मुझे संन्यासी होनेसे क्यों रोकते हो?'

नापितने कहा—'प्रभो! मैं आपको कब रोकता हूँ। आप भले ही संन्यासी बने जाइये, किन्तु मेरा कथन इतना ही है, कि मुझसे यह पाप-कर्म नहीं हो सकता। किसी दूसरे नापितसे आप करा सकते हैं।'

प्रभुने कहा—'यह बात नहीं है। हरिदास ! यह काम तुम्हारे ही द्वारा होगा। तुम्हें जो भय हो उसे मुझसे कहो।'

आँखोंमें आँसू भरे हुए नापितने कहा—'सबसे बड़ा भय तो मुझे इन इतने सुन्दर घुँघराले बालोंको सिरसे पृथक् करनेमें ही हो रहा है। दूसरे मैं इसमें अपने धर्मकी भी प्रत्यक्ष क्षति देख रहा हूँ। जिस छुरेसे आपके पवित्र बालोंका मुण्डन करूँगा, उसे ही फिर सर्वसाधारण लोगोंके सिरोंसे कैसे छुवाऊँगा ? जिस हाथसे आपके सिरका स्पर्श करूँगा, उससे फिर सब किसीकी खोपड़ी नहीं छू सकता। बाल बनाकर ही मैं अपने परिवारका भरण-पोषण करता हूँ, फिर मेरा काम किस प्रकार चलेगा ?'

प्रभुने कहा—'हरिदास ! तुम आजसे इस नापितपनेके कार्यको छोड़कर और कोई दूसरा छोटा-मोटा रोजगार कर लेना। मेरे इस संन्यासके प्रधान कार्यमें तुम्हें ही सहायक बनना पड़ेगा।'

अबतक तो नापित अपने आपको रोके हुए था, किन्तु अब उससे नहीं रहा गया। वह जोरोंके साथ रुदन करने लगा। रोते-रोते वह कहने लगा—'प्रभो ! आप यह तो मेरी गर्दनपर छुरी चला रहे हैं। हाय ! इन सुन्दर केशोंको मैं आपके सिरसे किस प्रकार अलग कर सकूँगा। प्रभो ! मुझे क्षमा कीजिये, मैं इस कामको करनेमें एकदम असमर्थ हूँ।'

प्रभुने जब देखा कि यह तो किसी भी तरहसे राजी नहीं होता, तब उन्होंने अपने ऐश्वर्यसे काम लिया और उसे क्षौर करनेके लिये आज्ञा देते हुए कहा—'हरिदास ! अब देर करनेका काम नहीं है, जल्दीसे क्षौर करो।'

हरिदास अब विवश था, उसने काँपते हुए हाथोंसे प्रभुके चिकने और घुँघराले बालोंको स्पर्श किया। वह अश्रु बहाता जाता था और क्षौर करता जाता था। कभी क्षौर करते-करते ही रुक जाता और जोरोंसे भगवन्-

नामोंको उच्चारण करता हुआ रोने लगता। जब प्रभु आग्रहपूर्वक उसे समझाते तब फिर करने लगता। थोड़ी देरके पश्चात् फिर उठकर नृत्य करने लगता। इस प्रकार क्षौर करते-करते कभी गाता, कभी नाचता, कभी रोता और कभी हँसता। इस प्रकार कहीं सायंकालतक वह महाप्रभुके क्षौर-कर्मको कर सका।

क्षौर-कर्म समाप्त हो जानेपर प्रभुने हरिदास नापितका प्रेमके सहित गाढालिंगन किया। प्रभुका आलिंगन पाते ही वह एकदम बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और बहुत देरतक वह चेतनाशून्य पुरुषकी भाँति पड़ा रहा। थोड़ी देरमें होश आनेपर वह उठा और उसने क्षौर करनेका अपना सभी सामान उसी समय कलिमलहारिणी भगवती भागीरथीके प्रवाहमें प्रवाहित कर दिया और जोरोंके साथ हरिध्वनि करने लगा। इस प्रकार थोड़ी देर ही प्रभुका संसर्ग होनेसे वह महाभागवत नापित सदाके लिये अमर बन गया। आज भी कटवाके निकट 'मधुमोदक' नामसे उन मुँड़े हुए केशोंकी और उस परम भाग्यशाली नापितकी समाधियाँ लोगों-को त्याग, वैराग्य और प्रेमका पाठ पढ़ाती हुई उस हरिदासके अपूर्व अनुरागकी घोषणा कर रही हैं। गौर-भक्त उन समाधियोंके दर्शनोंसे अपने नेत्रोंको सफल करते हैं और वहाँकी पावन धूलिको अपने मस्तकपर चढ़ाते हुए उस घटनाके स्मरणसे रोते-रोते पछाड़ खाकर गिर पड़ते हैं। धन्य है। तभी तो कहा है—

पारसमें अरु संतमें, संत अधिक कर मान।
वह लोहा सुबरन करे, वह करे आप समान॥

महाप्रभु गौराङ्गके गुणोंके साथ हरिदासकी अहैतुकी भक्ति भी अमर हो गयी। गौर-भक्तोंमें हरिदास भी पूज्य बन गया।
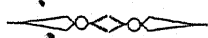
श्रीकृष्ण-चैतन्य

वैराग्यविद्यानिजभक्तियोग-
शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः ।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी
कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये ॥*

(चै० चन्द्रो० ना० ६ । ७४)

संन्यासके मानी हैं अग्निमय जीवन । पिछले जीवनकी सभी बातोंको ज्ञानाग्निमें जलाकर स्वयं अग्निमय बन जाना—यही इस महान् व्रतका आदर्श है । संसारकी एकदम उपेक्षा कर दो, जीवमात्रमें मैत्रीके भाव रखो और सम्पूर्ण संसारी सम्बन्धों और परिग्रहोंका परित्याग करके भगवन्नाम-निष्ठ होकर वैराग्यरागरसिक बन जाओ । संसारी सभी बातोंको हृदयसे निकालकर फेंक दो । सत्त्वगुणके स्वरूप सफेद वस्त्रोंका भी परित्याग कर दो और रज, तम, सत्त्वसे भी ऊपर उठकर त्रिगुणातीत बनकर महान्

---

* जिस पुराणपुरुषने जीवोंको अपनी अहैतुकी भक्ति और वैराग्य-विद्या आदि सिखानेके निमित्त 'श्रीकृष्ण-चैतन्य' नामवाला शरीर धारण किया है उन कृपाके सागर श्रीचैतन्यदेवकी हम शरणमें जाते हैं ।

सत्त्वमें सदा स्थिर रहो। इसीलिये संन्यासीके वस्त्र अग्निवर्णके होते हैं। क्योंकि उसने जीवित रहनेपर भी यह शरीर अग्निको सौंप दिया है। वह 'नारायण' के अतिरिक्त किसी दूसरेको देखता ही नहीं है। इसीलिये संन्यासके समय पूर्वाश्रमके नामको भी त्याग देते हैं और गुरुदत्त महाप्रकाशरूपी नवीन नामसे इस शरीरका संकेत करते हैं। वास्तवमें तो संन्यासी नामरूपसे रहित ही बन जाता है।

महाप्रभुका क्षौर-कर्म समाप्त हुआ। अब वे शिखासूत्रहीन हो गये। क्षौर हो जानेके पश्चात् प्रभुने सुरसरिके शीतल जलमें घुसकर स्नान किया और वस्त्र बदले हुए वे वेदीके समीप आ गये। हाथ जोड़े हुए अति दीनभावसे वे भारतीजीके सम्मुख बैठ गये। भारतीजीने विजयाहवन आदि सभी संन्यासोचित कर्म कराकर प्रभुको मन्त्र-दीक्षा देनेका विचार किया। हाथ जोड़े हुए विनीतभावसे प्रभुने संन्यास-मन्त्र ग्रहण करनेकी जिज्ञासा की। भारतीजीने इन्हें अपने समीप बैठ जानेके लिये कहा। गुरुदेवकी आज्ञानुसार प्रभु उनके समीप बैठ गये।

मन्त्र देनेमें भारतीजी कुछ आगा-पीछा-सा करने लगे। तब महाप्रभुने उत्सुकता प्रकट करते हुए पूछा—'भगवन्! मैंने ऐसा सुना है, कि संन्यासके मन्त्रको किसीके सामने कहना न चाहिये।'

भारतीजीने कहा—'हाँ, संन्यास-मन्त्रको शास्त्रोंमें परम गोप्य बताया गया है। गुरुजनोंके अतिरिक्त उसे हर-किसीके सामने प्रकाशित नहीं करते हैं।'

यह सुनकर प्रभुने कहा—'मुझे आपसे एक बात निवेदन करनी है, किन्तु वह गुप्त बात है, कानमें ही कह सकूँगा।'

भारतीजीने अपना दायाँ कान प्रभुकी ओर बढ़ाते हुए कहा—'हाँ हाँ, जरूर कहो। कौन-सी बात है?'

प्रभु अपना मुख भारतीजीके कानके समीप ले गये और धीरे-धीरे कहने लगे—'एक दिन मैंने स्वप्नमें एक ब्राह्मणको देखा था। वह भी संन्यासी ही थे और उनका रूप-रंग आपसे बहुत कुछ मिलता-जुलता था। स्वप्नमें ही उन्होंने मुझे संन्यासी बननेका आदेश दिया और स्वयं उन्होंने मेरे कानमें संन्यास-मन्त्र दिया। वह मन्त्र मुझे अभीतक ज्यों-का-त्यों याद है, आप उसे पहले सुन लें कि वह गलत है या ठीक।' यह कहकर प्रभुने भारतीजीके कानमें वही स्वप्नमें प्राप्त मन्त्र पढ़ दिया। मानो उन्होंने प्रकारान्तरसे भारतीजीको पहले स्वयं अपना शिष्य बना लिया हो। प्रभुके मुखसे यथावत् शुद्ध-शुद्ध संन्यास-मन्त्रको सुनकर भारतीजी कुछ आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए प्रेममें गद्‌गद-कण्ठसे कहने लगे—'जब तुम्हें श्रीकृष्ण-प्रेम प्राप्त है, तब फिर तुम्हारे लिये अगम्य विषय ही कौन-सा रह जाता है? कृष्ण-प्रेम ही तो सार है, जप-तप, पूजा-पाठ, वानप्रस्थ-संन्यस्त आदि धर्म सभी उसीकी प्राप्तिके लिये होते हैं। जिसे कृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति हो चुकी उसके लिये मन्त्र ग्रहण करना, दीक्षा आदि लेना केवल लोकशिक्षणार्थ है। तुम तो मर्यादा-रक्षाके लिये संन्यास ले रहे हो। इस बातको मैं खूब जानता हूँ। कृष्ण-कीर्तन तो तुम घरमें भी रहकर कर सकते थे, किन्तु यह दिखानेके लिये कि गृहस्थमें रहते हुए लौकिक तथा वैदिक कर्मोंको जिनका कि वेद-शास्त्रोंमें गृहस्थीके लिये विधान बताया गया है, अवश्य ही करते रहना चाहिये। तुम्हारे द्वारा अब वे स्मृतियोंमें कहे हुए धर्म नहीं हो सकते इसीलिये तुम संन्यास-धर्मका अनुसरण कर रहे हो। 'जबतक ज्ञानमें पूर्ण निष्ठा न हो, जबतक भगवत्-गुणोंमें भलीभाँति रति न हो तबतक स्मृतियोंमें ऋषियोंके बताये हुए धर्मोंका अवश्य ही पालन करते रहना चाहिये।' इसीलिये गृहस्थीमें रहकर तुमने वैदिक कर्मोंका यथावत् पालन किया और अब कर्म-परित्यागके साथ ही पूर्व आश्रमका

परित्याग कर रहे हो और संन्यास-धर्मके अनुसार सदा दण्ड धारण करके संन्यास-धर्मकी कठोरताको प्रदर्शित करोगे, तुम्हारे ये सभी काम लोक-शिक्षार्थ ही हैं।' इस प्रकार प्रभुकी भाँति-भाँतिसे स्तुति करके भारतीजी उन्हें मन्त्र-दीक्षा देनेके लिये तैयार हुए।

एक छोटे-से वस्त्रकी आड़ करके भारतीजीने प्रभुके कानमें संन्यास-मन्त्र कह दिया। बस, उस मन्त्रके सुनते ही प्रभु बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और हा कृष्ण! हा कृष्ण!! इस प्रकार जोरोंसे चिल्ला-चिल्लाकर क्रन्दन करने लगे। पासहीमें बैठे हुए नित्यानन्दजीने उन्हें सम्हाला और होशमें लानेकी चेष्टा की।

भारतीजीने प्रभुके सभी पुराने श्वेत वस्त्र उतरवा दिये थे और उन्हें अग्नि-वर्णके काषाय-वस्त्र पहननेके लिये दिये। एक बहिर्वास (ओढ़नेका वस्त्र), दो कौपीनें, एक भिक्षा माँगनेको वस्त्र, एक कन्था और एक कटि-वस्त्र—इतने कपड़े भारतीजीने प्रभुके लिये दिये। रक्त-वर्णके उन चमकीले वस्त्रोंको पहनकर प्रभुकी उस समय ऐसी शोभा हुई मानो शरद्कालमें सबके मनको हरनेवाले, शीतसे दुखी हुए लोगोंके दुखको दूर करते हुए अरुण रङ्गके बाल-सूर्य आकाशमें उदित हुए हों।

सुवर्ण-वर्णके उनके शरीरपर काषाय-रङ्गके वस्त्र बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। कन्धेपर कन्था पड़ा हुआ था, छोटा वस्त्र सिरसे बँधा हुआ था। एक हाथमें काठका कमण्डलु शोभा दे रहा था, दूसरे हाथसे अपने संन्यास-दण्डको लिये हुए थे और मुखसे 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' इस प्रकार कहते हुए अश्रु बहाते हुए खड़े थे। प्रभुके इस त्रैलोक्य-पावन सुन्दर स्वरूपको देखकर सभी उपस्थित दर्शकवृन्द अवाक्-से हो गये। उस समय सब-के-सब काठकी मूर्ति बने हुए बैठे थे। प्रभुके अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त श्रीविग्रहको देखकर सबका मन अपने-आप ही

प्रेमानन्दमें विभोर होकर नृत्य कर रहा था। सभीकी आँखोंसे प्रेमके अश्रु निकल रहे थे। प्रभु कुछ थोड़े झुककर खड़े हुए थे। भारतीजी सामने ही एक उच्चासनपर स्थिरभावसे गम्भीरतापूर्वक बैठे हुए थे।

उस समय यदि कोई जोरोंसे साँस भी लेता तो वह भी सुनायी पड़ता। मानो उस समय पक्षियोंने भी बोलना बन्द कर दिया हो और पवन भी रुककर प्रभुकी अद्भुत शोभाके वशीभूत होकर उनके रूप-लावण्यरूपी रसका पान कर रहा हो।

उस समय भारतीजी महाप्रभुके संन्यासके नामके सम्बन्धमें सोच रहे थे। वे प्रभुकी प्रकृतिके अनुसार अपने परमप्रिय शिष्यका सार्थक नाम रखना चाहते थे। उन्हें कोई सुन्दर-सा नाम सूझता ही नहीं था। उसी समय मानो साक्षात् सरस्वतीदेवीने उन्हें उनके इस काममें सहायता दी। सरस्वतीने उन्हें सुझाया कि इन्होंने श्रीकृष्ण-भक्ति-विहीन जीवोंको चैतन्यता प्रदान की है। जिस जीवनमें श्रीकृष्ण-भक्ति नहीं वह जीवन अचेतन है। इन्होंने भगवन्नामद्वारा अचेतन प्राणियोंको चेतन बनाया है, अतः इनका नाम 'श्रीकृष्ण-चैतन्य भारती' ठीक रहेगा।

भारतीजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे उस नीरवताको भंग करते हुए सब लोगोंको सुनाकर कहने लगे—'इन्होंने श्रीकृष्णके सुमधुर नामोंद्वारा लोगोंमें चैतन्यताका सञ्चार किया है और आगे भी करेंगे, अतः आजसे इनका नाम 'श्रीकृष्ण-चैतन्य' हुआ। भारती हमारी गुरुपरम्पराकी संज्ञा है, अतः संन्यासियोंमें ये दण्डी स्वामी श्रीकृष्णचैतन्य भारती कहे जायँगे। इतना सुनते ही प्रभु भावावेशमें आकर यह कहते हुए कि 'मैं तो अपने प्यारे श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये वृन्दावन जाऊँगा' दूसरी ओर भागने लगे। उस समय भागनेके कारण हिलता हुआ काषाय-वस्त्रकी ध्वजावाला दण्ड और काले रंगका कमण्डलु प्रभुके हाथोंमें बड़ा ही भला मालूम पड़ता था।

प्रभु जोरोंसे हरि-हरि पुकारते हुए भागने लगे। यह देखकर बहुत-से लोगों-ने आगे जाकर प्रभुका मार्ग रोक लिया। सामने अपने रास्तेमें लोगोंको खड़ा हुआ देखकर प्रभु रोते-रोते कहने लगे—'भाइयो! तुम मुझे श्रीवृन्दावनका रास्ता बता दो। मैं अपने प्यारे श्रीकृष्णके दर्शनोंके लिये बहुत ही अधिक व्याकुल हो रहा हूँ। मुझे जबतक श्रीकृष्णके दर्शन न होंगे, तबतक शान्ति नहीं मिलेगी। तुम सभी भाई मेरा रास्ता छोड़ दो और मुझे ऐसा आशीर्वाद दो कि मैं अपने प्राणप्यारे प्रियतमको पा सकूँ।'

नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो! आप पहले अपने पूज्य गुरुदेवके चरणोंमें प्रणाम तो कर आइये। फिर वे जिस प्रकारकी आज्ञा करें वही कीजियेगा। बिना गुरुकी आज्ञा लिये कहीं जाना ठीक नहीं है।' इतना सुनते ही प्रभु कुछ सोचने लगे और बिना ही कुछ उत्तर दिये चुपचाप आश्रमकी ओर लौट पड़े। और सब लोग भी प्रभुके पीछे-पीछे चले। आश्रममें पहुँचकर प्रभुने दण्डी संन्यासीकी विधिके अनुसार अपने गुरुदेव-के चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भारती महाराजका आदेश पाकर उन्होंने उस रात्रिमें वहीं गुरु-सेवा करते हुए निवास किया। संकीर्तनका रङ्ग आज कलसे भी बढ़कर रहा। इस प्रकार प्रभु संन्यास ग्रहण करके लोकशिक्षाके निमित्त गुरु-सेवाका माहात्म्य दिखाने लगे। प्रभुकी वह रात्रि भी श्रीकृष्ण-कीर्तन और भगवत्-चरित्रोंके चिन्तनमें ही व्यतीत हुई।

राढ़-देशमें उन्मत्त-भ्रमण

एतां समास्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥ *
(श्रीमद्भा० ११।२३।५८)

निशाका अन्त हुआ, पूर्व-दिशामें अरुणोदयकी लालिमा छा गयी, मानो प्रभुके लाल वस्त्रोंका प्रतिविम्ब पूर्व-दिशामें पड़ गया हो। भगवान् भुवनभास्कर नवीन संन्यासी श्रीकृष्ण-चैतन्यके दर्शनोंको उतावले-से प्रतीत होने लगे। वे आकाशमें द्रुतगतिसे गमन कर रहे थे। नित्य-कर्मसे निवृत्त होकर प्रभुने अपने गुरुदेवके चरणोंमें प्रणाम किया और उनसे वृन्दावन जानेकी आज्ञा माँगी। प्रेममें पागल हुए संन्यासीप्रवर भारती महाराज अपने नवीन शिष्यके वियोग-दुःखको स्मरण करके बड़े ही दुखी हुए, उनकी दोनों आँखोंमें आँसू भर आये। आँसुओंको पोंछते हुए भारतीजीने कहा—'कृष्ण-चैतन्य ! मैं समझता था, कुछ काल तुम्हारी संगतिमें रहकर मैं भी श्रीकृष्ण-प्रेम-रसामृतका पान कर सकूँगा, किन्तु तुम आज ही अन्यत्र जानेकी तैयारियाँ कर रहे हो, इससे मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। यद्यपि मैं गृहत्यागी वीतरागी संन्यासी कहलाता हूँ, तो भी न जाने क्यों तुम्हारे विछोहसे मेरा दिल धड़क रहा है और स्वाभाविक ही हृदयमें एक प्रकारकी बेचैनी-सी उत्पन्न हो

---

* पूर्वकालके बड़े-बड़े ऋषियोंद्वारा स्वीकार की हुई इस परात्मनिष्ठाको स्वीकार करके मैं मोक्षदाता श्रीहरिके चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा जिसका कि अन्त पाना अत्यन्त ही दुष्कर है, उस संसार-रूपी अन्धकारको भी मैं बात-की-बातमें तर जाऊँगा।

रही है। भैया ! तुम कुछ काल मेरे आश्रमपर रहो। फिर जहाँ भी कहीं चलना हो दोनों साथ-ही-साथ चलेंगे।'

दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए चैतन्यदेवने कहा—'गुरुदेव ! आपकी आज्ञा पालन करना तो मेरा सर्वप्रधान कर्तव्य है, किन्तु मैं करूँ क्या, मेरा मन श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये व्याकुल हो रहा है। अब मुझे श्रीकृष्णके बिना देखे चैन नहीं। आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मैं अपने प्यारे श्रीकृष्णको पा सकूँ और आपके चरण-कमलोंका सदा स्मरण करता रहूँ। अब तो मैं आज्ञा ही चाहता हूँ।'

प्रभुके प्रेम-पाशमें बँधे हुए भारतीजी कहने लगे—'यदि तुम नहीं मानते हो और जानेके ही लिये तुले हुए हो, तो चलो मैं भी तुम्हारे साथ कुछ दूरतक चलता हूँ।' यह कहकर भारतीजी भी अपना दण्ड-कमण्डलु लेकर साथ चलनेके लिये तैयार हो गये। प्रभु अपने गुरुदेव भारती महाराजको आगे करके पश्चिम-दिशाकी ओर चलने लगे और उनके पीछे चन्द्रशेखर आचार्यरत्न, नित्यानन्द, गदाधर और मुकुन्द आदि भक्त भी चलने लगे। आचार्यरत्नको अपने पीछे आते देखकर प्रभु अत्यन्त ही दीनभावसे उनसे कहने लगे—'आचार्यदेव ! आपने मेरे पीछे सदासे कष्ट ही उठाये हैं। मेरी प्रसन्नताके लिये आपने अपनी इच्छाके विरुद्ध भी बहुत-से कार्य किये हैं, मैं आपके ऋणसे जन्म-जन्मान्तरोंपर्यन्त उऋण नहीं हो सकता। आपसे मेरी यही प्रार्थना है, कि अब आप घरके लिये लौट जायँ।'

लौटनेका नाम सुनते ही आचार्यरत्न मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और रोते-रोते कहने लगे—'आपकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य करनेकी शक्ति ही किसमें है ! आप जिसे जो आज्ञा करेंगे, उसे वही करना होगा, किन्तु मेरी हार्दिक इच्छा थी, कि कुछ काल और प्रभुके सहवास-सुखसे अपने जीवनको कृतार्थ कर सकूँ।'

प्रभुने स्नेहके साथ बहुत ही सरलतापूर्वक कहा—'न, यह ठीक नहीं है। आज आपको घर छोड़े तीन-चार दिन होते हैं। घरपर बाल-बच्चे न जाने क्या सोच रहे होंगे, आप अब जायँ ही।'

अश्रु-विमोचन करते हुए प्रभुके पैरोंको पकड़कर आचार्य कहने लगे—'प्रभो ! मुझे भुलाइयेगा नहीं। नवद्वीपके नर-नारियोंको भी बड़ा सन्ताप है, उन्हें भी अपने दर्शनोंसे सुखी बनाइयेगा। मैं ऐसा भाग्यहीन निकला कि प्रभुकी कुछ भी सेवा न कर सका। नवद्वीपमें भी मैं सदा सेवासे वञ्चित ही रहा।'

अबतक प्रभु अपने अश्रुओंको बलपूर्वक रोके हुए थे। अब उनसे नहीं रहा गया। वे जोरोंसे रोते हुए कहने लगे—'आचार्यदेव ! आप सदासे पिताकी भाँति मेरी रेख-देख करते रहे हैं। मुझे अपने पिताका ठीक-ठीक होश नहीं। आपके ही द्वारा मैं सदा पितृ-सुखका अनुभव करता रहा हूँ। आप मेरे पितृ-तुल्य क्या पिता ही हैं। आप तो सदा ही मुझपर सगे पुत्रकी भाँति वात्सल्य-स्नेह रखते रहे हैं, किन्तु मैं ही ऐसा भाग्यहीन निकला, कि आपकी कुछ भी सेवा न कर सका। अब ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मैं शीघ्र-से-शीघ्र अपने प्राणप्यारे श्रीकृष्णको पा सकूँ। आप अब जायँ और अधिक देरी न करें।' यह कहकर प्रभुने अपने हाथोंसे भूमिमें पड़े हुए आचार्यको उठाया और उनका गाढालिंगन करते हुए प्रभु कहने लगे—'आप जाइये और माता तथा मेरे दुःखसे दुखी हुए सभी भक्तोंको सान्त्वना प्रदान कीजिये। मातासे कह दीजियेगा, मैं शीघ्र ही उनके चरणोंके दर्शन करूँगा।' प्रभुकी बात सुनकर दुखी मनसे आचार्यरत्नने प्रभुकी आज्ञाको शिरोधार्य किया और वे नवद्वीपके लिये लौट गये। और लोगोंने बहुत आग्रह करनेपर भी लौटना स्वीकार नहीं किया।

सबसे आगे भारतीजी चल रहे थे, उनके पीछे दण्ड-कमण्डलु धारण किये हुए महाप्रभु प्रेममें विभोर हुए नृत्य करते हुए जा रहे थे। उनके पीछे नित्यानन्द, गदाधर और मुकुन्द दत्त थे। प्रभु प्रेममें बेसुध होकर कभी तो हँसने लगते थे, कभी रुदन करने लगते थे और कभी-कभी जोरोंसे 'हा कृष्ण! ओ प्यारे!! रक्षा करो!!! कहाँ चले गये? मुझे विरह-सागरसे उबारो। मैं तुम्हारे लिये व्याकुल हो रहा हूँ।' इस प्रकार जोरोंसे चिल्लाकर क्रन्दन करने लगते थे। उनकी वाणीमें अत्यधिक करुणा थी। उनके रुदनको सुनकर पाषाणहृदय भी पसीज जाते थे। उन्हें अपने शरीरका कुछ भी होश नहीं था। बिना कुछ सोचे-विचारे अलक्षित पथकी ओर वैसे ही चले जा रहे थे। इस प्रकार भारतीजीके पीछे-पीछे उन्होंने राढ़-देशमें प्रवेश किया और सायंकाल होनेके समय सभीने एक छोटे-से ग्राममें किसी भाग्यशाली कुलीन ब्राह्मणके यहाँ निवास किया। उस अतिथिप्रिय श्रद्धालु ब्राह्मणने अपने भाग्यकी सराहना करते हुए आगत सभी महात्माओंका यथाशक्ति खूब सत्कार किया और उन सभी-को श्रद्धाभक्तिके सहित भिक्षा करायी। भिक्षा करके प्रभु पृथ्वीपर आसन बिछाकर सोये। भारतीजीका आसन ऊपरकी ओर लगाया गया और गदाधर, मुकुन्द तथा नित्यानन्दजी प्रभुको चारों ओरसे घेरकर सोये।

दिनभर रास्ता चलनेसे सब-के-सब पड़ते ही सो गये, किन्तु प्रभुकी आँखोंमें नींद कहाँ? वे तो श्रीकृष्णके लिये व्याकुल हो रहे थे। सबको गहरी निद्रामें देखकर प्रभु धीरेसे उठे। पासमें रखे हुए अपने दण्ड-कमण्डलुको उठाया और भक्तोंको सोते ही छोड़कर रात्रिमें ही पश्चिम-दिशाको लक्ष्य करके चलने लगे। वे प्रेममें विभोर होकर—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—इस महामन्त्रका उच्चारण करते जाते थे। कभी अधीर होकर कातरवाणीसे—

राम राघव ! राम राघव ! राम राघव ! रक्ष माम्।
कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव पाहि माम्॥

—इन नामोंको लेते हुए जोरोंसे रुदन करते जाते थे।

इधर नित्यानन्दजीकी आँखें खुलीं। उन्होंने सम्भ्रमके सहित चारों ओर प्रभुको देखा, किन्तु अब प्रभु कहाँ ? वे सर्वस्व हरण हुए व्यापारीकी भाँति यह कहते हुए 'हाय ! प्रभो ! हम अभागियोंको आप सोते हुए छोड़कर कहाँ चले गये ?' जोरोंके साथ रुदन करने लगे। नित्यानन्दजी-के रुदनको सुनकर सब-के-सब मनुष्य जाग पड़े और एक दूसरेको दोष देते हुए कहने लगे—'हमने पहले ही कहा था, कि बारी-बारीसे एक-एक आदमी पहरा दो, किन्तु किसीने मानी ही नहीं।' कोई अपनी निद्राको ही धिक्कार देने लगे। इस प्रकार सब भाँति-भाँतिसे विलाप करने लगे।

अब नित्यानन्दजीने भारती महाराजसे प्रार्थना की—'भगवन् ! आप अब अपने आश्रमको लौट जायँ। आप हमलोगोंके साथ कहाँ भटकते फिरेंगे। हम तो जहाँ भी मिलेंगे, वहीं जाकर प्रभुकी खोज करेंगे।'

भारतीजी अब करते ही क्या, अन्तमें उन्होंने दुःखित होकर आश्रम-को लौट जानेका ही निश्चय किया और नित्यानन्दजी गदाधर तथा मुकुन्द-को साथ लेकर पश्चिम-दिशाकी ओर प्रभुको खोजनेके लिये चले।

प्रभु बहुत दूर निकल गये थे। वे प्रेममें बेसुध होकर कभी गिर पड़ते, कभी लोट-पोट हो जाते और कभी घण्टों मूर्च्छित होकर ही पड़े रहते। कृष्ण-प्रेममें अधीर होकर वे इतने जोरोंसे रुदन करते, कि उनकी क्रन्दन-ध्वनि कोसभरसे सुनायी देती थी। रात्रिके समय वैसे भी आवाज दूरतक सुनायी देती है। भक्तोंने प्रभुके करुण-क्रन्दनकी ध्वनि दूरसे ही
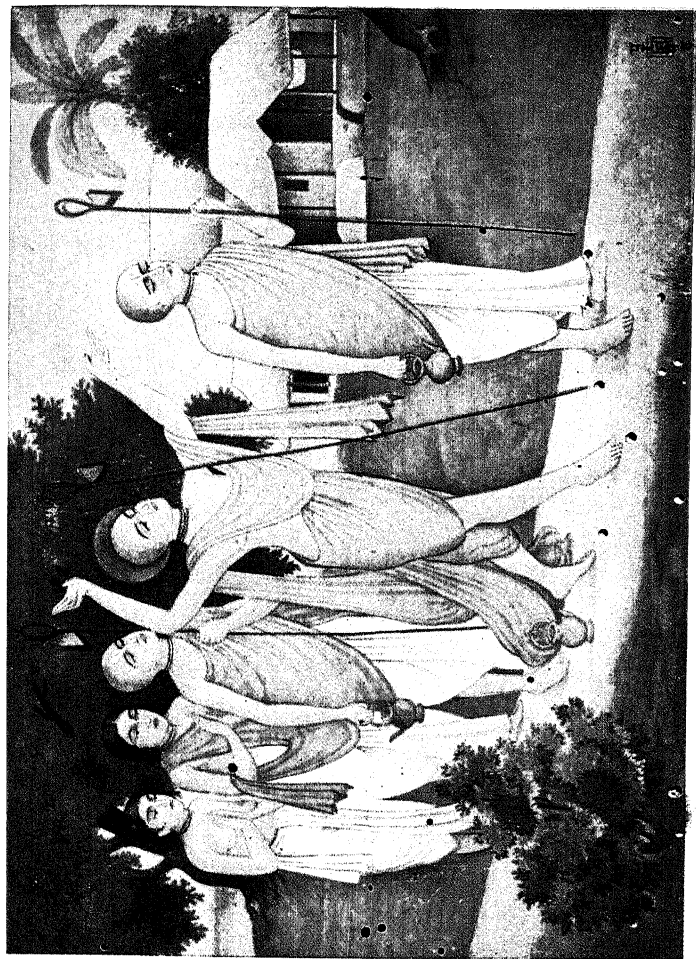
गुरुका अनुगमन
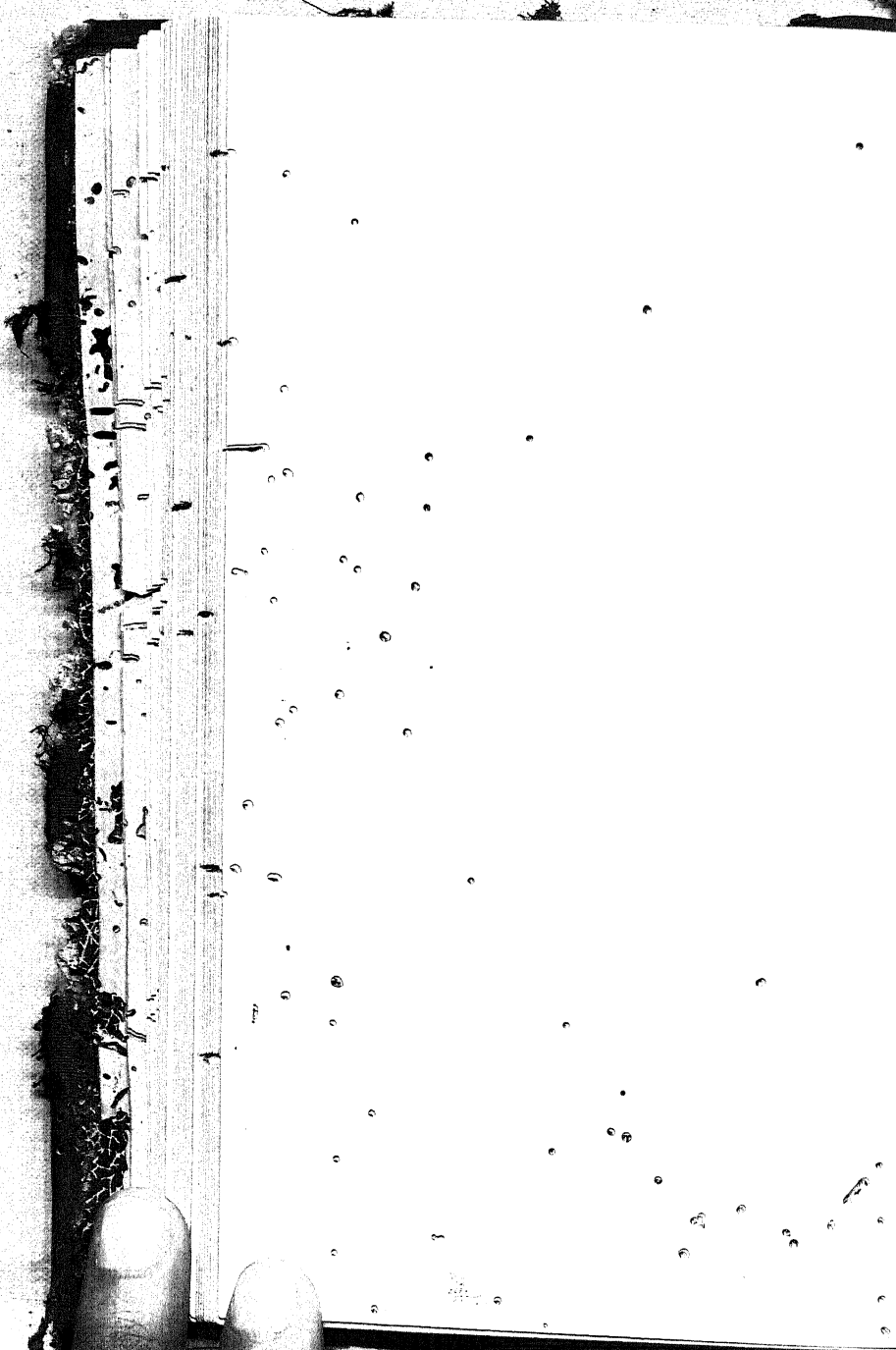
सुनी। उस ध्वनिके श्रवणमात्रसे ही सभीके शरीर पुलकित हो उठे। सभी आनन्दमें उन्मत्त होकर एक दूसरेका आलिङ्गन करते हुए, नृत्य करते हुए और उसी ध्वनिका अनुगमन करते हुए प्रभुके पास पहुँचे। चार-पाँच कोसपर वक्रेश्वर भी आ मिले। मुकुन्द दत्तने बड़े ही सुरीले स्वरसे—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव!

—इन भगवन्नामोंका संकीर्तन आरम्भ कर दिया। संकीर्तनको सुनते ही प्रभु आनन्दके सहित नृत्य करने लगे। सभी भक्त प्रभुके दर्शनोंसे परम प्रसन्न हुए, मानो किसीकी चोरी गयी हुई सम्पूर्ण सम्पत्ति फिरसे प्राप्त हो गयी हो। प्रभु भी भक्तोंको देखकर सुखी हुए।

कुछ कालके अनन्तर प्रभु प्रकृतिस्थ हुए। उन्हें अब बाह्य ज्ञान होने लगा। वे नित्यानन्दजी, वक्रेश्वर आदि भक्तोंको देखकर कहने लगे—'आपलोग खूब आ गये। मैं आपलोगोंसे एक बात कहना चाहता हूँ।'

सभी भक्त उत्सुकताके साथ प्रभुके मुखकी ओर देखने लगे। तब प्रभुने कहा—'मुझे भगवान्‌का आदेश हुआ है, कि तुम जगन्नाथपुरी जाओ। पुरीमें अच्युत भगवान्‌ने मुझे शीघ्र ही बुलाया है। इसलिये अब मैं नीलाचलकी ओर जाऊँगा। अब मुझे शीघ्र ही जाकर पुरीमें अपने स्वामीके दर्शन करने हैं।'

प्रभुकी इस बातको सुनकर सभीको परम प्रसन्नता प्राप्त हुई। प्रभुके मनकी बात जान ही कौन सकता है, कि वे भक्तोंकी प्रसन्नताके निमित्त क्या-क्या करना चाहते हैं। इस प्रकार अब प्रभु पश्चिमकी ओर न जाकर फिर पूर्वकी ही ओर चलने लगे।

उस समयतक राढ़-देशमें भगवन्नामसंकीर्तनका प्रचार नहीं हुआ था, इसलिये उस देशकी ऐसी दशा देखकर प्रभुको अत्यन्त ही दुःख हुआ। वे विकलता प्रकट करते हुए नित्यानन्दजीसे कहने लगे—'श्रीपाद!

इस देशमें कहीं भी संकीर्तनकी सुमधुर ध्वनि सुनायी नहीं पड़ती है और न यहाँ किसीके मुखसे भगवन्नामोंका ही उच्चारण सुना है। सचमुच यह देश भक्तिशून्य है। भगवन्नामको बिना सुने, मेरा जीवन व्यर्थ है, मेरे इस व्यर्थके भ्रमणको धिक्कार है।' इतनेहीमें प्रभुको जंगलमें बहुत-सी गौएँ चरती हुई दिखायी दीं। उनमेंसे बहुत-सी तो हरी-हरी दूबको चर रही थीं, बहुत-सी प्रभुके मुखकी ओर निहार रही थीं, बहुत-सी पूँछोंको उठा-उठाकर इधर-से-उधर प्रभुके चारों ओर भाग रही थीं—मानो वे प्रभुकी परिक्रमा कर रही हों। उनके चरानेवाले ग्वाले कम्बलकी घोंघी (खोइया) ओढ़े हुए हाथमें लाठी लिये प्रभुकी ओर देख रहे थे। प्रभुको देखते ही वे जोरोंसे 'हरि बोल' 'हरि बोल' कहकर चिल्लाने लगे। उन छोटे-छोटे बालगोपालोंके मुखसे श्रीहरिका कर्णप्रिय सुमधुर नाम सुनकर प्रभु अधीर हो उठे। उन्हें उस समय एकदम वृन्दावनका स्मरण हो आया और वे बालगोपालोंके समीप जाकर उनके सिरोंपर हाथ रखते हुए कहने लगे—'हाँ, और कहो, बोलो हरि हरि कहो।' बच्चे आनन्दमें आकर और जोरोंके साथ हरिध्वनि करने लगे। प्रभुकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वे उन बालकोंके पास बैठ गये और बालकोंकी-सी क्रीडाएँ करने लगे। उनसे बहुत-सी बातें पूछने लगे। बातों-ही-बातोंमें प्रभुने उन लोगोंसे पूछा—'यहाँसे गंगाजी कितनी दूर हैं।'

एक चुलबुले स्वभाववाले बालकने कहा—'महाराजजी, गंगाजी दूर कहाँ है, बस, अपनेको गंगाजीके किनारे ही समझो। हमारा गाँव गंगाजीके खादरमें तो है ही। दो-तीन घण्टेमें आप धाराके समीप पहुँच जायँगे।' प्रभुने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'धन्य है, गंगा माताका ही ऐसा प्रभाव है, कि यहाँके छोटे-छोटे बच्चे भी भगवन्नामोंका उच्चारण करते हैं। जगन्माता भगवती भागीरथीका प्रभाव ही ऐसा है, कि उसके

किनारेपर रहनेवाले कूकर-शूकर भी भगवान्‌के प्रिय बन सकते हैं।' इस प्रकार बहुत देरतक बालकोंसे बातें करनेके अनन्तर प्रभु भक्तोंके सहित सायंकालके समय पुण्यतोया सुरसरि माँ जाह्नवीके किनारे पहुँचे। गंगा-माताके दर्शनोंसे ही प्रभु गद्‌गद हो उठे और दोनों हाथोंको जोड़कर स्तुति करने लगे—'गंगा मैया! तुम सचमुच संसारके सभी प्रकारके पाप-तापोंको मेटनेवाली हो। माता, सहस्रवदन शेषजी भी तुम्हारे यशका गायन नहीं कर सकते। माता! तुम्हीं आदि-शक्ति हो, तुम्हीं ब्रह्माणी हो, तुम्हीं रुद्राणी हो और तुम्हीं साक्षात् लक्ष्मी हो। देवाधिदेव महादेवने तुम्हें अपने सिरपर धारण किया है, तुम भगवान्‌के चरणकमलोंसे उत्पन्न हुई हो। जननी! तुम्हारे चरणोंमें हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है। मंगल-मयी माता! हमारा कल्याण करो।' इस प्रकार प्रभुने गंगाजीकी स्तुति करके उनकी रेणुको सिरपर चढ़ाया और माताके पावन जलसे आचमन किया। सभीने आनन्दके सहित गंगाजीमें घुसकर स्नान किया और रात्रिमें पासके एक छोटे-से गाँवमें किसी ब्राह्मणके यहाँ निवास किया।

प्रातःकाल प्रभुने नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद! आप नवद्वीपमें जाकर शचीमाताको और अन्यान्य भक्तोंको सूचित कर दें, कि मैं यहाँ आ गया हूँ। आप नवद्वीप जायँ, तबतक हम अद्वैताचार्यजीके दर्शनोंके लिये शान्तिपुर चलते हैं। वहीं सबसे भेंट करेंगे। आप शीघ्र जाइये। विलम्ब करनेसे काम न चलेगा।' प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके नित्यानन्दजी तो गंगापार करके नवद्वीपकी ओर गये और प्रभु गंगाजीके किनारे-किनारे शान्तिपुरके इस पार हरिदासजीके आश्रममें फुलियानामक ग्राममें आकर ठहर गये।

शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर

न्यासं विधायोत्प्रणयोऽथ गौरो
वृन्दावनं गन्तुमना भ्रमाद् यः।
राढ़े भ्रमन् शान्तिपुरीमयित्वा
ललास भक्तैरिह तं नतोऽस्मि ॥*

(चै० चरि० म० ली० ३ । १)

इधर महाप्रभुसे विदा होकर दुःखित हुए चन्द्रशेखर आचार्य नवद्वीपकी ओर चले। उनके पैर आगे नहीं पड़ते थे, कभी तो वे रोने लगते, कभी पीछे फिरकर देखने लगते, कि सम्भव है, प्रभु दया करके हमारे पीछे-पीछे आ रहे हों। कभी भ्रमवश होकर आप-ही-आप कहने लगते—'प्रभो ! आप आ गये, अच्छा हुआ।' फिर थोड़ी देरमें अपने भ्रमको दूर करनेके निमित्त चारों ओर देखने लगते। थोड़ी दूर चलकर बैठ जाते और सोचने लगते—'अब मेरे जीवनको धिक्कार है। प्रभुके बिना अब मैं नवद्वीपमें कैसे रह सकूँगा ? अब मैं अकेला ही लौटकर नवद्वीप कैसे जाऊँ ? पुत्र-वियोगसे दुखी वृद्धा शचीमाता जब मुझसे आकर पूछेगी कि मेरे लालको, मेरे प्राणप्यारे पुत्रको, मेरी वृद्धावस्थाके एकमात्र सहारेको, मेरी आँखके तारेको, मेरे दुलारे निमाईको तुम कहाँ छोड़ आये ?' तब मैं उस दुःखिनी माताको क्या उत्तर दूँगा ? जब भक्त

---

* जो संन्यास धारण करके प्रेममें बेसुध हुए वृन्दावन जानेकी इच्छासे भ्रान्तचित्त होकर राढ़-देशमें भ्रमण करते हुए शान्तिपुरमें (अद्वैताचार्यके घर) पहुँच गये और वहाँ अपने सभी भक्तोंके सहित उल्लास प्राप्त किया, उन श्रीगौरचन्द्रके चरणोंमें हम प्रणाम करते हैं।

चारों ओरसे मुझे घेरकर पूछेंगे—'प्रभु कहाँ हैं ? वे कितनी दूर हैं, कब-तक आ जायँगे ?' तब इन हृदयको विदीर्ण करनेवाले प्रश्नोंका मैं क्या उत्तर दूँगा। क्या मैं उनसे यह कह दूँगा कि 'प्रभु अब लौटकर नहीं आवेंगे, वे तो वृन्दावनको चले गये ?' हाय ! ऐसी कठिन बात मेरे मुखसे किस प्रकार निकल सकेगी ? यदि वज्रका हृदय बनाकर मैं इस बातको प्रकट भी कर दूँ, तो निश्चय ही बहुत-से भक्तोंके प्राणपखेरू तो उसी समय प्रभुके समीप ही प्रस्थान कर जायँगे। भक्तोंके बहुत-से प्राणरहित शरीर ही मेरे सामने पड़े रह जायँगे। उस समय मेरे प्राण किस प्रकार शरीरमें रह सकते हैं ? खैर, इन सब बातोंको तो मेरा वज्र हृदय सहन भी कर सकता है, किन्तु उस पतिपरायणा पतिव्रता विष्णुप्रियाके करुण-क्रन्दन-से तो पत्थर भी पिघलने लगेंगे। जब वह मेरे लौट आनेका समाचार सुनेगी, तो अपने हृदयविदारक रुदनसे दिशा-विदिशाओंको व्याकुल करती हुई, पतिके सम्बन्धमें जिज्ञासा करती हुई एक ओर खड़ी होकर रुदन करने लगेगी तब तो निश्चय ही मैं अपनेको सम्हालनेमें समर्थ न हो सकूँगा। सभी लोग मुझे धिक्कार देंगे, सभी मेरे कामकी निन्दा करेंगे। जब उन्हें पता चलेगा, कि प्रभुके संन्यास-सम्बन्धी सभी कृत्य मैंने ही अपने हाथसे कराये हैं, जब उन्हें यह बात विदित होगी, कि मैंने ही प्रभुको संन्यासी बनाया है, तो वे सभी मिलकर मुझे भाँति-भाँतिसे धिक्कारेंगे। उन सभी प्रभुके भक्तोंके दिये हुए अभिशापको मैं किस प्रकार सहन कर सकूँगा। इससे तो यही उत्तम है, कि मैं गङ्गाजीमें कूदकर अपने प्राणोंको गँवा दूँ। यह सोचकर वे जल्दीसे गङ्गा-किनारे पहुँचे और गङ्गा-जीमें कूदनेके लिये उद्यत हुए। उसी समय उन्हें प्रभुकी बातोंका स्मरण हो आया। "प्रभुने माताके लिये और भक्तोंके लिये बहुत-बहुत करके प्रेम-सन्देश भेजा है, उनके सन्देशको न पहुँचानेसे मुझे पाप लगेगा। मैं

प्रभुके सम्मुख कृतघ्न कहलाऊँगा। कौन जाने प्रभु लौटकर आते ही हों। मेरी 'दायीं भुजा फड़क रही है। दायीं आँख लहक रही है, इससे मेरे हृदयमें इस बातका विश्वास-सा हो रहा है, कि प्रभु अवश्य लौटकर आवेंगे और वे भक्तोंसे मिलकर ही जहाँ जाना चाहेंगे जायँगे।' इन विचारोंके मनमें आते ही उन्होंने गङ्गाजीमें कूदकर आत्मघात करनेका अपना विचार त्याग दिया और वहीं गङ्गाजीकी रेतीमें प्रभुका चिन्तन करते हुए बैठ गये। उन्होंने मनमें स्थिर किया कि 'खूब रात्रि होनेपर घर जाऊँगा। तबतक सबलोग सो जायँगे और मैं चुपकेसे अपने घरमें जाकर छिप रहूँगा। मेरे नवद्वीप आनेका किसीको पता ही न चलेगा।' इसीलिये गङ्गाजीकी बालुकामें अकेले बैठे-ही-बैठे उन्होंने सम्पूर्ण दिन बिता दिया। खूब अन्धकार होनेपर वे गङ्गाजीके पार हुए और लोगोंसे आँख बचाकर अपने घर पहुँचे। घर पहुँचते ही नगरभरमें इनके लौट आनेका समाचार बात-की-बातमें बिजलीकी तरह फैल गया। जो भी सुनता वही इनके पास दौड़ा आता और आते ही प्रभुके सम्बन्धमें पूछता। ये सबको धैर्य बँधाते हुए कहते—'हाँ, प्रभु शीघ्र ही लौटकर आवेंगे। इतनेमें ही पुत्रके समाचारोंके लिये उत्सुक हुई वृद्धा माता अपनी पुत्रवधूको साथ लिये हुए आचार्यरत्नके घर आ पहुँची। जिस दिनसे उसका प्यारा निमाई घर छोड़कर गया है, उसी दिनसे माताने अपने मुखमें अन्नका दानातक नहीं दिया है! उसकी दोनों आँखें निरन्तर रोते रहनेके कारण सूज गयी हैं, गला बैठ गया है, सम्पूर्ण शरीर शक्तिहीन हो गया है, उठकर बैठनेकी भी शक्ति नहीं रही है, किन्तु चन्द्रशेखर आचार्यके आगमनका समाचार सुनते ही न जाने माताके शरीरमें कहाँसे बल आ गया, वह दौड़ी हुई आचार्यके घर आयी। विष्णुप्रियाजी भी उसका वस्त्र पकड़े पीछे-पीछे रोती हुई आ रही थीं।

माताको आते देखकर आचार्य सम्भ्रमके सहित एकदम खड़े हो गये। चारों ओरसे भक्तोंने आप-से-आप माताके लिये रास्ता छोड़ दिया। माताने आते ही चन्द्रशेखरको स्पर्श करना चाहा, किन्तु अपने शोकके आवेगको न सह सकनेके कारण बीचमें ही हा ! निमाई, ऐसा कहती हुई, पृथ्वीपर गिर पड़ी। जल्दीसे आचार्यरत्नने बढ़कर वृद्धा माताको सम्हाला, विष्णुप्रियाजी भी सासके चरणोंके समीप बैठकर रुदन करने लगीं।

उस समयका दृश्य बड़ा ही करुणापूर्ण था। माताकी ऐसी दशा देखकर सभी उपस्थित भक्त ढाह मार-मारकर रोने लगे। चन्द्रशेखर आचार्यका घर क्रन्दनकी वेदनापूर्ण ध्वनिसे गूँजने लगा। माताके मुखमेंसे दूसरा कोई शब्द ही नहीं निकलता था, 'हा निमाई ! मेरे निमाई !' बस, यही कहकर वह रुदन कर रही थी। बहुत देर इसी प्रकार रुदन करते रहनेके अनन्तर भरायी हुई आवाजसे माताने रोते-रोते पूछा—'आचार्य ! मेरे निमाईको कहाँ छोड़ आये ? क्या वह सचमुच संन्यासी बन गया ? आचार्य ! तुम मुझे सच-सच बता दो, क्या उस मेरे दुलारेके वे कन्धोंतक लटकनेवाले काले-काले सुन्दर घुँघराले बाल सिरसे पृथक् हो गये ? क्या किसी निर्दयी नापितने उन्हें छुरेकी तीक्ष्ण धारसे काट दिया ? क्या मेरा सुकुमार निमाई भिखारी बन गया ? क्या वह अब माँगकर खाने लगा ? आचार्य ! मुझ दुःखिनी अबलापर दया करके बता दो, मेरा निमाई क्या अब न आवेगा ? क्या अब मैं अपने हाथसे दाल-भात बनाकर उसे न खिला सकूँगी ? क्या अब भूख लगनेपर वह मुझसे बालकोंकी भाँति भोजनके लिये आग्रह न करेगा ? क्या अब वह मेरे कलेजेका टुकड़ा मुझसे अलग ही रहेगा ? क्या अब मैं उसे अपनी छातीसे चिपटाकर अपने तनकी तपन न मिटा सकूँगी ? क्या अब मैं उसके सुगन्धित बालों-वाले मस्तकको सूँघकर सुखी न बन सकूँगी ? आचार्य ! तुम बताते क्यों

नहीं ? तुम्हें मुझ कंगालिनीपर दया क्यों नहीं आती ? तुम मौन क्यों हो रहे हो ? मेरे प्रश्नोंका उत्तर क्यों नहीं देते ?"

आचार्य माताके इतने प्रश्नोंको भी सुनकर मौन ही बने बैठे रहे। केवल वे आँखोंसे अश्रु बहा रहे थे। आचार्यको इस प्रकार रोते देखकर माता समझ गयी, कि मेरे निमाईने जरूर संन्यास ले लिया। इसलिये वह अधीरता प्रकट करती हुई कहने लगी—'आचार्य ! तुम मेरे निमाईका पता मुझे बता दो। वह जहाँ भी कहीं होगा, वहीं मैं जाऊँगी। वह चाहे कैसा भी संन्यासी क्यों न बन गया हो, है तो मेरा पुत्र ही ! मैं उसके साथ-ही-साथ रहूँगी, जिस प्रकार अपने बछड़ेके पीछे-पीछे दुबली और वृद्धा गौ रँभाती हुई चलती है, उसी प्रकार मैं निमाईके पीछे-पीछे चलूँगी। आचार्य ! मैं निमाईके बिना जीवित नहीं रह सकती। तुम मेरे ऊपर इतनी कृपा करो, मेरा निमाई जहाँ भी हो, वहीं मुझे ले जाकर उसके पास पहुँचा दो। आह ! अब वह घर-घरसे भातके दाने माँगकर खाता होगा ! कोई मेरी-जैसी ही वृद्धा दया करके थोड़ा भात दे देती होगी। कोई-कोई दुत्कार भी देती होगी। कोई-कोई बासी और सूखा भात ही उसकी झोलीमें डाल देती होगी। यहाँ तो जबतक वह दो-चार साग मेरे हाथके बने नहीं खा लेता था, तबतक उसका पेट ही नहीं भरता था। अब उस सूखे और बासी भातको वह किस प्रकार खा सकेगा ? वह भूखका बड़ा कच्चा है। तीसरे पहरके जलपानमें थोड़ी भी देर हो जाती या कभी घरकी बनी मिठाई चुक जाती तो जमीन-आसमान एक कर डालता था। पकौड़ी बनाते-बनाते ही खानेको आ बैठता था, अब उसे तीसरे पहर कौन जलपान करावेगा ? हा ! मेरे ऐसे जीवनको धिक्कार है ? हा ! मेरा सर्व-गुण-सम्पन्न पुत्र ! जिसकी भक्त राजासे भी बढ़कर पूजा और प्रतिष्ठा करते थे। वह द्वार-द्वार एक मुट्ठी चावलके लिये घूम रहा होगा। विधाता ! तेरे ऐसे

कठोर हृदयके लिये तुझे बार-बार धिक्कार है, जो इतना रूप, लावण्य, सौन्दर्य, पाण्डित्य और मान-सम्मान देनेपर भी तैंने निमाईको घर-घरका भिखारी बना दिया।'

बड़ी देरतक माता इसी प्रकार प्रलाप करती रही। कुछ धैर्य धारण करके आचार्यने संन्यासकी सभी बातें बता दीं। उनके सुनते ही माता फिर बेहोश हो गयी और विष्णुप्रिया भी अचेतन होकर शचीदेवीके चरणोंमें गिर पड़ी। इस प्रकार रुदन करते-करते आधीसे अधिक रात्रि बीत गयी। शचीमाताकी बहिनने खानेके लिये बहुत अधिक आग्रह किया, किन्तु माताने कुछ भी नहीं खाया। उसी हालतमें वह विष्णुप्रियाको लिये हुए रात्रिभर पड़ी रोती रही। प्रातःकाल आचार्य उन्हें घर पहुँचा आये। इस प्रकार श्रीवास, वासुदेव, नन्दनाचार्य, गंगादास आदि सभी भक्त बिना कुछ खाये-पीये प्रभुके ही लिये अधीर होकर विलाप करते रहते थे। इस प्रकार तीसरे ही दिन नित्यानन्दजी भी नवद्वीप आ पहुँचे।

नित्यानन्दजीके आगमनका समाचार सुनकर बात-की-बातमें सम्पूर्ण नगरके नर-नारी, बालक-वृद्ध तथा सभी श्रेणीके पुरुष उनके पास आ-आकर प्रभुका समाचार पूछने लगे। कोई पूछता—'प्रभु कहाँ हैं?' कोई कहता—'यहाँ कब आवेंगे?' कोई कहता—'हमें स्थान बता दो हम अभी जाकर उनके दर्शन कर आवें।' जो लोग महाप्रभुसे द्वेषभाव रखते थे, वे भी अपने कुकृत्यपर पश्चात्ताप करते हुए नित्यानन्दजीसे रोते-रोते अत्यन्त ही दीनभावसे सरलतापूर्वक कहने लगे—'श्रीपाद! हम दुष्टोंने ही मिलकर प्रभुको गृहत्यागी विरागी बनाया। हमारे ही कारण प्रभु संन्यासी हुए! हमींलोग प्रभुको नवद्वीपसे निर्वासित करनेमें कारण हैं। प्रभो! हमारी निष्कृतिका भी कोई उपाय हो सकता है? दयालु गौराङ्ग क्या हम-जैसे पापियोंको भी क्षमा प्रदान कर सकते हैं। वे क्षमा चाहे न

करें, हम अपने पापोंका फल भोगनेके लिये तैयार हैं, किन्तु वे एक बार कृपाकी दृष्टिसे हमारी ओर देखभर लें। क्या प्रभुके दर्शन हमलोगोंको कभी हो सकेंगे? क्या इस जीवनमें गौरचन्द्रके सुन्दर तेजयुक्त श्रीमुखके दर्शनोंका सौभाग्य हमलोगोंको कभी प्राप्त हो सकता है?'

लोगोंके मुखसे ऐसी बातें सुनकर नित्यानन्दजी सभीसे कहते—'महाप्रभु बड़े दयालु हैं, उनके हृदयमें प्राणिमात्रके प्रति दयाके भाव हैं, उनका शत्रु या अप्रिय कोई भी नहीं। वे अपने अपकार करनेवालेके प्रति भी प्रेम प्रदर्शित करते हैं। वे तुमलोगोंके ही प्रेमके वशीभूत होकर फुलिया होते हुए शान्तिपुर जा रहे हैं। शान्तिपुरमें वे आचार्य अद्वैतके घर ठहरेंगे। तुम सभी लोग वहीं जाकर प्रभुके दर्शन कर सकते हो।'

नित्यानन्दजीके मुखसे यह बात सुनकर कि 'प्रभु इस समय फुलियामें हैं, हरिदासजीके आश्रमपर होंगे और वहाँसे शान्तिपुर जायँगे' बस, इस बातके सुनते ही लोग फुलियाकी ओर दौड़ने लगे। कोई तो नावपर पार होने लगे। कोई अपनी डोंगीको आप ही खेकर ले जाने लगे। कोई घड़ोंके द्वारा ही गंगाजीको पार करने लगे। बहुत-से उतावले भक्तोंने तो नाव, डोंगी तथा घड़ोंकी भी परवा नहीं की। वे वैसे ही गङ्गाजीमें कूद पड़े और हाथोंसे तैरकर ही उस पार पहुँच गये। हजारों आदमी बात-की-बातमें गङ्गाजीको पार करके फुलिया ग्राममें पहुँच गये। प्रेममें उन्मत्त हुए पुरुष जोरोंसे 'हरि बोल' 'हरि बोल' की गगनभेदी ध्वनि करने लगे। उस महान् कोलाहलको सुनकर प्रभु आश्रममेंसे बाहर निकल आये। संन्यासी-वेषधारी प्रभुके दर्शनोंसे वहाँ प्रेममें उन्मत्त हुई अपार जनता जोरोंसे हरिध्वनि करने लगी। सभीके नेत्रोंसे आँसुओंकी धाराएँ बह रही थीं। कोई-कोई तो प्रभुके मुँड़े हुए सिरको और उनके गेरुए रङ्गके वस्त्रोंको

देखकर जोरोंसे 'हा प्रभु! हा हरि' कहकर रुदन करने लगे। प्रभुने सभीको कृपाकी दृष्टिसे देखा और सभीको लौट जानेके लिये कहकर आप शान्तिपुरकी ओर चलने लगे। बहुत-से भक्त उनके साथ-ही-साथ शान्तिपुरको चले। कुछ लौटकर नवद्वीपको आ गये।

इधर नित्यानन्दजी लोगोंको प्रभुके आनेका समाचार सुनाते हुए शचीमाताके समीप पहुँचे। उस समय माता पुत्रविछोहरूपी रोगसे आक्रान्त हुई बेहोशीके सहित आहें भर रही थी। नित्यानन्दजीने माताके चरण स्पर्श किये। माताने चौंककर देखा कि सामने नित्यानन्द खड़े हैं। अत्यन्त ही अधीरताके साथ माता कहने लगी—'बेटा निताई! तू अपने भाई निमाईको कहाँ छोड़ आया? तू तो मुझसे प्रतिज्ञा करके गया था कि मैं निमाईको साथ लेकर आऊँगा? वह कितनी दूर है? उसे तू पीछे क्यों छोड़ आया। तू तो सङ्ग लानेके लिये कह गया था। मेरा निमाई कहाँ है? बेटा! मुझे जल्दीसे बता दे। तेरे ही कहनेसे मैंने अबतक प्राण रखे हैं। अब तू मुझे जल्दी बता दे। कहीं तू भी तो मुझे निमाईकी तरह धोखा नहीं देता? तू सच-सच बता दे निमाई कहाँ है। मैं वहीं जाऊँगी, तू मुझे अभी उसी देशमें ले चल, जहाँ मेरा निमाई हो।'

उपवासोंसे क्षीण हुई दुःखिनी माताको धैर्य बँधाते हुए नित्यानन्दजीने कहा—'माता! तुम इतनी अधीर मत हो। मैं तुम्हारे निमाईको साथ ही लेकर आया हूँ। वे शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घरपर हैं। उन्होंने तुम्हें वहीं बुलाया है, मैं तुम्हें वहीं ले चलूँगा।'

'निमाई शान्तिपुर है' इतना सुनते ही मानो माताके गये हुए प्राण फिरसे शरीरमें लौट आये। वह अधीर होकर कहने लगी—'बेटा! मुझे शान्तिपुर ले चल! मैं जबतक निमाईको देख न लूँगी, तबतक मुझे शान्ति न होगी।'

नित्यानन्दजीने देखा कि माता चिरकालके उपवासोंसे अत्यन्त ही क्षीण हो गयी हैं। उन्होंने निमाईके जानेके दिनसे आजतक अन्नका दर्शन-तक नहीं किया है। ऐसी दशामें यदि इन्हें प्रभुके समीप ले चलेंगे तो इन्हें महान् दुःख होगा; इसलिये इन्हें जैसे भी बने तैसे आग्रहपूर्वक थोड़ा-बहुत भोजन कराना चाहिये। यह सोचकर उन्होंने कहा—'माता! मैं तो भूखके मारे मरा जा रहा हूँ। जबतक तुम्हारे हाथका बना हुआ भोजन न पाऊँगा, तबतक मेरी तृप्ति न होगी। इसलिये जल्दीसे दाल-भात बनाकर मुझे खिला दो, तब प्रभुके समीप चलेंगे। मुझसे तो भूखके कारण चला भी नहीं जाता।'

नित्यानन्दजीकी ऐसी बात सुनकर कुछ शंकित-चित्तसे माताने कहा—'निताई! तू मुझे छल तो नहीं रहा है? मुझे भोजन करानेके निमित्त ही तो, निमाईके शान्तिपुर आनेका बहाना नहीं कर रहा है? तू मुझे सत्य-सत्य बता दे निमाई कहाँ है?'

नित्यानन्दजीने माताके चरणोंको स्पर्श करते हुए कहा—'माता! मैं तुम्हारे चरणोंका स्पर्श करके कहता हूँ, कि मैं तुम्हें ठग नहीं रहा हूँ। प्रभु फुलिया होकर शान्तिपुर मेरे सामने गये हैं और मुझे तुम्हें लानेके लिये ही नवद्वीप भेजा है।'

नित्यानन्दजीकी इस बातसे माताको सन्तोष हुआ, वह बड़े कष्टके साथ उठी और उठकर स्नान किया। फिर विधिवत् भोजन बनाया। भोजन बनाकर भगवान्‌का भोग लगाया और नित्यानन्दजीके लिये परोस-कर उनसे भोजन करनेके लिये कहा।

नित्यानन्दजीने आग्रहके साथ दृढ़ता दिखाते हुए कहा—'पहले माता कर लेंगी तब मैं भोजन करूँगा।'

माताने कहा—'बेटा ! मेरे भोजनको तो निमाई साथ ले गया। अब वही जब करावेगा तब भोजन करूँगी, उसके बिना देखे मुझे भोजन भावेगा ही नहीं।'

नित्यानन्दजीने कहा—'तुम्हारा एक बेटा निमाई तो शान्तिपुर है, दूसरा बेटा तुम्हारे सामने है। तुम अब भी भोजन न करोगी, तो मैं भी नहीं करता। मैं माताको बिना खिलाये भोजन कर ही नहीं सकता।'

माताने कुछ आग्रहके स्वरमें कहा—'पहले तू कर तो ले, तब मैं भी करूँगी। बिना तुझे खिलाये मैं कैसे खा सकती हूँ ?'

नित्यानन्दजीने प्रेमपूर्वक बच्चोंकी भाँति कहा—'हाँ, यह बात नहीं है, मैं तो तुम्हें कराके ही भोजन करूँगा। अच्छा, तुम मेरी शपथ खाकर कह दो, कि मेरे कर लेनेके पश्चात् तू भी भोजन कर लोगी।'

नित्यानन्दजीके अत्यन्त आग्रह करनेपर माताने भोजन करना स्वीकार कर लिया। तब नित्यानन्दजीने प्रेमपूर्वक माताके हाथका बना हुआ प्रसाद पाया। उनके भोजन कर लेनेके उपरान्त माताने विष्णुप्रियाजीको भी आग्रहपूर्वक भोजन कराया और स्वयं भी दो-चार ग्रास खाये। किन्तु उनके मुखमें अन्न जाता ही नहीं था। जैसे-तैसे करके उन्होंने थोड़ा भोजन किया।

माताके भोजन कर लेनेके अनन्तर नित्यानन्दजीने चन्द्रशेखर तथा श्रीवास आदि भक्तोंसे कहा—'आपलोग पालकीका प्रबन्ध करके माताको साथ लेकर अद्वैताचार्यके घर शान्तिपुर आवें। तबतक मैं आगे चलकर देखता हूँ कि प्रभु पहुँचे या नहीं।' भक्तोंने नित्यानन्दजीकी बातको स्वीकार किया। वे शान्तिपुरकी तैयारियाँ करने लगे। इधर उतावले अवधूत नित्यानन्दजी जल्दीसे दौड़ते हुए शान्तिपुर पहुँचे।

अद्वैताचार्यके घर पहुँचकर नित्यानन्दजीने देखा प्रभु अभीतक वहाँ नहीं पहुँचे तब उन्होंने आचार्यसे पूछा—'क्या प्रभु यहाँ नहीं आये ?' प्रभुके आगमनकी बात सुनकर अद्वैताचार्य प्रेममें गद्‌गद हो उठे। रुँधे हुए कण्ठसे उन्होंने कहा—'क्या प्रभु इस दीन-हीन कङ्गालके ऊपर कृपा करेंगे ? क्या प्रभु अपनी चरण-धूलिसे इस अकिञ्चनके घरको पावन बनावेंगे ?'

नित्यानन्दजीने कहा—'मुझे वे नवद्वीप भेजकर स्वयं फुलिया होते हुए आपके यहाँ आनेवाले थे। यहींपर माता तथा भक्तोंको भी बुलाया है। आते ही होंगे।' इतना सुनते ही वृद्ध आचार्य आनन्दमें विभोर होकर उछल-उछलकर नृत्य करने लगे। उस समय उनकी दशा विचित्र थी, वे हर्ष और शोक दोनोंके बीचमें पड़े हुए थे। वे प्रभुके संन्यासका स्मरण करके तो दुःखित-भावसे रुदन कर रहे थे और प्रभुके पधारने और उनके दर्शन पानेके सुखके कारण भीतर-ही-भीतर परम प्रसन्न हो रहे थे। उसी समय उन्होंने अपनी धर्मपत्नी सीतादेवीसे प्रभुके लिये भाँति-भाँतिके भोजन बनानेको कहा। आचार्यपत्नी सीतादेवी तो उसी समय नाना प्रकारके व्यञ्जनोंके बनानेमें लग गयी और आचार्य देव अपने पुत्र, हरिदास, नित्यानन्द तथा अन्य भक्तोंके सहित प्रभुको देखनेके लिये गङ्गा-किनारे पहुँचे।

गंगा-किनारे पहुँचकर दूरसे ही आचार्यने देखा बहुत-से भक्तोंसे घिरे हुए हाथमें दण्ड-कमण्डलु धारण किये गेरुए रङ्गके वस्त्र पहने प्रभु जल्दी-जल्दी शान्तिपुरकी ओर आ रहे हैं। दूरसे देखते ही आचार्यने पृथ्वीपर लोटकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया। जल्दीसे आकर प्रभु भी दण्ड-कमण्डलुके सहित आचार्यके चरणोंमें गिर पड़े। उनके चरणोंमें हरिदासजी पड़े और इसी प्रकार एक-दूसरेके चरणोंको पकड़कर भक्त लोगोंके सहित क्रन्दन करने लगे।

घाटपरके स्त्री-पुरुष इस प्रेमदृश्यको देखकर आश्चर्यचकित हो गये। सभी इस अपूर्व प्रेमकी प्रशंसा करने लगे। बहुत देरके अनन्तर प्रभु स्वयं उठे। उन्होंने अद्वैताचार्यको अपने हाथोंसे उठाया और अपने चरणोंके समीप पड़े हुए आचार्य अद्वैतके पुत्र अच्युतको प्रभुने गोदीमें उठा लिया। और अपने रँगे वस्त्रसे उसके शरीरकी धूलि पोंछते हुए कहने लगे—'आचार्य तो हमारे पिता हैं, तुम्हारे भी वे ही पिता हैं क्या? तब तो हम तुम दोनों भाई-भाई ही हुए? क्यों ठीक है न? बताओ हम तुम्हारे भाई नहीं हैं? हमें पहचानते हो?'

बालक अच्युतने उत्तर दिया—'प्रभो! आप चराचर जीवोंके पिता हैं। आपके पिता कौन हो सकते हैं? आप तो वैसे ही मुझसे हँसी कर रहे हैं।'

बालकके ऐसे अद्भुत उत्तरको सुनकर अद्वैताचार्य आदि सभी भक्त प्रसन्न होकर उस बालककी बुद्धिकी सराहना करने लगे। प्रभुने भी कई बार अच्युतके मुँहको चूमा और आप सभी भक्तोंके सहित आचार्यके घर पहुँचे। घर पहुँचनेपर आचार्यने प्रभुके चरणोंको धोया और अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, चन्दन, पुष्पमाला आदि पूजनकी सामग्रियोंसे विधिवत् उनकी पूजा की। फिर प्रभुके पादोदकका स्वयं पान किया, भक्तोंको बाँटा और अपने सम्पूर्ण घरमें उसे छिड़का। प्रभुके पधारनेके कारण आचार्यके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा, वे बार-बार अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे।

माताको संन्यासी पुत्रके दर्शन

यस्यास्ति वैष्णवः पुत्रः पुत्रिणी साभिधीयते।
अवैष्णवपुत्रशता जननी शूकरीसमा ॥*

उस शचीदेवीके सौभाग्यकी सराहना करनेकी सामर्थ्य भला किस पुरुषमें हो सकती है, जिसके गर्भसे दो संसार-त्यागी, विरागी संन्यासी महापुरुष उत्पन्न हुए ! जगन्माता शचीदेवीकी कोख ही मातृकोख कही जा सकती है। सौ पुत्रोंको जननेवाली शूकरी माताओंकी इस संसारमें कुछ कमी नहीं है, किन्तु उनका गाँव-से-गाँवमें और मुहल्ले-से-मुहल्लेमें भी कोई नाम नहीं जानता, पर गौराङ्गको उत्पन्न करके शचीमाता जगज्जननी बन गयीं। गौर-भक्त संकीर्तनके समय—

जय शचीनन्दन गौर गुणाकर। प्रेम परशमणि भाव रससागर॥

—आदि संकीर्तनके पदोंको गा-गाकर आज भी जगन्माता शचीदेवीके सौभाग्यकी सराहना करते हुए उन्हें भगवान्‌की माता कह-कहकर रुदन करते हैं।

पुत्रोंके संन्यासी होनेपर स्वाभाविक मातृस्नेहके कारण जगन्माता शचीदेवीको अपार दुःख हुआ था। उस दुःखने ही उन्हें जगन्माताके दुर्लभ पदतक पहुँचा दिया। उस महान् दुःखको उन्होंने धैर्यके साथ सहन किया। सच है भगवान् जिसे जितना ही भारी दुःख देते हैं, उसे

---

* जिसका पुत्र वैष्णव है, असलमें तो वही माता पुत्रिणी कहलानेके योग्य है। यदि अवैष्णव सौ पुत्रोंको जननेवाली माता क्यों न हो, वह माता शूकरीके समान है। शूकरी तीसरे ही महीने बहुत-से बच्चे पैदा कर देती है।

उतनी ही अधिक सहनशक्ति भी प्रदान कर देते हैं। जिसका एक युवावस्थापन्न पुत्र अविवाहित-दशामें ही घर-बार छोड़कर चला गया हो, पति परलोकवासी हो गये हों, जिस पुत्रके ऊपर जीवनकी सम्पूर्ण आशाएँ लगी हुई थीं, वही वृद्धावस्थाका एकमात्र सहारा प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पुत्र घरमें सन्तानहीन युवती स्त्रीको छोड़कर सदाके लिये संन्यासी बन गया हो, उस माताका हृदय बिना फटे कैसे रह सकता था? किन्तु जिसके गर्भमें प्रेमावतार गौराङ्गने नौ महीने नहीं, तेरह महीने निवास किया हो, उस वीरप्रसविनी माताके लिये इतनी अधीरताका अनुमान कर ही कौन सकता है? फिर भी मातृस्नेह बड़ा ही अद्भुत होता है, पुत्रवियोगरूपी दुःखको हँसते हुए सहन करनेवाली माता पृथ्वीपर पैदा ही नहीं हुई। मदालसा आदि तो अपवादस्वरूप हैं। देवकी, यशोदा, कौशल्या, देवहूति आदि सभी अवतारजननी माताओंको पुत्रवियोगसे विलखना पड़ा। सभीने अपने करुण-क्रन्दनसे स्वाभाविक और सहज मातृस्नेहका परिचय देते हुए सर्वसमर्थ पुत्रोंके लिये आँसू बहाये। फिर शचीदेवी किस प्रकार बच सकती थी? वह भी चन्द्रशेखर आचार्य तथा श्रीधर आदि भक्तोंसे जल्दी ही शान्तिपुरको चलनेका आग्रह करने लगी। आचार्यने उसी समय एक पालकीका प्रबन्ध किया और उसपर माताको चढ़ाकर शान्तिपुरकी ओर चलने लगे। माता तो पालकीपर चढ़कर संन्यासी पुत्रको देखनेके लिये चल दी; किन्तु पतिप्राणा बेचारी विष्णुप्रिया क्या करती। उसे तो अपने संन्यासी पतिके दूरसे दर्शन करनेतककी भी आज्ञा नहीं थी। वह तो गेरुआ वस्त्र पहने अपने प्राणनाथको आँख भरकर देख भी नहीं सकती थी। उसके लिये तो उसके जीवन-सर्वस्व अन्य लोगोंकी भी अपेक्षा बिराने बन गये, किन्तु यह बात नहीं थी। लोकदृष्टिसे उसके पति चाहे संन्यासी भले ही

बन गये हों, शिष्टाचारकी रक्षाके निमित्त चाहे वह अपने प्राणनाथके इस स्थूल शरीरके दर्शन न कर सकें, किन्तु उसके आराध्यदेव तो सदा उसके हृदय-मन्दिरमें निवास कर रहे थे। वहींपर वह उनकी पूजा करती और अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाकर भक्तिभावसे सदा उन्हें प्रणाम करती रहती। उसने वीरपत्नीकी भाँति अपनी साससे कहा—'माताजी! आप जायँ और उन्हें देख आवें। मेरे भाग्यमें उनके दर्शन नहीं बदे हैं तो नहीं। मेरा इससे बढ़कर और क्या सौभाग्य होगा, कि जो सदा हमारे रहे हैं और आगे भी जो सर्वदा हमारे ही रहेंगे, उनके दर्शनके लिये आज शत्रु-मित्र सभी जा रहे हैं। मैं तो उन्हींकी हूँ और उन्हींकी रहूँगी, चाहे वे संन्यासवेशमें रहें या गृहस्थी-वेशमें! मेरे हृदयमें इन बाह्य चिह्नोंसे भेदभाव नहीं हो सकता। मेरे तो वे एक ही हैं, चाहे जिस अवस्थामें रहें।' अपनी पुत्रवधूकी ऐसी बात सुनकर माता मन-ही-मन उसकी प्रशंसा करती हुई पालकीपर चढ़कर भक्तोंसे घिरी हुई शान्तिपुरकी ओर चली।

इधर महाप्रभुके घर पहुँचते ही अद्वैताचार्यकी धर्मपत्नी सीतादेवीने बात-की-बातमें ही भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनाकर तैयार कर लिये। जितने व्यञ्जन उसने बनाये थे, उतने व्यञ्जनोंको अनेकों स्त्रियाँ मिलकर कई दिनोंमें भी नहीं बना सकती थीं। खट्टे, मीठे, चरपरे, नमकीन तथा भाँति-भाँतिके अनेक पदार्थ बनाये गये, बीसों प्रकारके साग थे, एक केलेके ही साग कई प्रकारसे बनाये गये। चावलकी, मखानोंकी, रामतोरईकी, केलेकी तथा तीकुरकी कई प्रकारकी खीरें थीं। मूँगके, उड़दके, घुइयोंके और भी कई प्रकारके बड़े थे। कद्दूका, बथुएका, पोदीनेका, धनियेका और निकुतियोंका अलग-अलग पात्रोंमें रायता रखा हुआ था। भाँति-भाँतिकी मिठाइयाँ थीं। विविध प्रकारके अचार तथा मुरब्बे थे। बहुत बढ़िया

चावल बनाये गये थे। मूँग, उड़द, अरहर, मोंठ, चना आदि कई प्रकारकी अलग-अलग दालें बनायी गयी थीं। दही-चूरा, दूध-चूरा, नारिकेल, दूध आदि विभिन्न प्रकारके द्रव्य तैयार किये गये। आचार्यने तीन स्थानोंमें सभी पदार्थ सजाये और भगवान्‌का भोग लगाकर प्रभुसे भोजन करनेकी प्रार्थना की।

प्रभुके बैठनेके लिये आचार्यने दो आसन दिये और उन्हें हाथ पकड़कर भोजनके लिये बिठाया। भाँति-भाँतिकी इतनी सामग्रियोंको देखकर प्रभु कहने लगे—'धन्य है, जिनके घरमें इतने सुन्दर-सुन्दर पदार्थोंका नित्यप्रति भगवान्‌को भोग लगता हो, उनकी चरण-धूलिसे पापी-से-पापी पुरुष भी पावन बन सकते हैं। सीतामाता तो साक्षात् अन्नपूर्णा मातेश्वरी हैं, जिनके द्वारपर सदाशिव सदा अपना खप्पर फैलाये भिक्षाके निमित्त खड़े रहते हैं, उनके लिये इतने व्यञ्जनोंका बनाना कौन कठिन है?'

आचार्यदेवने कहा—'शिवजी भी विष्णुकी शरणमें गये बिना अन्नपूर्णाको अगस्त्यके शापसे छुटानेमें समर्थ नहीं हैं, फिर चाहे वे कितने भी अधिक व्यञ्जन बनाना क्यों न जानती हों।'*

---

* इस सम्बन्धमें एक कथा है। एक दिन अन्नपूर्णामाता पार्वतीजीने किसी व्रतका पारायण किया। इसके उपलक्ष्यमें वे एक योग्य-तपस्वी ब्राह्मणको भोजन कराना चाहती थीं। उन्होंने अगस्त्यजीको भोजन करानेका विचार किया और अपनी इच्छा देवाधिदेव महादेवजीके सम्मुख प्रकट की। महादेवजीने सुनते ही कानोंपर हाथ रखते हुए और अपने दाँतोंसे जीभ काटते हुए कहा—'पप्पा रे पप्पा! अगस्त्यजीका पेट कौन भर सकेगा? देवि! तुम इस विचारको छोड़ दो, किसी दूसरे ब्राह्मणको भोजन करा दो।' जगन्माता पार्वतीदेवीको अपनी शक्तिका गर्व था। उन्होंने कुछ अभिमानके स्वरमें कहा—'क्या

आचार्यकी ऐसी गूढ़ बातको सुनकर प्रभु मन-ही-मन मुस्कराये और नित्यानन्दजीकी ओर देखने लगे। नित्यानन्दजी बालकोंकी तरह कहने लगे—'इधर आठ-दस दिनसे ठीक-ठीक भोजन ही नहीं मिला। व्रत-सा ही हुआ है, आज व्रतका खूब पारायण होगा। आचार्य महाराज जल्दीसे क्यों नहीं लाते?'

आचार्यने कुछ हँसते हुए भाँति-भाँतिके पदार्थोंको दोनों भाइयोंके सामने रखा। प्रभु उनमें खट्टे, मीठे, चरपरे और अनेक प्रकारके मीठे और घृतमें सने हुए पदार्थोंको देखकर कहने लगे—'आचार्यदेव! आप ही तो

मैं एक अगस्त्यजीका भी पेट न भर सकूँगी। वे कितना भी खायँ, मैं सब प्रबन्ध कर लूँगी।' शिवजीने कहा—'देवि! तुम अपना हठ छोड़ दो। अगस्त्यजी तो बडवानलके साक्षात् अवतार हैं, उन्हें तृप्त करना कोई हँसी-खेल नहीं है। और भी तो ज्ञानी-तपस्वी, ऋषि-महर्षि बहुतेरे हैं।' बाल-हठ और त्रिया-हठ ये ही तो दो प्रसिद्ध हठ हैं। पार्वतीजी अगस्त्यजीके ही निमन्त्रणपर अड़ गयीं। शिवने कहा—'अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा, किन्तु तुम्हीं सब करना-धरना। मैं इस चक्करमें न पड़ूँगा। तुम्हारे कहनेसे उन्हें निमन्त्रण दिये आता हूँ।' इतना कहकर शिवजी अगस्त्य-मुनिको निमन्त्रित कर आये। ठीक समयपर अगस्त्य भगवान् पधारे। पार्वतीजीने हजारों यक्ष, किन्नर तथा देवताओंकी स्त्रियाँ भाँति-भाँतिकी भोज्य-सामग्रियाँ बनानेके लिये बुला ली थीं। उन्होंने बहुत-से सामान बनाये। अगस्त्यजी भोजन करने बैठे। वे खट्टे, मीठे, नमकीन आदि किसी प्रकारके पदार्थका स्वाद नहीं देखते। जो सामने आया 'स्वाहा'। इस प्रकार सभी सामानको चट कर गये। जो सामने आता जाय उसे ही उड़ाते जायँ। अब तो पार्वतीजी घबड़ायीं। वे लज्जाके कारण शिवजीसे भी नहीं कहती थीं, किन्तु दूसरा कोई उपाय ही नहीं था। अन्तमें ये कालकूटके भक्षण करनेवाले शिवजीकी

सोचें इतने सुन्दर-सुन्दर पदार्थोंको खाकर संन्यासी अपने धर्मकी रक्षा किस प्रकार कर सकता है? क्या इन पदार्थोंको खाकर संन्यासी अपनी इन्द्रियों-का संयम कर सकेगा? आपने इतने पदार्थ क्यों बनवाये।'

ही शरणमें गयीं। हँसकर शिवजीने कहा—'देवि! मैंने पहले ही कहा था। तुम कितना भी खिलाती रहो, ये महात्मा तृप्त न होंगे और बिना तृप्त हुए ये उठेंगे नहीं। इन्हें तो कोई छलसे ही उठा सकता है और छलकी विद्या विष्णुके सिवा कोई दूसरा जानता नहीं इसलिये मैं उन्हींके पास जाता हूँ।' यह कहकर शिवजी विष्णुभगवान्के पास पहुँचे। सब वृत्तान्त सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—'पार्वतीजीने हमारा तो कभी निमन्त्रण किया नहीं, अब आपत्तिके समय हमें बुलाया है। हमें भी भोजन करावें, तो चलें।' शिवजीने अपनी जटाओंपर हाथ फेरते हुए कहा—'महाराज, एक ब्राह्मणसे तो निबट लें, तब आपकी देखी जायगी। चलो जैसे हो वैसे उनके इस सङ्कटको छुड़ाओ।' शिवजीकी प्रार्थनापर भगवान् आकर अगस्त्यजी-के साथ भोजन करने लगे। भोजन करते-करते ही बीचमें विष्णु-भगवान् झटसे उठ पड़े। नीतिका वचन है कि पंक्तिमें एकके उठ जानेपर दूसरेको भोजन नहीं करना चाहिये। विवश होकर अगस्त्यजी भी उठ पड़े। वे भगवान्के ऊपर बड़े नाराज हुए। क्रुद्ध होकर कहने लगे 'आपने बीचमें उठकर यह अच्छा काम नहीं किया। मेरा पेट भी नहीं भरा, अब मुझे जल तो पी लेने दो।' हाथ जोड़कर भगवान्ने कहा—'दया करो महाराज, भोजन तो आपको थोड़ा-बहुत करा भी दिया। आपको जल पिलानेकी सामर्थ्य नहीं है। मैं इकट्ठा ही कभी आपको जल पिलाऊँगा।' उस वादेको भगवान्ने समुद्रका सम्पूर्ण जल पिलाकर पूरा किया। यहाँपर सीतादेवी तो पार्वती हैं, आचार्य शिवस्वरूप हैं, नित्यानन्दको अगस्त्य बताकर आचार्य विनोद कर रहे हैं। महाप्रभुको विष्णु बताकर नित्यानन्दजीके भयसे बचना चाहते हैं।

हँसते हुए आचार्यने कहा—'आप जैसे संन्यासी हैं, उसे तो मैं खूब जानता हूँ। मेरे सामने बहुत मत बनिये। चुपचाप जैसा मेरे घरमें रूखा-सूखा मुट्ठीभर अन्न है, उसे ही ग्रहण कर लीजिये।'

प्रभुने कहा—'तब फिर आप भी हमारे साथ बैठकर भोजन कीजिये। और आपने यह दस-दस आदमियोंके खानेयोग्य पदार्थ हमलोगोंके सामने क्यों परोस दिये हैं, इन्हें कौन खायँगे ?'

हँसकर आचार्यने कहा—'जगन्नाथजीमें तो भक्तोंके अर्पण किये हुए भाँति-भाँतिके कई मन पदार्थोंको अनेकों बार उड़ा जाते हो, यहाँ इतना अन्न भी न खा सकोगे; जगन्नाथजीकी अपेक्षा तो ये दो ग्रास भी नहीं हैं।'

प्रभु आचार्यकी इस अत्युक्तिसे कुछ लज्जित-से हुए और कहने लगे—'नहीं, सचमुच पदार्थ बहुत अधिक हैं, थोड़े निकाल लीजिये। संन्यासीको उच्छिष्ट छोड़नेका विधान नहीं है, यदि मुझे और आवश्यकता होगी तो फिर ले लूँगा।'

प्रभुके अत्यन्त आग्रह करनेपर आचार्य उस आहारमेंसे कुछ कम करने लगे। इतनेमें ही नित्यानन्दजी बोल उठे—'आप दोनों झगड़ा करते रहें। मेरी तो इन इतने सुन्दर-सुन्दर व्यञ्जनोंको देखकर लार टपकी पड़ती है, मैं तो खाता हूँ। यह देखो, यह लड्डू गपक! यह देखो, यह रबड़ी साड़ सड़ाबड़ सड़बड़ सड़बड़ सूँ। ऐसा कहते-कहते और हँसते-हँसते वे रबड़ी और खीरको सबड़ने लगे। प्रभुने भी भोजन करना आरम्भ किया। प्रभुके पात्रोंसे जो वस्तु चुक जाती उसे उसी समय आचार्य उतनी ही मात्रामें फिर परोस देते। प्रभु बहुत मना करते, किन्तु आचार्य उनकी एक भी नहीं सुनते थे। इस प्रकार उनके सामने सब पदार्थ ज्यों-के-त्यों ही बने रहते और आचार्य उनसे पुनः खानेके लिये आग्रह करते।

बीच-बीचमें आचार्यदेव नित्यानन्दजीसे विनोद भी करते जाते थे। आचार्यदेव कहने लगे—'अवधूत महाराज, आपका पेट भर देना तो अत्यन्त ही कठिन है, क्योंकि आप अगस्त्यजीसे कुछ कम नहीं हैं, किन्तु देखना उच्छिष्ट न रहने पावे।'

नित्यानन्दजी कहते—'उच्छिष्ट क्यों रहेगा, परोसते जाओ, आज ही तो बहुत दिनोंमें भोजनोंका सुयोग प्राप्त हुआ है। आज ऐसे ही थोड़े उठकर जाऊँगा। आज तो खूब नरपेट भोजन करूँगा।'

आचार्य बनावटी दीनता दिखाकर हाथ जोड़े हुए बोले—'दया करो बाबा! आपका पेट भरना सहज काम नहीं है। मैं ठहरा गरीब ब्राह्मण! मैं कहाँसे आपके लिये इतना अन्न लाऊँगा? मुट्ठी-दो-मुट्ठी जो कुछ रूखा-सूखा अन्न है उसे ही खाकर सन्तुष्ट हो रहो।'

इस प्रकार आचार्य और नित्यानन्दजीमें परस्पर विनोदकी बातें होती जाती थीं। प्रभु दोनोंके प्रेम-कलहको देखकर खूब हँसते जाते थे। इस प्रकार आचार्यदेवकी इच्छाके अनुसार प्रभुने खूब पेटभर भोजन किया। नित्यानन्दजीने भी अन्य दिनोंकी अपेक्षा दुगुना-तिगुना भोजन किया और अन्तमें एक मुट्ठी चावल अपनी थालीमेंसे लेकर आचार्यके ऊपर फेंकते हुए कहने लगे—'लो, अब आपके ऊपर दया करके उठ पड़ता हूँ, वैसे पेट तो मेरा अभी भरा नहीं है।'

आचार्यने कुछ बनावटी क्रोध प्रकट करते हुए कहा—'श्रीविष्णु! श्रीविष्णु!! यह आपने क्या किया? मेरा सभी धर्म-कर्म नष्ट कर दिया। भला जिसके जाति-कुलका कुछ भी पता न हो, ऐसे घर-घरसे माँगकर खानेवाले अवधूतके उच्छिष्ट अन्नका शरीरसे स्पर्श हो गया, अब इसका क्या प्रायश्चित्त किया जाय?

नित्यानन्दजीने कहा— उच्छिष्ट-स्पर्शसे पाप नहीं हुआ है, विष्णु-भगवान्के प्रसादमें उच्छिष्ट-भावना रखनेका पाप हुआ है। सो इसका यही प्रायश्चित्त है कि पचास संन्यासी महात्माओंको भोजन कराइये और उनमें मैं अवश्य रहूँ।'

आचार्य बनावटी आश्चर्य प्रकट करते हुए कहने लगे—'ना बाबा! संन्यासियोंसे भगवान् दूर ही रखे। ये सबका धर्म-कर्म नष्ट करके अपना-सा ही बनाना चाहते हैं। अपने घरसे जो बढ़ती हो वह संन्यासियोंको भोजन करावे, मैं तो अपने घरमें अकेला ही हूँ।' इस प्रकार हास-परिहासमें ही भोजन समाप्त हुआ। आचार्यने दोनों संन्यासी भाइयोंके हाथ धुलाये और उन्हें लवंग इलाइची आदि खानेके लिये दीं। प्रभु तीन-चार दिनके थके हुए थे, अतः वे भोजन करके विश्राम करनेके लिये बाहर-वाले मकानमें चले गये। एक सुन्दर तख्तपर आचार्यने शीतलपाटी बिछा दी, उसीके ऊपर अपना काषाय वस्त्र बिछाकर प्रभु आराम करने लगे। आचार्यदेव उनके चरणोंको दबानेके लिये बढ़े। आचार्यके हाथोंसे बल-पूर्वक अपने चरणोंको छुड़ाते हुए प्रभु कहने लगे—'आप मुझे इस प्रकार लज्जित करेंगे, तो मुझे बड़ा भारी दुःख होगा। मैं तो आपके पुत्र अच्युतके समान हूँ। मुझे स्वयं आपके चरण दबाने चाहिये, अब आप हरिदास और मुकुन्द दत्त आदि भक्तोंको भोजन कराकर स्वयं भी भोजन कीजिये।'

प्रभुकी ऐसी आज्ञा पाकर आचार्य घरके भीतर गये और सभी भक्तोंको भोजन करानेके अनन्तर उन्होंने स्वयं भी प्रसाद पाया, और फिर प्रभुके ही समीप आकर बैठ गये।

तीसरे पहर अत्यधिक थक जानेके कारण प्रभुकी कुछ-कुछ आँखें झपने लगीं, उन्हें थोड़ी-थोड़ी नींद आ गयी थी, सहसा उनके कानोंमें

गगनभेदी हरिध्वनि सुनायी पड़ी। उस तुमुल ध्वनिके सुनते ही प्रभु चौंक पड़े और उठकर बैठे हो गये।

अपने चारों ओर देखते हुए प्रभु आचार्यसे पूछने लगे—'आचार्य-देव! यह इतनी भारी हरिध्वनि कहाँसे सुनायी पड़ रही है?'

आचार्यने कहा—'मालूम पड़ता है, नवद्वीपसे बहुत-से भक्त प्रभुके दर्शनोंके लिये आ रहे हैं।' यह कहते-कहते आचार्य बाहर निकलकर देखने लगे। थोड़ी देरमें उन्हें सामनेसे श्रीवास, रमाई, पुण्डरीक विद्यानिधि, गंगादास, मुरारी गुप्त, शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी, बुद्धिमन्त खाँ, नन्दनाचार्य, श्रीधर, विजयकृष्ण, वासुदेव घोष, दामोदर, मुकुन्द, संजय आदि बहुत-से भक्त खोल, करताल लिये हुए और हरिध्वनि करते हुए आते हुए दिखायी देने लगे। उन्होंने उल्लासके साथ जोरोंसे चिल्लाकर कहा—'प्रभो! सबके सब आ रहे हैं। कोई भी बाकी नहीं बचा। बाकी कैसे बचे, जहाँ राजा वहाँ ही प्रजा। भक्त भगवान्‌से पृथक् रह ही कैसे सकते हैं।' आचार्यकी ऐसी बात सुनकर प्रभु जल्दीसे जैसे बैठे थे, वैसे ही बाहर निकल आये। भक्तोंको सामनेसे आते हुए देखकर प्रभु उनकी ओर दौड़े। उस समय प्रभु प्रेममें ऐसे विभोर हो रहे थे कि उन्हें सामनेके ऊँचे चबूतरेका ध्यान ही नहीं रहा। वे ऊपरसे एकदम कूद पड़े। प्रभुको अपनी ओर आते देखकर भक्त वहींसे प्रभुके लिये साष्टाङ्ग करने लगे। बहुत दूरतक भक्तोंकी लम्बी पड़ी हुई पंक्ति-ही-पंक्ति दिखायी देती थी। प्रभुने जल्दीसे जाकर सबको उठाया। किसीको गलेसे लगाया, किसीको स्पर्श किया, किसीका हाथ पकड़ा, किसीको स्वयं प्रणाम किया और किसीकी ओर खाली देख ही भर दिया। इस प्रकार विविध प्रकारसे प्रभुने सभीको सन्तुष्ट कर दिया। प्रभुको संन्यासी-वेषमें सामने खड़े देखकर भक्त आनन्द और दुःखके कारण रुदन कर रहे थे। वे प्रभुके केशशून्य

मस्तकको देखकर पछाड़ खा-खाकर गिरने लगे। प्रभु श्रीवास पण्डितका हाथ पकड़े हुए आगे-आगे चलने लगे। अद्वैताचार्य भी उनके पीछे थे। उनके पीछे सभी नवद्वीपके भक्त चल रहे थे। प्रभुको आगे जाते देखकर चन्द्रशेखर आचार्यरत्नने आगे बढ़कर कहा—'प्रभो! शचीमाता भी आयी हुई हैं?'

इतना सुनते ही प्रभु चौंककर खड़े हो गये और सम्भ्रमके सहित पूछने लगे—'कहाँ हैं?'

आचार्यरत्नने धीरेसे कहा—'इस पासके नीमके समीप ही उनकी पालकी रखी हुई है।' इस बातको सुनते ही प्रभु जल्दीसे पीछे लौट पड़े। अद्वैताचार्य तथा अन्य भक्त भी प्रभुके पीछे-पीछे चले। दूरसे ही पालकीमें बैठी हुई माताको देखकर प्रभुने भूमिमें लोटकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। पुत्रवियोगसे दुखी हुई वृद्धा माताने पालकीमेंसे उतरकर अपने संन्यासी पुत्रका आलिंगन किया और उनके केशशून्य मस्तकपर हाथ फिराती हुई कहने लगीं—'निमाई! संन्यासी होकर तू मुझे प्रणाम करके और अधिक पापका भागी क्यों बनाता है? तैंने जो किया सो तो अच्छा ही किया। अब तू मेरे घर रहनेयोग्य तो रहा ही नहीं, किन्तु बेटा! इस अपनी दुःखिनी बूढ़ी माताको एकदम भूल मत जाना। तू भी विश्वरूपकी तरह निष्ठुर मत बन जाना। उसने तो जिस दिनसे घर छोड़ा है, आजतक सूरत ही नहीं दिखायी। तू ऐसा मत करना।' इतना कहते-कहते माता अधीर होकर गिर पड़ी। प्रभु भी अचेत होकर माताकी गोदीमें पड़ गये और छोटे बालककी भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। रोते-रोते वे कहने लगे—'माँ, मैं चाहे कैसा भी संन्यासी क्यों न हो जाऊँ, तुम मेरी माता हो और मैं तुम्हारा सदा पुत्र ही बना रहूँगा। जननी! मैं तुम्हारे ऋणसे कभी भी उऋण नहीं हो सकता। माता!
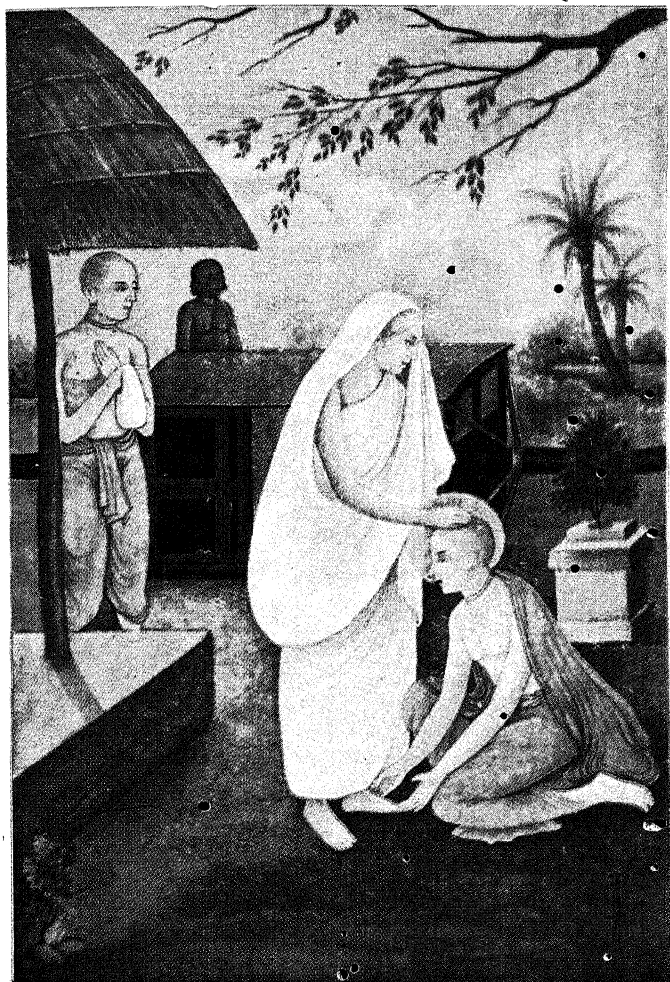
मातृ-दर्शन
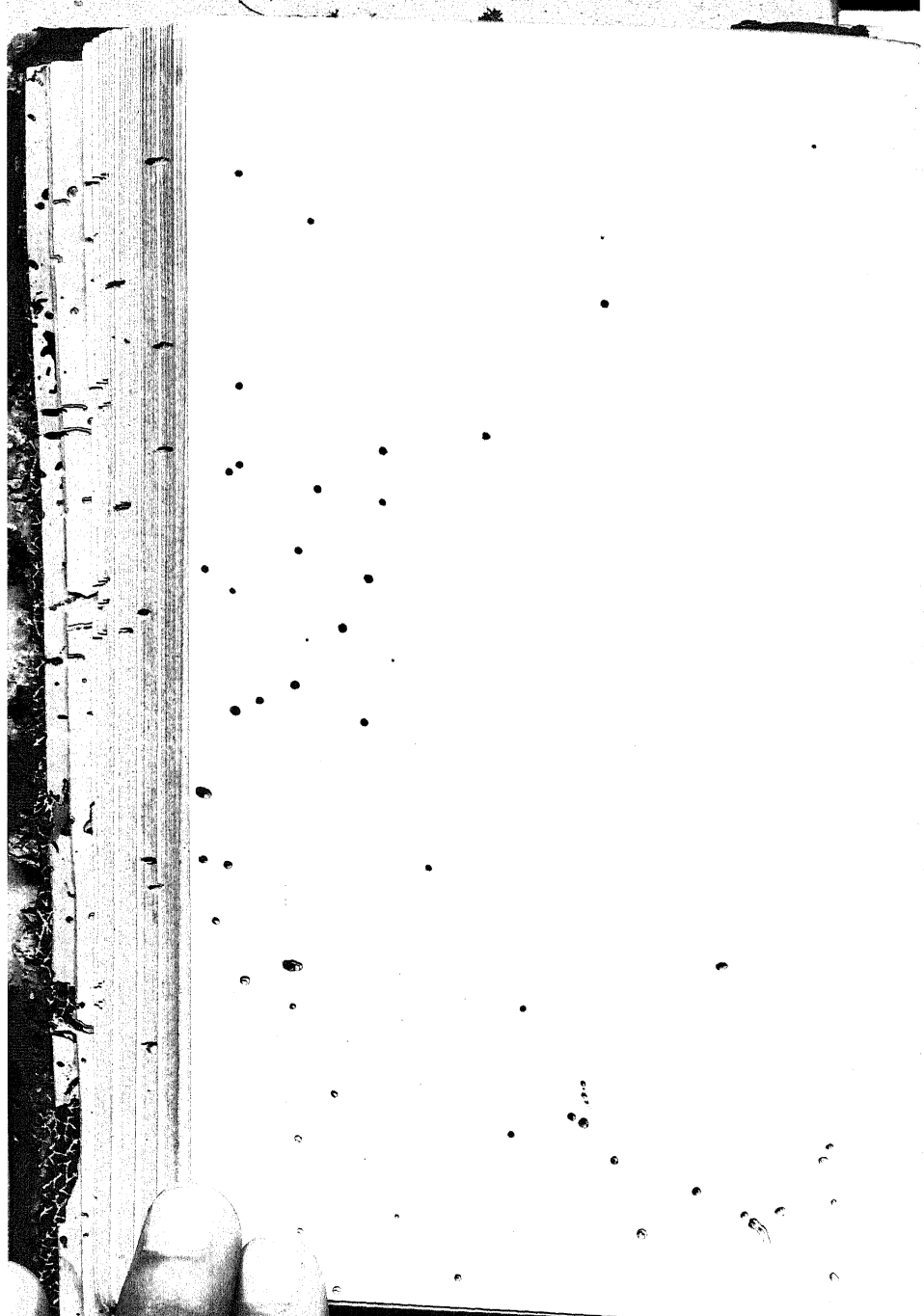
मैंने जल्दीमें बिना सोचे-समझे ही संन्यास ग्रहण कर लिया है, फिर भी मैं तुमसे पृथक् नहीं होऊँगा, जहाँ तुम्हारी आज्ञा होगी, वहीं रहूँगा।'

प्रभुके ऐसे सान्त्वनापूर्ण प्रेम-वचनोंको सुनकर माताको कुछ सन्तोष हुआ, उन्होंने अपने अञ्चलसे प्रभुके अश्रुओंको पोंछा और उन्हें छोटे बच्चेकी भाँति पुचकारने लगीं।

अद्वैताचार्यने प्रभुसे घरपर चलनेकी प्रार्थना की। प्रभु खड़े हो गये और कहार पालकी उठाकर आचार्यके घरकी ओर चलने लगे। महाप्रभु पालकीके पीछे-पीछे चलने लगे। उनके पीछे बहुत-से भक्त जोरोंसे संकीर्तन करते हुए चल रहे थे। द्वारपर पहुँचकर आचार्यदेवकी धर्मपत्नी सीतादेवीने आगे बढ़कर शचीमाताको पालकीसे नीचे उतारा और अपने साथ उन्हें भीतर घरमें ले गयीं। भक्तवृन्द बाहर खड़े होकर संकीर्तन करने लगे।

शचीमाताका संन्यासी पुत्रके प्रति मातृ-स्नेह

शीलानि ते चन्दनशीतलानि

श्रुतानि भूमीतलविश्रुतानि।

तथापि जीर्णौ पितरावतस्मिन्

विहाय हा वत्स ! कथं प्रयासि ॥*

(सु० र० भां० ३७८ । १२)

पुत्र ही माताकी आत्मा है। पुत्र माताके शरीरका एक प्रधान भाग है। पुत्रकी सन्तुष्टिमें माताको सन्तोष होता है। पुत्रकी प्रसन्नतासे

---

* हे पुत्र ! तेरा स्वभाव चन्दनसे भी अधिक शीतल है, तेरे शास्त्रज्ञानकी सम्पूर्ण पृथिवीपर ख्याति हो रही है। इतना कोमल हृदय और ज्ञानी होनेपर भी हाय ! बेटा ! तू अपनी वृद्धा माता आदिको परित्याग करके वनके लिये क्यों जा रहा है ?

माताको प्रसन्नता होती और पुत्रकी तुष्टिमें माता स्वयं अपने तन-मनकी तुष्टिका अनुभव करती है। माताकी एक ही सबसे बड़ी साध होती है, वह अपने प्रिय पुत्रको अपने सामने खाते हुए देखना चाहती है। अपनी शक्तिके अनुसार जितने अच्छे-अच्छे पदार्थ वह अपने पुत्रको खिला सकती है, उतने पदार्थोंको उसे खिलाकर वह इतनी प्रसन्न होती है, जितनी प्रसन्नता उसे स्वयं खानेसे प्राप्त नहीं होती। पुत्र चाहे बूढ़ा भी क्यों न हो जाय, उसके पाण्डित्यका, उसकी बुद्धिका, उसके ऐश्वर्यका चाहे सम्पूर्ण संसार ही लोहा क्यों न मान ले किन्तु माताके लिये वह पुत्र सदा छोटा बालक ही बना रहता है, वह आते ही उसके पेटको देखने लगती है कि कहीं भूखा तो नहीं है। जाते समय वह उससे वस्त्रोंको ठीक तौरसे सम्हालकर रखनेका आदेश करती है। छोटी-छोटी बातोंको वह इस तरहसे बताती है, मानो उसे मार्गके सम्बन्धमें कुछ बोध ही न हो। पुत्रके लिये जलपानका सामान बाँधना वह नहीं भूलती। इसीलिये नीतिकारोंने कहा है—

मात्रा समानं न शरीरपोषणम्।

अर्थात् माताके समान शरीरका पोषण करनेवाला दूसरा व्यक्ति नहीं है।

शचीमाताने अपने निमाईको संन्यासी-वेषमें देखा। यद्यपि अब प्रभु पहलेकी भाँति श्वेत वस्त्र धारण नहीं कर सकते थे। उनके सिरके सुन्दर बाल अब सुगन्धित तैलोंसे नहीं सींचे जाते थे, अब वे धातुके पात्रोंमें भोजन नहीं कर सकते थे, अब उनके लिये एकका ही अन्न खाते रहना निषेध है, तब भी इन बाहरी बातोंसे क्या होता है? माताके लिये तो उसका पुत्र वही पुराना निमाई ही है। सिर मुँड़ाने और कपड़े

रँग लेनेसे उसके निमाईमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। माता उसी तरह प्रभुके ऊपर प्यार करती।

वह स्वयं अपने हाथोंसे प्रभुके भोजनके लिये भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनाती। वह प्रभुके स्वभावसे पूर्णरीत्या परिचित थी। उसे इस बातका पता था, कि निमाई किन-किन पदार्थोंको खूब प्रेमपूर्वक खाता है, उन्हीं सब पदार्थोंको माता खूब सावधानीके साथ बनाती और अपने हाथसे परसेसकर प्रभुको खिलाती। प्रभु भी माताके सन्तोषके निमित्त सभी पदार्थोंको खूब रुचिपूर्वक खाते और भोजन करते-करते पदार्थोंकी प्रशंसा भी करते जाते थे। प्रभुके भोजन कर लेनेके अनन्तर शचीमाता और सीतादेवी दोनों मिलकर अन्य सभी भक्तोंको प्रेमके सहित भोजन करातीं। सबको भोजन करानेके पश्चात् स्वयं भोजन करतीं। इस प्रकार आचार्यदेवका घर उस समय उत्सव-मण्डप बना हुआ था। प्रातःकाल सभी भक्त उठकर संकीर्तन करने लगते, इसके अनन्तर सभी प्रभुको साथ लेकर नित्य-कर्मोंसे निवृत्त होनेके लिये गंगा-किनारे जाते, सभी भक्त मिलकर गंगाजीकी सुन्दर बालुकामें भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करते रहते। अनन्तर संकीर्तन करते हुए आचार्यके घरपर आ जाते। तबतक शचीमाता भोजन बनाकर तैयार कर रखती। प्रभुके भोजनके अनन्तर सभी भक्त प्रसाद पाते। फिर तीसरे पहरसे श्रीकृष्ण-कथा छिड़ जाती। सभी भगवान्‌के गुणोंका वर्णन करते तथा श्रीकृष्ण-कथा श्रवण करके अपने कर्णोंको धन्य करते। सायंकालको फिर गंगा-किनारे चले जाते और प्रभुके साथ अनेक भक्ति-सम्बन्धी गूढ़ विषयोंपर बातें करते रहते। प्रभु अपने सभी अन्तरङ्ग भक्तोंको भक्ति-तत्त्वका रहस्य समझाते, उन्हें उपासनाकी पद्धति बताते और संकीर्तनकी अपेक्षा जप करनेपर अधिक जोर देते। भगवन्नामका जप किसी भी तरहसे किया

जाय, वही कल्याणप्रद होता है। उसमें संकीर्तनके समान दस-पाँच आदमियोंकी तथा खोल-करताल आदि वाद्योंकी भी अपेक्षा नहीं रहती। मनुष्य हर समय, हर स्थानमें, हर अवस्थामें भगवन्नामका जप कर सकता है। वे शिवजीके इस वाक्यको बार-बार दुहराते—

'जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिर्वरानने !'

'अर्थात् हे पार्वतीजी ! मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ, कि जपसे ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है।' किसी भक्तको कोई शंका होती तो उसका समाधान प्रभु स्वयं करते। गंगाजीसे लौटनेपर संकीर्तन आरम्भ हो जाता। उन दिनों संकीर्तनमें बड़ा ही अधिक आनन्द आता था। सभी भक्त आनन्दमें बेसुध होकर नृत्य करने लगते। अद्वैताचार्यकी तो प्रसन्नताका ठिकाना नहीं था। वे अपने सौभाग्यकी सराहना करते-करते अपने आपेको भूल जाते। अपने घरमें नित्य प्रति ऐसे समारोहके उत्सवको देखकर उनकी अन्तरात्मा बड़ी ही प्रसन्न होती। कीर्तनके समय वे जोरोंसे भावावेशमें आकर नृत्य करने लगते। नृत्य करते-करते वृद्ध आचार्य अपनी अवस्थाको एकदम भूल जाते और युवकोंकी तरह उछल-उछलकर कूद-कूदकर नाचने लगते। नाचते-नाचते बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ते। घण्टों इसी प्रकार बेहोश हुए पड़े रहते। भक्तोंके उठानेपर बड़ी कठिनतासे उठते।

महाप्रभु अब संकीर्तनमें बहुत कम नृत्य करते थे किन्तु जिस दिन भावावेशमें आकर नृत्य करने लगते, उस दिन उनकी दशा बहुत ही विचित्र हो जाती। उनके सम्पूर्ण शरीरके रोम बिल्कुल सीधे खड़े हो जाते, नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा बहने लगती, मुँहसे झाग निकलने लगते और 'हरि-हरि' बोलकर इतने जोरोंसे नृत्य करते थे, कि देखनेवालोंको यही प्रतीत होता था, कि प्रभु आकाशमें स्थित होकर नृत्य कर

रहे हैं। भक्तगण आनन्दमें विह्वल होकर प्रभुके चरणोंके नीचेकी धूलिको उठाकर अपने सम्पूर्ण शरीरमें म ऽ लेते और अपने जीवनको सफल हुआ समझते। इस प्रकार दस दिनोंतक प्रभुने अद्वैताचार्यके घरपर निवास किया।

नवद्वीप तथा शान्तिपुरके सभी भक्तोंकी यह इच्छा होती कि प्रभुको एक-एक दिन हम भी भिक्षा करावें, किन्तु माता उन सबसे दीनतापूर्वक कहती—'तुम सब मुझ अभागिनीके ऊपर कृपा करो। तुम सब तो जहाँ भी निमाई रहेगा वहीं जाकर इसे भिक्षा करा आओगे। मुझ दुःखिनीको अब न जाने कब ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा। मेरे लिये तो यही समय है। मैं तुम सभीसे इस बातकी भीख माँगती हूँ, कि जबतक निमाई शान्तिपुर रहे तबतक वह मेरे ही हाथका बना हुआ भोजन पावे। अब उसके ऊपर मेरे ही समान तुम सब लोगोंका अधिकार है किन्तु मेरी ऐसी ही इच्छा है।' माताकी ऐसी बात सुनकर सभी चुप हो जाते और फिर प्रभुके निमन्त्रणके लिये आग्रह न करते। इस प्रकार अपनी जननीके हाथकी भिक्षाको पाते हुए और सभी भक्तोंके आनन्दको बढ़ाते हुए श्रीअद्वैताचार्यके आग्रहसे प्रभु शान्तिपुरमें निवास करने लगे। प्रभु शान्तिपुरमें ठहरे हुए हैं, इस बातका समाचार सुनकर लोग बहुत-बहुत दूरसे प्रभुके दर्शनोंको आया करते। इस प्रकार शान्तिपुरमें प्रभुके रहनेसे एक प्रकारका मेला-सा ही लग गया।

प्रेमावतार चैतन्यदेव मातृस्नेह और अद्वैताचार्यके प्रेमाग्रहके ही कारण दश दिनोंतक शान्तिपुरमें ठहरे रहे।

पुरी-गमनके पूर्व

श्रीकृष्णचरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम्।
जगत् सत्यमसत्यं वा नेतरेति मतिर्मम॥*

(श्रीधरस्वामी)

भगवान्का स्वरूप निर्गुण है या सगुण ? जगत् मिथ्या है या सत्य ? हृदयमें ऐसी शंकाओंके उत्पन्न होनेसे ही पता चल जाता है, कि अभी हम भगवत्कृपा प्राप्त करनेके पूर्ण अधिकारी नहीं बन सके। जिनके ऊपर भगवान्की पूर्ण कृपा हो चुकी है, उनके मस्तिष्कमें ऐसे प्रश्न उठकर उनके चित्तमें विक्षेप उत्पन्न नहीं करते। भगवान् सगुण हों या निर्गुण, साकार हों या निराकार; यह जगत् सत्य हो अथवा त्रिकालमें भी उत्पन्न न हुआ हो, उच्च साधकोंको इन बातोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं, वे तो यथाशक्ति सभी संसारी परिग्रहोंका परित्याग करके प्रभुके पादपद्मोंमें प्रेम करनेके निमित्त पागल-से बन जाते हैं। वे जगत्की सत्यता और मिथ्यात्वकी उलझनोंको सुलझानेमें अपना अमूल्य समय बरबाद नहीं करते। क्या घटघटव्यापी भगवान् हमारे हृदयकी बातको जानते नहीं ?

*** जिन्होंने श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंको ही सत्य मान लिया है, उनके लिये चाहे संसार सत्य हो अथवा असत्य, इस बातकी ओर वे ध्यान नहीं देते। जगत्के सत्यत्व अथवा मिथ्यात्वके कारण उनकी बुद्धि विभ्रममें नहीं पड़ती।**

क्या वे सर्वशक्तिमान् नहीं हैं? क्या उनका चित्त दयाभावसे भरा हुआ नहीं है? यदि हाँ, तो वे हमारे हृदयकी सच्ची लगनको समझ दयाके वशीभूत होकर जैसे भी निराकार अथवा साकार होंगे, हमारे सामने प्रकट हो जायँगे। हम द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैतके झमेलेमें क्यों पड़ें? किन्तु ऐसी भावना सबको नहीं हो सकती। जो मस्तिष्क-प्रधान हैं वे बिना सोचे रह ही नहीं सकते, उन्हें समझाकर ही श्रद्धा उत्पन्न करानी होगी और उस श्रद्धाके सहारे ही उन्हें सत्यतक पहुँचाना होगा, इसीलिये महर्षियोंने वेदान्तशास्त्रका उपदेश किया है। वेदके अन्तिम भागको वेदान्त कहते हैं। उसका सम्बन्ध विचारसे है। किन्तु हृदयप्रधान तो विचारकी इतनी अधिक परवा नहीं करते, वे तो 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' कहते-कहते ही अपने प्यारेके पादपद्मोंतक पहुँचकर सदा उन्हींके हो रहते हैं। उन्हींके क्या, तद्रूपही-से बन जाते हैं, किन्तु सबको ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सकता। जिनके ऊपर उनका अनुग्रह हो वही इस पथका पथिक बन सकता है।

इसपर यह भी शंका हो सकती है, कि फिर 'श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण' कहनेवाला अज्ञानी ही बना रहेगा और बिना ज्ञानके संसार-बन्धनसे मुक्ति नहीं हो सकती 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', तब फिर वह मूर्ख भक्त प्रभुके पादपद्मोंतक कैसे पहुँच सकता है? इसका सीधा उत्तर यही है, कि जो सर्वस्व त्याग करके भगवान्की ही शरणमें अनन्यभावसे आ गया हो, सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान्, जिनका स्वरूप ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' है उसे ज्ञानहीन कैसे बना रहने देंगे? उनकी शरणमें आते ही हृदयकी ग्रन्थियाँ आप-से-आप ही खुल जायँगी, बिना प्रयासके ही उसके सभी संशय दूर हो जायँगे, कर्म-अकर्मकी जटिल समस्याओंको बिना सुलझाये ही उसके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जायँगे। भगवत्-शरणागतिमें यही तो

सुलभता, सरलता और सरसता है। आकाश-पाताल एक भी न करना पड़े और आनन्द भी सदा बना रहे, सदा उस अद्भुत रसका पान ही करते रहें। किन्तु इस अनन्य उपासना और भगवत्-प्रपन्नताके लिये सभी संसारी-परिग्रहोंका पूर्ण त्याग करना होगा। तभी उस अद्भुत आशवकी प्राप्ति हो सकती है। खाली ढोंग बना लेने और भेदभावके संकुचित क्षेत्रमें ही बँधे रहनेसे काम न चलेगा।

महाप्रभुको अद्वैतवादी संन्यासियोंकी पद्धतिसे दीक्षा लेने और दण्ड धारण करनेसे अद्वैताचार्यजीको शंका हुई। उन्होंने प्रभुसे पूछा—'प्रभो! आपने अद्वैतवादियोंकी भाँति यह संन्यास-धर्म क्यों ग्रहण किया? आपके सभी कार्य अलौकिक हैं, आपकी लीला जानी नहीं जा सकती। *

इस प्रश्नको सुनकर कुछ मुस्कराते हुए प्रभुने कहा—'आचार्यदेव! आप तो स्वयं विद्वान् हैं। आप विचारकर स्वयं ही देखें, क्या मैं अद्वैतके सिद्धान्तको नहीं मानता? आप ही सोचें, आपमें और ईश्वरमें चिह्नादि-मात्रका ही प्रभेद दिखायी देता है। वस्तुतः तो दूसरा कोई अन्य भेद प्रतीत ही नहीं होता। †

इस उत्तरको सुनकर हँसते हुए अद्वैताचार्य कहने लगे—'धन्य हैं भगवन्! आप तो वाणीके स्वामी हैं, आपके सामने तो कुछ कहते ही नहीं बनता।' ‡

---

* अद्वैतः—केयं लीला व्यरचि भवता योऽयमद्वैतभाजा-
मत्यन्तेष्टस्तमधृत भवानाश्रमं यत्तुरीयम्।

† भगवान् विहस्य—भो अद्वैत स्मर किमु वयं हन्त नाद्वैतभाजो
भेदस्तस्मिंस्त्वयि च यदि वा रूपतो लिङ्गतश्च॥
(चै० चं० नाटक)

‡ अद्वैतः—वाणीश्वरेण किमुचितं वचनानुवचनम्।
(चै० चं० ना०)

तब प्रभुने बहुत ही गम्भीरताके साथ कहा—

विना सर्वत्यागं भवति भजनं नह्यसुपते-
रिति त्यागोऽस्माभिः कृत इह किमद्वैतकथया।
अयं दण्डो भूयान् प्रबलतरसो मानसपशो-
रितीवाहं दण्डग्रहणमविशेषादकरवम्॥

(चै० चं० ना०)

'आचार्यदेव ! इसमें द्वैत-अद्वैतकी कौन-सी बात है? असली बात तो यह है, कि बिना सर्वस्व त्याग किये हृदयवल्लभ प्राणरमण उन श्रीकृष्णका भजन हो ही नहीं सकता। इसीलिये मैंने सर्वस्व त्यागकर संन्यास ग्रहण किया है। यह मन तो अत्यन्त ही चञ्चल पशुके समान है, यह सदा स्थिर-भावसे श्रीकृष्ण-चरणोंकी सुखमय शीतल छायामें बैठकर विश्राम ही नहीं करता, सदा इधर-उधर भटकता ही रहता है। इसीको ताड़न करनेके निमित्त मैंने यह दण्ड धारण किया है।'

प्रभुकी ऐसी गूढ रहस्यपूर्ण बात सुनकर अद्वैताचार्यको मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नता हुई। इसके अनन्तर अन्य बहुत-से भक्त प्रभुके संन्यासके सम्बन्धमें भाँति-भाँतिकी बातें करने लगे। कोई कहता—'प्रभु ! आपने संन्यास लेकर भक्तोंके साथ बड़ा भारी अन्याय किया है। पहले तो आपने अपने हाथोंसे प्रेमतरुकी स्थापना की, उसे संकीर्तनके सुन्दर सलिलसे सींचा और बढ़ाया। जब उसपर फल लगे और उनके पकनेका समय आया, तभी आपने उसे जड़से काट दिया। लोग अपने हाथसे लगाये हुए विष-वृक्षका भी उच्छेद नहीं करते। आपके बिना भक्त कैसे जीवेंगे? कौन उनकी करुण कहानियोंको सुनेगा? विपत्ति पड़नेपर भक्त किसकी शरणमें जायँगे? संकीर्तनमें अपने अद्भुत और अलौकिक नृत्यसे अब उन्हें कौन

आह्लादित करेगा ? कौन अब भक्तोंके सहित गङ्गातटपर जलविहार करावेगा ? कौन हमें निरन्तर कृष्ण-कथा सुनाकर सुखी और प्रमुदित बनावेगा ? प्रभो ! भक्त आपके वियोग-दुःखको सहन करनेमें समर्थ न हो सकेंगे।'

प्रभु भक्तोंको ढाँढस बँधाते हुए कहते—'देखो भाई ! घबड़ानेसे काम न चलेगा। अब जो होना था, सो तो हो ही गया। अब संन्यास छोड़कर गृहस्थी बननेकी सम्मति तो तुमलोग भी मुझे न दोगे। हम तुम सभी लोगोंके स्वामी अद्वैताचार्यजी यहाँ रहेंगे ही। मैं भी जगन्नाथपुरीमें निवास करूँगा। कभी-कभी तुमलोग मेरे पास आते-जाते ही रहोगे। मैं भी कभी-कभी गङ्गास्नानके निमित्त यहाँ आया करूँगा। इस प्रकार परस्पर एक दूसरेसे भेट होती ही रहेगी।'

इतनेमें ही चन्द्रशेखर आचार्यरत्न बोल उठे—'हम सबलोगोंको तो आप जैसे-तैसे समझा भी देंगे, किन्तु शचीमातासे क्या कहते हैं, वह तो आपके बिना जीना ही नहीं चाहतीं।'

प्रभुने कातर-भावसे कहा—'माताको मैं समझा ही क्या सकता हूँ ? आपलोग ही उसे समझावेंगे तो समझेगी। फिर माता जैसी आज्ञा देगी मैं वैसा ही करूँगा। यदि वह मुझसे घर रहनेके लिये कहेगी तो मैं वैसा भी कर सकता हूँ ?'

इतनेमें ही अश्रु-विमोचन करती हुई माता भी आ पहुँची। उन्होंने गद्गद कण्ठसे कहा—'निमाई ! क्या सचमुचमें तू हमें छोड़कर यहाँसे भी कहीं अन्यत्र जानेका विचार कर रहा है ?'

प्रभुने माताको समझाते हुए करुण स्वरमें कहा—'माता ! मैं तुम्हारी आज्ञाको उल्लंघन नहीं कर सकता। तुम जैसा कहोगी वैसा ही करूँगा। संन्यासीके लिये अपने घरके समीप तथा अपने सम्बन्धियोंके यहाँ इतने दिन रहनेका विधान ही नहीं है। अधिक दिनोंतक एकका अन्न

खाते रहना भी संन्यासीके लिये निषेध है, किन्तु मैंने तुम्हारी और आचार्यकी प्रसन्नताके निमित्त इतने दिनोंतक यहाँ रहकर तुम्हारे ही हाथकी भिक्षा की। अब मुझे कहीं अन्यत्र जाकर रहना चाहिये। मेरी इच्छा तो श्रीवृन्दावन जानेकी थी, किन्तु तुम सबका स्नेह मुझे बलपूर्वक यहाँ खींच लाया। अब तुम जहाँके लिये आज्ञा करोगी, वहीं रहूँगा। तुम्हारी आज्ञाके प्रतिकूल आचरण करनेकी मुझमें क्षमता नहीं है। माता! मैं सदा तुम्हारा रहा हूँ और रहूँगा।

अपने संन्यासी पुत्रके ऐसे प्रेमपूर्ण वचन सुनकर माताका हृदय भी पलट गया। इन प्रेमवाक्योंने मानो अधीर हुई माताके हृदयमें साहसका सञ्चार किया। माताने दृढ़ताके स्वरमें कहा—'बेटा! मेरे भाग्य-में जैसा बदा होगा, उसे मैं भोगूँगी। मुझे अपना इतना खयाल नहीं था, जितना कि विष्णुप्रियाका। वह अभी निरी अबोध बालिका है, संसारी बातोंसे वह एकदम अपरिचित है। किन्तु भावी प्रबल होती है, अब हो ही क्या सकता है? संन्यास त्यागकर फिर गृहस्थमें प्रवेश करनेकी पापवार्ता-को अपने मुखसे निकालकर मैं पापकी भागिनी नहीं बनूँगी। संन्यासी अवस्थामें घरपर रहनेसे सभी लोग तेरी अवश्य ही निन्दा करेंगे। तेरे वियोग-दुःखको तो जिस किसी प्रकार मैं सहन भी कर सकती हूँ, किन्तु लोगोंके मुखसे तेरी निन्दा मैं सहन न कर सकूँगी। इसलिये मैं तुझसे घरपर रहनेका भी आग्रह नहीं करती। वृन्दावन बहुत दूर है, तेरे वहाँ रहनेसे भक्तोंको भी क्लेश होगा और मुझे भी तेरे समाचार जल्दी-जल्दी प्राप्त न हो सकेंगे। यदि तेरी इच्छा हो और अनुकूल पड़े, तो तू जगन्नाथ-पुरीमें निवास कर।

पुरीकी यात्राके लिये यहाँसे प्रतिवर्ष हजारों यात्री जाते हैं, भक्त भी रथयात्राके समय जाकर तुझसे भेंट कर आया करेंगे और मुझे भी

तेरी राजी-खुशीका समाचार मिलता रहेगा। हमसे मिलनेके निमित्त नहीं, गङ्गास्नानके निमित्त तू भी कभी-कभी यहाँ हो जाया करना। इस प्रकार नीलाचलमें रहनेसे हम सभीको तेरा वियोग-दुःख इतना अधिक न अखरेगा। आगे जहाँ तुझे अनुकूल पड़े।'

प्रभुने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'जननी! तुम धन्य हो! विश्वरूपकी माताको ऐसे ही वचन शोभा देते हैं। तुमने संन्यासीकी माता-के अनुरूप ही वाक्य कहे हैं। मुझे तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं अब पुरीमें ही जाकर रहूँगा और वहींसे कभी-कभी गङ्गा-स्नानके निमित्त यहाँ भी आता-जाता रहूँगा।'

इस प्रकार माताने भी प्रभुको नीलाचलमें ही रहनेकी अनुमति दे दी और भक्तोंने भी रोते-रोते विषण्णवदन होकर यह बात स्वीकार कर ली। प्रभुका नीलाचल जानेका निश्चय हो गया। बहुत-से भक्त प्रभुके साथ चलनेके लिये उद्यत हो गये, किन्तु प्रभुने सबको रोक दिया और सबसे अपने-अपने घरोंको लौट जानेका आग्रह करने लगे। भक्त प्रभुको छोड़ना नहीं चाहते थे, वे प्रभुके प्रेमपाशमें ऐसे बँधे हुए थे, कि घर जानेका नाम सुनते ही घबड़ाते थे।

प्रभुके बहुत आग्रह करनेपर भी जब भक्त प्रभुसे पहले अपने-अपने घरोंको जानेके लिये राजी नहीं हुए, तब प्रभुने पहले स्वयं ही नीलाचल-के लिये प्रस्थान करनेका विचार किया। इतने दिनोंतक अद्वैताचार्यके आग्रहसे टिके हुए थे, अब रोते-रोते अद्वैताचार्यने भी सम्मति दे दी। प्रभुके साथ नित्यानन्दजी, जगदानन्द पण्डित, दामोदर पण्डित और मुकुन्द दत्त ये चार भक्त जानेके लिये तैयार हुए। आचार्यदेवके आग्रहसे प्रभुने भी इन्हें साथ चलनेकी अनुमति प्रदान कर दी।
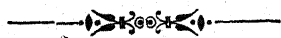
पुरीके पथमें

मा याहीत्यपमङ्गलं व्रज सखे स्नेहेन हीनं वच-
स्तिष्ठेति प्रभुता यथारुचि कुरुष्वैषाऽप्युदासीनता।
नो जीवामि विना त्वयेति वचनं सम्भाव्यते वा न वा
तन्मां शिक्षय नाथ यत्समुचितं वक्तुं त्वयि प्रस्थिते ॥*

---

* अपने प्राणप्यारेके परदेश प्रयाण करते समय उसके वियोगसे उत्पन्न हुई वेदनाको व्यक्त करती हुई नायिका पतिसे कह रही है, विदाके अन्तिम समयका वर्णन है । प्रियतम पूछते हैं—'अच्छा, जाऊँ ?' उत्तर देती—'मत जाओ' इस अमङ्गलसूचक शब्दको यात्राके शुभ मुहूर्तमें कैसे मुखसे निकालूँ ?' यह कहूँ कि 'अच्छा जाओ' तो यह स्नेहहीन शब्द है । यदि कहूँ 'रुक जाओ' तो इसमें प्रभुता प्रदर्शित होती है । और यह कह दूँ कि 'जैसी आपकी इच्छा हो वैसा करें' तो इससे उदासीनता प्रकट होती है । यदि यह कह दूँ कि 'तुम्हारे बिना मैं जीवित न रह सकूँगी' तो पता नहीं तुमको इस बातपर विश्वास हो अथवा न हो । इसलिये मेरे प्राणनाथ ! तुम्हीं मुझे शिक्षा दो, कि तुम्हारे प्रस्थानके समय क्या कहना उपयुक्त होगा, इस समय मैं किस वाक्यका प्रयोग करूँ ?

गोस्वामी तुलसीदासजीने सज्जन और दुर्जनके समागमकी तुलना करते हुए कहा है—

'मिलत एक दारुन दुख देहीं। बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं॥'

सचमुच अपने प्रियजनके विछोहके समय तो सहृदय पुरुषोंको मरण-समान ही दुःख होता है। जिसके साथ इतने दिनोंतक हास-परिहास, भोजन-पान आदि किया, जो निरन्तर अपने सहवास-सुखका आनन्द पहुँचाता रहा, वही अपना प्यारा प्रियतम आज सहसा हमसे न जाने कबतकके लिये पृथक् हो रहा है, इस बातके स्मरणमात्रसे सहृदय सज्जनोंके हृदयमें भारी क्षोभ उत्पन्न होने लगता है। किन्तु उस दुःखमें भी मीठा-मीठा मजा है, उसका आस्वादन भावुक प्रेमी पुरुष ही कर सकते हैं। संसारी स्वार्थपूर्ण पुरुषोंके भाग्यमें वह सुख नहीं बदा है।

दस दिनोंतक भक्तोंके चित्तको आनन्दित कराते रहनेके अनन्तर आज प्रभु शान्तिपुरको परित्याग करके पुरीके पथके पथिक बन जायँगे, इस बातके स्मरणमात्रसे सभी परिजन और पुरजनोंके हृदयमें प्रभुके वियोगजन्य दुःखकी पीड़ा-सी होने लगी। सभीके चेहरोंपर विषण्णता छायी हुई थी। प्रभुने कुछ अन्यमनस्कभावसे अपने ओढ़नेका रँगा वस्त्र उठाया, लँगोटीको कमरसे बाँध लिया और छोटी-सी साफी सिरसे लपेट ली। एक हाथमें दण्ड लिया और दूसरेमें कमण्डलु लेकर प्रभु उस बैठकसे बाहर हुए। प्रभुको यात्रीके वेशमें देखकर उपस्थित सभी भक्त फूट-फूटकर रोने लगे। वृद्धा शचीमाताका तो दिल ही धड़कने लगा।

जगदानन्दने प्रभुके हाथसे दण्ड ले लिया और दामोदर पण्डितने कमण्डलु। अब प्रभुके दोनों हाथ खाली हो गये। उन दोनों हाथोंसे वृद्धा माताके चरणोंको स्पर्श करते हुए प्रभुने गद्गद-कण्ठसे कहा—'माता! मुझे ऐसा आशीर्वाद दो, कि मैं अपने संन्यास-धर्मका विधिवत् पालन

कर सकूँ ।' पता नहीं, उस समय पुत्र-स्नेहसे दुखी हुई माताको इतना साहस कहाँसे आ गया ? उसने अपने प्यारे पुत्रके सिरपर हाथ फेरते हुए कहा—'बेटा ! तुम्हारा पथ मङ्गलमय हो, वायु तुम्हारे अनुकूल रहे, तुम अपने धर्मका विधिवत् पालन कर सको ।' इतना कहते-कहते ही माताका गला भर आया, आगे वह और कुछ न कह सकी । उसी अवस्थामें रोती हुई अपनी माताकी प्रभुने प्रदक्षिणा की और दोनों हाथोंको जोड़कर वे निःस्पृहभावसे गंगाजीके किनारे-किनारे पुरीकी ओर चल पड़े । सैकड़ों भक्त आँसू बहाते हुए और आर्त-नाद करते हुए प्रभुके पीछे-पीछे चले। शचीमाता भी लोक-लाजकी कुछ भी परवा न कर रोती हुई पैदल ही अपने प्राणप्यारे पुत्रके पीछे-पीछे चलीं । जिस प्रकार निस्पृह बछड़ा माताको छोड़कर दूसरी ओर जा रहा हो और उसकी माता वृद्धा गाय रम्हाती हुई उसके पीछे-पीछे दौड़ रही हो, इसी प्रकार शरीरकी सुधि भुलाकर शचीमाता प्रभुके पीछे क्रन्दन करती हुई भक्तोंके आगे-आगे चल रही थीं । उनके क्रन्दनसे कलेजा फटने लगता था । उनके सफेद बाल बिखरे हुए थे, आँसुओंसे वक्षःस्थल भीगा हुआ था । वे पछाड़ खाती हुई प्रभुके पीछे-पीछे चल रही थीं । प्रभु माताको देखते हुए भी संकोचवश उनसे आँखें नहीं मिलाते थे। बूढ़े अद्वैताचार्य भी जोरोंसे बच्चोंकी भाँति रुदन कर रहे थे । इस प्रकारके रुदनको सुनकर प्रभु अधीर हो उठे । वे चलते-चलते ठहर गये और आँखोंसे आँसू बहाते हुए अद्वैताचार्यजीसे कहने लगे—'आचार्यदेव ! इतने वृद्ध होकर जब आप ही इस प्रकार बालकोंकी तरह रुदन कर रहे हैं तो फिर भक्तोंको और कौन धैर्य बँधायेगा ? आपका मुझपर सदा पुत्रकी भाँति स्नेह रहा है। यह मैं जानता हूँ, कि मेरे वियोगसे आपको अपार दुःख हुआ है, किन्तु आप तो सर्वसमर्थ हैं । आपके साहसके सामने मेरा वियोगजन्य दुःख कुछ भी नहीं है।

आप अब मेरे कहनेसे शान्तिपुर लौट जायँ। आप यदि मेरे साथ चलेंगे तो यहाँ माताकी तथा भक्तोंकी देख-रेख कौन करेगा ? आप मेरे कामके लिये शान्तिपुरमें रह जाइये। मैं माताको तथा भक्तोंको आपके हाथों सौंपता हूँ। आप ही सदासे इनके रक्षक रहे हैं और अब भी इन सबका भार आपके ही ऊपर है। यह करुणापूर्ण दृश्य अब और अधिक मुझसे नहीं देखा जाता। अब आप इन सभी भक्तोंके सहित लौट जायँ।'

आचार्यने प्रभुकी आज्ञाका पालन किया। वे वहीं ठहर गये। उन्होंने भूमिमें लोटकर प्रभुके लिये प्रणाम किया। प्रभुने उनकी चरण-धूलि अपने मस्तकपर चढ़ायी और माताके चरणोंकी जल्दीसे वन्दना करते हुए वे उन सबको पृथ्वीपर ही पड़ा छोड़कर जल्दीसे आगेके लिये दौड़ गये। नित्यानन्द, दामोदर, जगदानन्द और मुकुन्द दत्त भी सभी लोगोंसे विदा होकर प्रभुके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। और सब लोग वहीं पड़े-के-पड़े ही रह गये। जब भक्तोंने देखा, कि प्रभु तो हमें छोड़कर चले ही गये तब उन्होंने और अधिक प्रभुका पीछा नहीं किया। वे खड़े होकर गंगाजीकी ओर देखते रहे। जबतक उन्हें प्रभुके पैरोंसे उड़ी हुई धूलि और जगदानन्दके हाथ प्रभुका दण्ड दिखायी देता रहा, तबतक तो वे एकटकभावसे देखते रहे, अन्तमें जब प्रभु अपने साथियोंके सहित एकदम अदृश्य हो गये, तब खिन्न मनसे माताको आगे करके भक्तोंके सहित अद्वैताचार्य अपने घरकी ओर लौट आये और श्रीवास आदि भक्त उसी समय माताको साथ लेकर नवद्वीपके लिये चले गये।

इधर महाप्रभु बन्धनसे छूटे हुए मत्त गजेन्द्रकी भाँति द्रुत गतिसे गंगाजीके किनारे-किनारे चले जा रहे थे। उनके पीछे नित्यानन्दजी आदि भक्त भी प्रभुका अनुसरण कर रहे थे। सब-के-सब गृहत्यागी, विरागी और अल्प-वयस्क युवक ही थे। सभीके हृदयमें त्याग-वैराग्यकी अग्नि

प्रज्वलित हो रही थी। प्रभुने उन सबके त्याग-वैराग्यकी परीक्षा करनेके निमित्त सभीसे पूछा—'तुमलोग मुझसे सच-सच बताओ, तुमने अपने साथ क्या-क्या सामान बाँधा है और किस-किसने तुम्हें मार्ग-व्ययके लिये कितना-कितना द्रव्य दिया है?'

प्रभुके ऐसे प्रश्नको सुनकर सभीने दीनभावसे कहा—'प्रभो! हम भला आपकी आज्ञाके बिना कोई वस्तु साथ कैसे ले सकते थे और किसी-के द्रव्यको आपके बिना पूछे कैसे स्वीकार कर सकते थे? आप हमारे सम्पूर्ण शरीरको देख लें, हमारे पास कुछ भी नहीं है और न हममेंसे किसीने द्रव्य ही साथमें बाँधा।'

महाप्रभु उनके ऐसे निष्कपट, सरल और निःस्पृहतापूर्ण उत्तरको सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'मैं तुमलोगोंसे अत्यन्त ही प्रसन्न हूँ। तुमने साथमें द्रव्य न बाँधकर अपनी निस्पृहताका परिचय दिया है। निस्पृहता ही तो त्यागीका भूषण है। जो किसीसे धनकी इच्छा करके संग्रह करता है, वह कभी त्यागी हो ही नहीं सकता। त्यागीके लिये तो भोजनकी चिन्ता करनी ही न चाहिये। उसे तो प्रारब्धके ऊपर छोड़ देना चाहिये। जो प्रारब्धमें होगा, वह अवश्य मिलेगा, फिर चाहे तुम मरुभूमिके घोर बालुकामय प्रदेशमें ही जाकर क्यों न बैठ जाओ। और भाग्यमें नहीं है, तो भोगोंके बीचमें रहते हुए भी तुम्हें उनसे वञ्चित रहना पड़ेगा। चाहे जितना धनी क्यों न हो, उसके पास कितनी भी भोज्य-सामग्री क्यों न हो, जिस दिन उसके भाग्यमें न होगी, उस दिन वह पासमें रखी रहनेपर भी उन्हें नहीं खा सकता। या तो बीमार हो जायगा या किसीपर नाराज होकर खाना छोड़ देगा, अथवा दूसरा आदमी आकर उसे खा जायगा। सारांश यह है कि हमें भोग भाग्यके ही अनुसार प्राप्त हो सकेंगे। फिर किसीसे माँगकर संग्रह क्यों

करना चाहिये। भूख लगनेपर घर-घरसे मधुकरी कर ली। यही त्यागीका परम धर्म है।' इस प्रकार अपने साथियोंको त्याग, वैराग्य और भक्तिका तत्त्व समझाते हुए सायंकालके समय आठिसारा नामक ग्राममें पहुँचे और वहाँ परम भाग्यवान् अनन्त पण्डित नामके एक ब्राह्मणके घर ठहरे। प्रभुके दर्शनसे वह कृतार्थ हो गया और उसने प्रभुको साथियोंसहित भिक्षा आदि कराके उनकी विधिवत् सेवा-पूजा की।

प्रातःकाल वहाँसे चलकर खाड़ी नामक ग्रामके समीप छत्रभोग-तीर्थमें पहुँचे। यहाँपर गंगाजीके किनारे एक अम्बुलिङ्ग नामक जलमग्न शिव हैं। आजकल तो छत्रभोग और अम्बुलिङ्ग शिवजी गंगाजीसे दूर पड़ गये हैं, उस समय गंगाजीकी शेष सीमा यहींपर थी। यहींपर त्रिलोकपावनी भगवती भागीरथी सहस्र धाराओंका रूप धारण करके समुद्रमें मिलती थीं। गंगाजीके इस पार छत्रभोग, पीठस्थान और सुन्दरनगर था। यहीं गौड़-देशकी सीमा समाप्त होती थी। गङ्गाजीके उस पार उड़ीसा-देशकी सरहद थी और उसीपर जयपुर-माजिलपुर उड़ीसाके महाराजकी अन्तिम सीमाके नगर थे। इन दोनों स्थानोंमें तीन-चार कोसका अन्तर था। गौड़-देश और उड़ीसा-देशकी सीमाको भगवती भागीरथी ही पृथक् करती थीं।

यह हम पहले ही बता चुके हैं, कि वह युद्धका समय था। जिधर देखो उधर ही युद्ध छिड़ा हुआ है। गौड़-देशके बादशाह और उड़ीसाके तत्कालीन महाराज प्रतापरुद्रके बीचमें भी लड़ाई-झगड़ा होता रहता था। इसी कारण जगन्नाथजी जानेवाले यात्रियोंको गंगा-पार होनेमें बड़ा कष्ट होता था। गौड़-देशके अधिपतिकी आज्ञा थी कि उधरसे कोई भी पुरुष इधर न आने पावे। उधर उड़ीसाके शासक बङ्गालियोंपर सन्देह करते। जो भी पार आता उसीकी तलाशी लेते। कुछ ऐसा-वैसा

सामान होता तो उसे लूट भी लेते। और भी भाँति-भाँतिकी असुविधाएँ थीं। युद्धके समय सब जगह एक राज्यकी सीमासे दूसरे राज्यकी सीमामें जानेपर सभी लोगोंको बड़े-बड़े कष्ट सहने पड़ते हैं। दोनों देशोंके शासक सदा शत्रुओंके मनुष्योंसे शंकित रहते हैं।

इसके अतिरिक्त पार उतारनेवाले बिना उतराई लिये लोगोंको पार उतारते ही नहीं थे। बहुत-से पुरीके यात्री उस पार जानेके लिये पड़े हुए थे। प्रभु भी अपने साथियोंके सहित वहाँ पहुँच गये। मुकुन्द दत्त अपने सुरीले कण्ठसे कृष्ण-कीर्तन कर रहे थे। प्रभु उनके मुखसे भगवान्के मधुर नामोंको सुनकर आनन्दमें विह्वल हो नृत्य कर रहे थे, उनके दोनों नेत्रोंमेंसे दो धाराएँ निकलकर समुद्रमें लीन होनेवाली गंगाजीके वेगको और अधिक बढ़ा रही थीं। प्रभुकी ऐसी अद्भुत अवस्था देखकर घाटपरके बहुत-से आदमी वहाँ आकर एकत्रित हो गये। सभी प्रभुके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ मानने लगे।

इस प्रकार अम्बुलिङ्ग-घाटपर पहुँचकर प्रभुने साथियोंसहित स्नान किया और भक्तोंको अम्बुलिङ्ग-शिवजीके सम्बन्धमें कथा सुनाने लगे। प्रभुने कहा—'जब महाराज भगीरथ स्वर्गसे गंगाजीको ले आये, तब उनके शोकमें विकल होकर शिवजी यहाँ जलमें गिर पड़े। गंगाजी शिवजीके प्रेमको जानती थीं, उन्होंने यहीं आकर शिवजीकी पूजा की और जलमें ही रहनेकी प्रार्थना की। गंगाजीके प्रेमके कारण यहाँ शिवजी जलमें ही निवास करते हैं, इसीलिये ये अम्बुलिङ्ग कहाते हैं, इनके दर्शनसे कोटि जन्मोंके पापोंका क्षय हो जाता है।' इस प्रकार शिवजीका माहात्म्य सुनाकर प्रभु फिर प्रेममें विह्वल होकर नृत्य करने लगे। उसी समय उस प्रान्तके शासक राजा रामचन्द्र खाँ भी वहाँ आ पहुँचे।

इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं, कि गौड़ाधिपतिकी ओरसे बड़े-बड़े लोगोंको बहुत-से गाँवोंका ठेका दिया जाता था और उन्हें बादशाहकी ओरसे मजूमदार, खान् अथवा राजाकी उपाधि भी दी जाती थी। रामचन्द्र खाँ गौड़ाधिपके अधीनस्थ गौड़देशीय सीमाप्रान्तके ऐसे ही राजा थे। रामचन्द्र खाँ जातिके कायस्थ थे और शाक्त-धर्मको माननेवाले थे। उनका जीवन जिस प्रकार साधारण विषयी-धनी पुरुषोंका होता है, उसी प्रकारका था, किन्तु वे भाग्यशाली थे, जिन्हें महाप्रभुकी थोड़ी-बहुत सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

प्रभुके घाटपर पधारनेका समाचार सुनकर रामचन्द्र खाँ पालकीसे उतरकर उनके दर्शनके लिये गये। उस समय आनन्दमें विभोर हुए महाप्रभु गद्गद कण्ठसे कृष्णकीर्तन करते हुए रुदन कर रहे थे। रामचन्द्र खाँ प्रभुके तेज और प्रभावसे प्रभावान्वित हो गये और उन्होंने दूरसे ही प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया। किन्तु प्रभु तो बाह्यज्ञानशून्य हो रहे थे। वे तो चक्षुओंको आवृत्त करके प्रेमामृतका पान कर रहे थे। उन्हें किसीके नमस्कार-प्रणामका क्या पता! प्रभुके साथियोंने प्रभुको सचेत करते हुए राजा रामचन्द्र खाँका परिचय दिया। प्रभुने उनका परिचय पाकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'ओः! आपका ही नाम राजा रामचन्द्र खाँ है, आपके अकस्मात् खूब दर्शन हुए!'

दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए रामचन्द्र खाँने कहा—'प्रभो! इस विषयी-कामी पुरुषको ही रामचन्द्र खाँके नामसे पुकारते हैं। आज मैं अपने सौभाग्यकी सराहना नहीं कर सकता, जो मुझ-जैसे संसारी गर्तमें सने हुए विषयी पामरको आपके दर्शन हुए। आपके दर्शनसे मेरे सब पाप क्षय हो गये। अब आप मेरे योग्य जो भी आज्ञा हो, उसे बताइये।'

प्रभुने कहा—रामचन्द्र ! हम अपने प्राणवल्लभसे मिलनेके लिये व्याकुल हो रहे हैं। पुरीमें जाकर हम अपने हृदयरमणके दर्शन करके जीवनको सफल बना सकें तुम वैसा ही उद्योग करो। हमें घाटसे उस पार पहुँचानेका प्रबन्ध करो। जिस प्रकार हम गंगाजीको पार कर सकें वही काम तुम्हें इस समय करना चाहिये।

हाथ जोड़े हुए रामचन्द्र खाँने कहा—'प्रभो ! इस युद्धकालमें गौड़देशीय लोगोंको उस पार उतारना बड़ा ही कठिन कार्य है। बादशाह-की ओरसे मुझे कठिन आज्ञा है, कि जिस किसी पुरुषको वैसे ही पार न उतारा जाय। फिर भी मैं अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर भी आपको पार उतारूँगा। आज आप कृपा करके यहीं निवास कीजिये, कल प्रातः मैं आपके पार होनेका यथाशक्ति अवश्य ही प्रबन्ध कर दूँगा।' रामचन्द्र खाँकी बातको प्रभुने स्वीकार कर लिया और छत्रभोग-नगरमें जाकर प्रभुने एक भाग्यवान् ब्राह्मणके यहाँ निवास किया। रात्रिभर प्रभु अपने साथियोंके सहित संकीर्तन करते रहे। संकीर्तनकी सुमधुर ध्वनिसे वह सम्पूर्ण स्थान परमपावन बन गया। वहाँपर चारों ओर भगवन्नामकी ही गूँज सुनायी देने लगी। प्रभुके संकीर्तनको सुननेके लिये छत्रभोगके बहुत-से नर-नारी एकत्रित हो गये और वे भी प्रभुके साथ ताली बजा-बजाकर कीर्तन करने लगे। रामचन्द्र खाँने भी उस संकीर्तनरसामृतका आस्वादन करके अपने जीवनको धन्य किया। इस तरह रात्रिभर संकीर्तनके प्रमोदमें ही प्रभुने वह रात्रि बितायी।

महाप्रभुका प्रेमोन्माद और नित्यानन्दजीद्वारा दण्ड-भङ्ग

पातालं व्रज याहि वासवपुरीमारोह मेरोः शिरः
पारावारपरम्परास्तर तथाप्याशा न शान्तास्तव ।
आधिव्याधिजरापराहत यदि क्षेमं निजं वाञ्छसि
श्रीकृष्णेति रसायनं रसय रे शून्यैः किमन्यैः श्रमैः ॥ *

छत्रभोगमें उस रात्रिको बिताकर प्रभु प्रातःकाल अपने नित्यकर्मसे निवृत्त हुए । उसी समय रामचन्द्र खाँने समाचार भेजा कि प्रभुको पार करनेके लिये घाटपर नाव तैयार है । इस समाचारको पाते ही प्रभु अपने साथियोंके सहित नावपर जाकर बैठ गये । मल्लाहोंने नाव खोल दी, महाप्रभु आनन्दके सहित हरिध्वनि करने लगे । भक्तोंने भी प्रभुकी ध्वनिमें अपनी ध्वनि मिलायी । उस गगनभेदी ध्वनिकी प्रतिध्वनि जलमें सुनायी देने लगी । दसों दिशाओंमेंसे वही ध्वनि सुनायी देने लगी । तब प्रभुने मुकुन्द दत्तसे संकीर्तनका पद गानेके लिये कहा । मुकुन्द अपने मधुर स्वरसे गाने लगे--

---

* चाहे तो पातालमें चला जा, चाहे स्वर्गमें जाकर निवास कर, चाहे सुमेरुके शिखरपर चढ़कर वहाँ बैठ जा अथवा समुद्रसे पार होकर किसी अपरिचित देशमें चला जा । यह सब करनेपर भी तेरी आशा शान्त न होगी। यदि तू सचमुच अपना कल्याण चाहता है, यदि वास्तवमें तेरी आधि-व्याधि और जरा-मृत्युके भयसे बचनेकी इच्छा है, तो 'श्रीकृष्ण' रूपी रसायनका सेवन कर । उसीसे तेरे सम्पूर्ण रोग दूर हो जायँगे । अन्य व्यर्थके उपायोंमें लगे रहनेसे क्या लाभ ?

हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

अन्य भक्त भी मुकुन्दकी तालमें ताल मिलाकर इसी पदका संकीर्तन करने लगे। महाप्रभु आवेशमें आकर नावमें ही खड़े होकर नृत्य करने लगे। नौका नृत्यके वेगको न सह सकनेके कारण डगमग-डगमग करने लगी। सभी मल्लाह घबड़ाने लगे, कि हमारी नाव इस प्रकारके नृत्यसे तो डूब ही जायगी। उन्होंने कहा 'संन्यासी बाबा! हमारे ऊपर दया करो, उस पार पहुँचकर जी चाहे जितना नृत्य कर लेना। हमारी नावको पार भी लगने दोगे या बीचमें ही डुबा दोगे?'

इस प्रकार मल्लाह कुछ क्षोभके साथ दीन वचनोंमें प्रार्थना कर रहे थे, किन्तु महाप्रभु किसकी सुननेवाले थे। वे उनकी बातोंको अनसुनी करके निरन्तर श्रीकृष्ण-कीर्तन करते ही रहे। तब तो नाविकोंको बड़ा भारी आश्चर्य हुआ, कि यह संन्यासी हमारी बाततक नहीं सुनता और उसी प्रकार प्रेममें विह्वल होकर नृत्य कर रहा है। उन्होंने कुछ भय दिखाते हुए विवशता और कातरताके स्वरमें कहा—'महाराज! आप हमारी बातको मान जाइये। नावमें इस प्रकार उछल-उछलकर नृत्य करना ठीक नहीं है। आप देखते नहीं, उस पार घोर जङ्गल है, उसमें बड़े-बड़े खूँखार भेड़िये तथा जंगली सूअर रहते हैं। आपकी आवाजको सुनकर वे दौड़े आवेंगे, जलके भीतर मगर और घड़ियाल हैं, नदीमें चारों ओर नावोंपर चढ़कर डाकू चक्कर लगाते रहते हैं; वे जिसे भी पार होते देखते हैं, उसे ही लूट लेते हैं। कृपा करके आप बैठ जाइये और अपने साथ हमें भी विपत्तिके गालमें न डालिये।'

उनकी ऐसी कातर वाणीको सुनकर मुकुन्द दत्त आदि तो कीर्तन करनेसे बन्द हो गये, किन्तु भला प्रभु कब बन्द होनेवाले थे। वे उसी प्रकार

कीर्तन करते ही रहे और अन्य साथियोंको भी कीर्तन करनेके लिये उत्साहित करने लगे। प्रभुके उत्साहपूर्ण वाक्योंको सुनकर फिर सब-के-सब कीर्तन करने लगे। धन्य है, ऐसे श्रीकृष्ण-प्रेमको, जिसके आनन्दमें प्राणोंतककी भी परवा न हो। अमृतके सागरमें डूबनेका भय कैसा ? श्रीकृष्ण-नाम तो जीवोंको आधि-व्याधि तथा सम्पूर्ण भयोंसे मुक्त करनेवाला है। उसके सामने मगर, घड़ियाल, भेड़िया तथा डाकुओंका भय कैसा ? राम-नामके प्रभावसे तो विष भी अमृत बन जाता है। हिंसक जन्तु भी अपना स्वभाव छोड़कर प्रेम करने लगते हैं। प्रभुको इस प्रकार कीर्तनमें संलग्न देखकर नाविक समझ गये, कि ये कोई असाधारण महापुरुष हैं, इन्हें कीर्तनसे रोकना व्यर्थ है, जहाँपर ये विराजमान हैं, वहाँ किसी प्रकारका अमङ्गल हो ही नहीं सकता। यही सोचकर वे चुप हो गये। फिर उन्होंने प्रभुसे कीर्तन करनेके लिये मना नहीं किया। प्रभु उसी प्रकार अपने अश्रुओंकी धाराओंको गंगाजीके प्रवाहमें मिलाते हुए कीर्तन करते रहे। उसी कीर्तनके समारोहमें नाव प्रयागघाटपर आ लगी। प्रभुने अपने साथियोंके सहित नावसे उतरकर प्रयागघाटपर स्नान किया और फिर आगे बढ़े। अब उन्होंने गौड़-देशको छोड़कर उड़ीसा-देशकी सीमामें प्रवेश किया। आज प्रभुने अपने साथियोंसे कहा—'तुमलोग सब यहीं बैठो, आज मैं अकेला ही भिक्षा करने जाऊँगा।' प्रभुकी बातको टाल ही कौन सकता था ? सबने इस बातको स्वीकार किया। प्रभु अपने रँगे वस्त्रकी झोली बनाकर भिक्षा माँगनेके लिये चले।

यह हम पहले ही बता चुके हैं, कि उड़ीसा तथा बंगालमें बने-बनाये अन्नकी भिक्षा देनेकी परिपाटी नहीं है। अब तो कुछ-कुछ लोग सीखने भी लगे हैं। भट्टाचार्य ब्राह्मण संन्यासीको बने-बनाये सिद्ध अन्नकी भिक्षा देने लगे हैं। पहले तो लोग सूखा ही अन्न भिक्षामें देते थे। ग्रामवासी

स्त्री-पुरुष प्रभुकी झोलीमें चावल, दाल और चिउरा आदि डालने लगे। प्रभु जिसके भी द्वारपर जाकर 'नारायण-हरि' कहकर आवाज लगाते वही बहुत-सा अन्न लेकर उन्हें देनेके लिये दौड़ा आता। उनके अद्भुत रूप-लावण्यको देखकर सभी स्त्री-पुरुष चकित रह जाते और एकटक भावसे प्रभुको ही निहारते रहते। उनके चेहरेमें इतना अधिक आकर्षण था कि जो भी एक बार उनके दर्शन कर लेता, वही अपना सर्वस्व प्रभुके ऊपर निछावर कर देनेकी इच्छा करता। जिसके घरमें जो भी उत्तम पदार्थ होता, वही लाकर प्रभुकी झोलीमें डाल देता। इस प्रकार थोड़ी ही देरमें प्रभुकी झोली भर गयी। विवश होकर कई आदमियोंकी भिक्षा लौटानी पड़ी। इससे प्रभुको भी कुछ दुःख-सा हुआ। वे अपनी भरी हुई झोलीको लेकर बाहर बैठे हुए अपने भक्तोंके समीप आये। नित्यानन्दजी भरी हुई झोलीको देखकर हँसने लगे। अन्तमें जगदानन्दजीने प्रभुसे झोली लेकर भोजन बनाया और सभीने साथ बैठकर बड़े ही आनन्दके सहित उस महाप्रसादको पाया।

भोजन करके आगे बढ़े। आगे चलकर पुरी जानेवाली सड़कपर उन्होंने कर-गृह देखा। वहाँपर राजाकी ओरसे प्रत्येक यात्रीपर कुछ नियमित शुल्क लगता था, तब यात्री आगे जा सकते थे। उस समय शुल्क लेनेवाले अधिकारी यात्रियोंसे शुल्क लेनेमें इतनी अधिक कठोरता करते थे कि बिना नियमित द्रव्य लिये वे किसीको भी आगे नहीं जाने देते थे। यहाँतक कि वे साधु-संन्यासियोंतकसे भी कर वसूल करते थे। प्रभुको भी उन लोगोंने आगे जानेसे रोका और कहने लगे—'बिना नियमित द्रव्य दिये तुम आगे नहीं जा सकते।' प्रभु इस बातको सुनते ही रुदन करने लगे। उनकी आँखोंमेंसे निरन्तर अश्रु निकल-निकलकर पृथ्वीको गीली कर रहे थे। वे 'हा प्रभो! हे मेरे जगन्नाथदेव! क्या मैं तुम्हारे

शीघ्र दर्शन न कर सकूँगा ? क्या नाथ ! मुझे तुम्हारे दर्शन होंगे ?' ऐसे आर्त्त वचनोंको कह-कहकर रुदन करने लगे। इनके इस हृदयविदारक करुण-क्रन्दनको सुनकर पाषाण-हृदय अधिकारीका भी कठोर हृदय पसीज उठा। उसने सोचा—'क्या साधारण मनुष्यकी आँखोंसे इतने अश्रुओंका निकलना सम्भव हो सकता है ? अवश्य ही ये कोई महापुरुष हैं। इन्हें जगन्नाथजी जानेसे नहीं रोकना चाहिये।' यह सोचकर शुल्क एकत्रित करनेवाला अधिकारी प्रभुके समीप जाकर पूछने लगा—'संन्यासी बाबा ! तुम इतने अधीर क्यों होते हो ? तुम्हारे साथ कितने आदमी हैं ? तुम सब साथी कितने हो ?

प्रभुने रोते-रोते अत्यन्त ही दीनभाव प्रदर्शित करते हुए कहा—'हमारा इस संसारमें साथी ही कौन हो सकता है ? हम तो घर-बार-त्यागी विरागी संन्यासी हैं, हम तो अकेले ही हैं। हमारा दूसरा कोई साथी नहीं है।' प्रभुकी ऐसी बात सुनकर अधिकारीने कहा—'अच्छा तो आप जायँ।'

उसकी बात सुनकर प्रभु आगे चलने लगे। थोड़ी दूर चलकर प्रभु अपने घुटनोंमें सिर देकर रुदन करने लगे। इनके रुदनको सुनकर अधिकारियोंने नित्यानन्दजी आदि भक्तोंसे इसके कारणकी जिज्ञासा की। तब नित्यानन्दजीने सब हाल बता दिया और कहा—'हम चारों प्रभुके साथी हैं, वे हमारे बिना अकेले न जायँगे तब अधिकारियोंने इन सबको भी जाने दिया।

इस प्रकार उन शुल्क एकत्रित करनेवाले अधिकारियोंके हृदयमें अपने प्रेम-प्रभावको जताते हुए प्रभु अपने साथियोंके सहित स्वर्णरेखा-नदीके तटपर पहुँचे। वहाँ पहुँचकर प्रभु तो नित्यानन्दजीकी प्रतीक्षामें थोड़ी दूर-पर जाकर बैठ गये। जगदानन्द-दामोदर आदि पीछे-पीछे आ रहे थे।

जगदानन्दजीके हाथमें प्रभुका दण्ड था। उन्होंने नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद! यदि आप महाप्रभुके इस दण्डको भली भाँति पकड़े रहें तो मैं गाँवमेंसे भिक्षा कर लाऊँ।'

नित्यानन्दजीने कहा—'अच्छी बात है, मैं दण्डको खूब सावधानीसे रखूँगा, तुम आनन्दके साथ जाकर भिक्षा कर लाओ।' यह कहकर नित्यानन्दजीने जगदानन्द पण्डितके हाथमेंसे दण्ड ले लिया। जगदानन्द भिक्षा करने चले गये।

इधर नित्यानन्दजीने सोचा—'यह दण्ड तो प्रभुके लिये एक जंजाल ही है। जिन्हें प्रेममें अपने शरीरतकका होश नहीं रहता उन्हें दण्डकी भला क्या अपेक्षा हो सकती है? इसकी देख-रेखको एक और आदमी चाहिये। दण्डका विधान तो साधारण अवस्थावाले संन्यासीके लिये है। महाप्रभु तो प्रेमके अवतार ही हैं, ये तो विधि-निषेध दोनोंसे ही परे हैं। इसलिये इनके लिये इस दण्डका रखना व्यर्थ है।' ऐसा सोचकर नित्यानन्दजीने उस दण्डके बीचमेंसे तीन टुकड़े कर दिये और उसे तोड़-ताड़कर वहीं फेंक दिया।

भिक्षा करके जगदानन्द पण्डित लौटे, उन्होंने नित्यानन्दजीके पास दण्ड न देखकर आश्चर्यके साथ पूछा—'श्रीपाद! आपने दण्ड कहाँ रख दिया?' कुछ गम्भीरताके साथ इधर-उधर देखते हुए धीरेसे नित्यानन्दजीने उत्तर दिया—'यहीं कहीं पड़ा होगा, देख लो।'

जगदानन्दजीने देखा दण्ड एक ओर टूटा हुआ पड़ा है। टूटे हुए दण्डको देखकर डरते हुए जगदानन्दजीने कहा—'श्रीपाद! यह आपने क्या किया? महाप्रभुके दण्डको तोड़ दिया। उन्होंने तो मुझे सावधानीसे रखनेके लिये दिया था, आपने प्रभुके दण्डको तोड़कर अच्छा काम नहीं किया, अब मैं उनसे जाकर क्या कहूँगा?' यह कहकर जगदा-

नन्दजी बहुत ही दुखी-से होकर उस टूटे हुए दण्डको लेकर प्रभुके समीप पहुँचे और अत्यन्त क्षीणस्वरमें दुःख प्रकट करते हुए कहने लगे—'प्रभो! नित्यानन्दजीको दण्ड देकर मैं भिक्षा करनेके निमित्त समीपके ग्राममें गया था, तबतक उन्होंने दण्डको तोड़ डाला। इसमें मेरा कुछ भी अपराध नहीं है, यदि मुझे इस बातका पता होता, तो कभी उन्हें देकर नहीं जाता।'

इतनेमें ही नित्यानन्दजी भी मुकुन्द आदि सहित वहाँ आ पहुँचे। तब प्रभुने प्रेमका रोष प्रकट करते हुए नित्यानन्दजीसे कहा—'श्रीपाद! आपके सभी काम बड़े ही चपलतापूर्ण होते हैं, भला दण्ड-भङ्ग करके आपको क्या मिल गया? आप तो मुझे अपने धर्मसे भ्रष्ट करना चाहते हैं। संन्यासीके पास एक दण्ड ही तो परमधन है, उसे आपने अपने उद्धत स्वभावसे भङ्ग कर दिया। अब बताइये, कैसे मैं आपके साथ रह-कर अपने धर्मका पालन कर सकूँगा?'

नित्यानन्दजीने बातको टालते हुए कुछ हँसीके भावमें कहा—'वह तो बाँसका ही दण्ड था, उसके बदलेमें आप मुझे अपना दण्डपात्र बना लीजिये और जो भी उचित दण्ड समझें दे लीजिये।'

महाप्रभुने कहा—'वह बाँसका दण्ड कैसे था,' उसमें सभी देव-ताओंका अधिष्ठान था। आप तो मुझे न जाने क्या समझते हैं, अपनी दशाका पता मुझे ही लग सकता है। आपके साथमें रहनेका मुझे यही फल मिला। एक दण्ड था, वह भी आपने नष्ट कर दिया, अब न जाने क्या करेंगे! इसलिये मैं अब आपलोगोंके साथ न जाऊँगा। या तो आप-लोग आगे जायँ या मुझे आगे जाने दें।'

इसपर मुकुन्द दत्तने कहा—'प्रभो! आप ही आगे चलें।' बस, इतना सुनना था, कि प्रभु दौड़ मारकर आगे चलने लगे और दौड़ते-दौड़ते जलेश्वर नामक स्थानमें पहुँचे। वहाँ जलेश्वर नामक

शिवजीका एक बड़ा भारी मन्दिर है, उस समय बहुत-से वेदज्ञ श्रद्धालु ब्राह्मण उस मन्दिरमें धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजनकी सामग्रियोंसे शिवजीकी पूजा कर रहे थे। कोई उच्च स्वरसे स्तोत्र-पाठ कर रहा था। कोई अभिषेक कर रहा था। कोई शिवजीकी स्तुति ही कर रहा था। भाँति-भाँतिके बाजे बज रहे थे। प्रभु उस पूजन-कृत्यको देखकर बड़े ही सन्तुष्ट हुए। दण्ड-भङ्ग कर देनेके कारण नित्यानन्दजीके प्रति जो थोड़ा-सा क्रोध किया था, वह शिवजीके दर्शनमात्रसे ही जाता रहा। वे आनन्दमें निमग्न होकर जोरसे शिवजीका कीर्तन करने लगे। भावावेशमें आकर वे—'शिव-शिव शम्भो, हर-हर महादेव' इस पदको गा-गाकर नाचने-कूदने लगे। इनके नृत्यको देखकर सभी दर्शक आश्चर्यके सहित इन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। उस समय सभीको इस बातका भान हुआ कि मानो साक्षात् भोलेबाबा ही संन्यासीवेशसे ताण्डव-नृत्य कर रहे हैं। प्रभुके दोनों हाथ ऊपर उठे हुए थे, वे मस्त होकर पागलकी भाँति प्रेमोन्मादमें जोरोंसे उछल-उछलकर नाच रहे थे। उनके सम्पूर्ण शरीरसे पसीनोंकी धाराएँ बह रही थीं। नेत्रोंमेंसे श्रावण-भादोंकी तरह अश्रुओंकी वर्षा हो रही थी। वे शरीरकी सुध भुलाकर यन्त्रकी भाँति घूम रहे थे। उसी समय पीछेसे नित्यानन्दजी आदि भक्त भी मन्दिरमें आ पहुँचे और प्रभुको नृत्य करते देखकर वे भी प्रभुके ताल-स्वरमें ताल-स्वर मिलाकर नाचने-गाने लगे। इससे प्रभुका आनन्द और भी कई गुणा अधिक हो गया, उनके सुखकी सीमा नहीं रही। सभी दर्शक प्रभुकी ऐसी अपूर्व अवस्था देखकर अवाक् रह गये। इस प्रकार संकीर्तन कर लेनेके अनन्तर प्रभुने प्रेमपूर्वक नित्यानन्दजीका आलिंगन किया और उनपर स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहने लगे—'श्रीपाद! आप तो मेरे अभिन्न-हृदय हैं! आप जो भी करेंगे, मेरे कल्याणके ही निमित्त करेंगे। मैंने उस

समय भावावेशमें आकर जो कुछ कह दिया हो, उसका आप बुरा न मानें। संसारमें आपसे बढ़कर मेरा प्रिय और हो ही कौन सकता है ? आप मेरे गुरु, माता, पिता तथा सखा हैं। जो आपका प्रिय है वही मेरा भी प्रिय है। आप मेरी बातोंका कुछ बुरा न मानें।'

प्रभुके मुखसे अपने लिये ऐसे स्तुति-वाक्य सुनकर नित्यानन्दजी कुछ लज्जित-से हुए और संकोचके स्वरमें कहने लगे—'प्रभो ! आप सर्व-समर्थ हैं, जिसे जो चाहें सो कहें, जिसे जितना ऊँचा चढ़ाना चाहें चढ़ा दें। आप तो अपने सेवकोंको सदासे ही अपनेसे अधिक सम्मान प्रदान करते रहे हैं। यह तो आपकी सनातन-रीति है।' इस प्रकार प्रेमकी बातें होनेपर सभीने विश्राम किया और उस रात्रिमें वहीं निवास किया।

प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त होकर प्रभु आगे चलने लगे। मत्त गजेन्द्रकी भाँति प्रेम-वारुणीके मदमें चूर हुए नाचते, कूदते और भक्तोंके साथ कुतूहल करते हुए प्रभु आगे चले जा रहे थे, कि इतनेमें ही इन्हें एक वाममार्गी शाक्त-पन्थी साधु मिला। प्रभुकी ऐसी प्रेमकी उच्चावस्था देखकर उसने समझा ये भी कोई वाममार्गी साधु हैं, अतः प्रभुसे वाममार्गीय पद्धतिसे प्रणाम करके कहने लगा—'कहो किधर-किधरसे आ रहे हो ? आज तो बहुत दिनमें दर्शन हुए ?

प्रभुने विनोदके साथ कहा—'इधरसे ही चले आ रहे हैं, आपका आना किधरसे हुआ ? कुछ हाल-चाल तो सुनाओ। भैरवीचक्रमें खूब आनन्द उड़ता है न ?'

प्रभुकी बातें सुनकर और 'भैरवीचक्र' तथा 'आनन्द' आदि वाम-मार्गियोंके सांकेतिक शब्दोंको सुनकर वह सब स्थानोंके शाक्तोंका सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाने लगा। प्रभु उसकी बातोंको सुनते जाते थे और साथियोंकी

ओर देखकर हँसते जाते थे। अन्तमें उसने कहा—'चलिये, आज हमारे मठपर ही निवास कीजिये। वहीं सब मिलकर खूब 'आनन्द' उड़ावेंगे!'

प्रभु हँसते हुए नित्यानन्दजीसे कहने लगे—'श्रीपाद! 'आनन्द' उड़ानेकी इच्छा है? ये महात्मा तो शान्तिपुरके रास्तेमें जैसे आनन्दी संन्यासी मिले थे, उसी प्रकारके जन्तु हैं। आपके पास आनन्दकी कमी हो तो कहिये।'

नित्यानन्दजीने प्रभुकी बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे जोरोंसे हँसने लगे। तब उस वाममार्गी साधुने कहा—'नहीं, आप-लोग कुछ और न समझें। मेरे मठमें 'आनन्द' की कुछ कमी नहीं है। आपलोग जितना भी उड़ाना चाहें उड़ावें। चलिये, आपलोग आज मेरे मठको ही कृतार्थ कीजिये।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'हाँ हाँ, ठीक तो है, आप आगे चलकर सब ठीक-ठाक करें, हम पीछेसे आते हैं।' यह सुनकर वह साधु आगेको चला गया। प्रभुकी प्रेममयी अवस्था देखकर उसने समझा, ये भी कोई हमारी तरह संसारी नशीली चीजोंका सेवन करके पागल बननेवाले साधु होंगे। उसे पता नहीं था, कि इन्होंने ऐसे प्यालेको पी लिया, जिसे पीकर फिर दूसरे अमलकी जरूरत ही नहीं पड़ती। उसीके नशेमें सदा झूमते रहते हैं। कबीरदासजीने इसी प्यालेको तो लक्ष्य करके कहा है—

कबीर प्याला प्रेमका, अन्तर लिया लगाय।
रोम रोममें रमि रहा, और अमल का खाय?॥

धन्य है, ऐसे अमलियोंको! ऐसे नशेखोरोंके सामने ये संसारी सभी नशे तुच्छ और हेय हैं। इस प्रकार अपने सभी साथियोंको आनन्दित और सुखी बनाते हुए प्रभु पुरीके पथको तै करने लगे।

श्रीगोपीनाथ क्षीरचोर

यस्मै दातुं चोरयन् क्षीरभाण्डं
गोपीनाथः क्षीरचोराभिधोऽभूत्।
श्रीगोपालः प्रादुरासीद् वशः सन्
यत्प्रेम्णा तं माधवेन्द्रं नतोऽस्मि॥ *

(चै० च० म० ली० ४। १)

भक्तोंके सहित आनन्द-विहार करते-करते, जलेश्वर, ब्रह्मकुण्ड मन्दार आदि तीर्थोंमें दर्शन-स्नान करते हुए महाप्रभु रेमुणाय नामक तीर्थमें पहुँचे। वहाँ जाकर क्षीरचोर गोपीनाथ भगवान्के मन्दिरमें जाकर प्रभुने भगवान्के दर्शन किये। प्रभु आनन्दमें विभोर होकर गोपीनाथ भगवान्की बड़े ही करुण-स्वरमें स्तुति करने लगे। स्तुति करते-करते वे प्रेममें बेसुध हो गये। अन्तमें उन्होंने भगवान्के चरण-कमलोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उसी समय भगवान्के शरीरमेंसे एक पुष्पोंका बड़ा भारी गुच्छा निकलकर ठीक प्रभुके मस्तकके ऊपर गिर पड़ा। सभी दर्शनार्थी तथा पुजारी प्रभुके ऐसे भक्तिभावको देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और महाप्रभुके प्रेमकी सराहना करने लगे। प्रभुने उस पुष्प-गुच्छको भगवान्की प्रसादी समझकर भक्तिभावसे सिरपर धारण कर लिया और बहुत देरतक भक्तोंके सहित मन्दिरमें संकीर्तन करते रहे। अन्तमें वहींपर रात्रिमें विश्राम भी किया।

---

* जिन्हें चोरीसे क्षीरका पात्र देनेसे साक्षात् गोपीनाथ भगवान् क्षीरचोर कहलाये, जिनके प्रेमके प्रभावसे साक्षात् श्रीगोपालजी प्रकट हुए उन महामान्य श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजीके चरणोंमें हम प्रणाम करते हैं।

नित्यानन्दजीने पूछा—'प्रभो ! इन श्रीगोपीनाथ भगवान्का नाम "क्षीरचोर' क्यों पड़ा ?'

प्रभुने हँसकर उत्तर दिया—'आपसे क्या छिपा होगा ? गोपीनाथ भगवान्को क्षीरचोर बनानेवाले आपके पूज्यपाद गुरुदेव और मेरे गुरुके भी गुरु श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीजी महाराज ही हैं। उनके मुखसे आपने 'क्षीर-चोर' भगवान्की कथा अवश्य ही सुनी होगी, किन्तु फिर भी आप अन्य भक्तोंके कल्याणके निमित्त मेरे मुखसे इस कथाको सुनना चाहते हैं तो जिस प्रकार मैंने अपने पूज्यपाद गुरुदेव श्रीईश्वरपुरीके मुखसे सुनी है, उसे आपको सुनाता हूँ। ऐसी कथाओंको तो बार-बार सुनना चाहिये। इन कथाओंके श्रवणसे भगवान्के पादपद्मोंमें प्रीति उत्पन्न होती है और भगवान्की भक्तवत्सलताके विषयमें दृढ़ भावना होती है, कि वे अपने भक्तोंकी इच्छा-पूर्तिके निमित्त सब कुछ कर सकते हैं। ऐसी कथाओंके सम्बन्धमें यह कभी भी न कहना चाहिये कि यह तो हमारी सुनी हुई है, इसे फिर क्या सुनें। जैसे एक दिन भरपेट भोजन कर लेनेपर दूसरे दिन फिर उसी प्रकारके भोजन करनेकी इच्छा होती है, इसी प्रकार भक्तोंको भगवान्के सम्बन्धकी कथाएँ सुननेमें कभी उपेक्षा न करनी चाहिये, वे जितनी भी बार सुननेको मिल सकें, सुननी चाहिये। भक्त और भगवत्-सम्बन्धी कथाओंके सम्बन्धमें सदा अतृप्त ही बने रहना चाहिये।

अच्छा, तो मैं क्षीरचोर श्रीगोपीनाथके उस पुण्य आख्यानको आपलोगोंके सामने कहता हूँ, आप सभी लोग ध्यानपूर्वक सुनें।' प्रभुकी ऐसी बात सुनकर सभी भक्त उत्सुकतापूर्वक प्रभुके मुखकी ओर देखने लगे। और भी दस-बीस भद्र पुरुष वहाँ आ गये थे, वे भी प्रभुके मुखसे क्षीरचोर भगवान्की कथा सुननेके निमित्त बैठ गये।

सबको उत्सुकतापूर्वक अपनी ओर टकटकी लगाये देखकर प्रभु बड़े ही मधुर स्वरसे कहने लगे—'मेरे गुरुके भी गुरु बैकुण्ठवासी भगवान् माधवेन्द्रपुरीकी कृष्ण-भक्ति अलौकिक थी, वे अहर्निश श्रीकृष्ण-कीर्तनमें ही लगे रहते थे, सोते-जागते वे सदा श्रीहरिके ही रूपका चिन्तन करते रहते। उनकी जिह्वाको भगवन्नामका ऐसा चस्का लग गया था, कि वह कभी भी ठाली नहीं रहती, सदा उन जगत्पतिके मंगलमय मञ्जुल नामोंका ही बखान करती रहती। उनकी इस उत्कट भक्तिके ही कारण भगवान्‌को खीरकी चोरी करनी पड़ी।

भगवान् माधवेन्द्रपुरी एक बार व्रजकी यात्रा करते-करते गिरिराज गोवर्धन पर्वतके समीप पहुँचे। वहाँपर गिरि-काननकी कमनीय छटाको देखकर वे मन्त्रमुग्ध-से बन गये और वहीं गिरिवरके समीप विचरण करने लगे। एक दिन उन्होंने गोवर्धनके निकट जङ्गलमें एक वृक्षके नीचे निवास किया। पुरी महाराजकी अयाचित वृत्ति थी। वे भोजनके लिये भी किसीसे याचना नहीं करते थे। प्रारब्धवशात् जो भी कुछ मिल जाता उसे ही सन्तोषपूर्वक पाकर कालयापन करते थे। उस दिन उन्हें दिनभर कुछ भी आहार नहीं मिला। शामके समय वे उसी वृक्षके नीचे बैठे भगवन्नामोंका उच्चारण कर रहे थे, कि उन्हें किसीके पैरोंकी आवाज सुनायी दी। वे चौंककर पीछेकी ओर देखने लगे। उन्होंने क्या देखा कि एक काले रंगका ग्यारह-बारह वर्षकी अवस्थावाला बालक हाथमें दूधका पात्र लिये उनकी ओर आ रहा है। शरीरका रंग काला होनेपर भी बालकके चेहरेपर एक अद्भुत तेज प्रकाशित हो रहा था, उसके सभी अङ्ग सुडौल-सुन्दर और चित्ताकर्षक थे। उसने बड़े ही कोमल स्वरमें कुछ हँसते हुए कहा—'महात्माजी! भूखे क्यों बैठे हो? लो, इस दूधको पी लो।'

पुरीने पूछा—'तुम कौन हो और तुम्हें इस बातका कैसे पता चला, कि मैं यहाँ जङ्गलमें भूखा बैठा हूँ ?'

बालकने हँसते हुए कहा—'मैं जातिका ग्वाला हूँ, मेरा घर इसी झाड़ीके समीपके ग्राममें है। मेरी माता अभी जल भरने यहाँ आयी थी, उसीने आपको यहाँ बैठे देखा था और घर जाकर उसीने मुझसे दूध दे आनेको कह दिया था। इसीलिये मैं जल्दीसे गौको दुहकर आपके लिये दूध ले आया हूँ। हमारे यहाँका यह नियम है, कि हमारे ग्रामके समीप कोई भूखा नहीं सोने पाता। जो माँगकर खाते हैं, उन्हें हम रोटी दे देते हैं और जिनका अयाचित व्रत है, उन्हें उनकी इच्छाके अनुसार दूध, फल अथवा अन्नके बने पदार्थ दे जाते हैं। आप इस दूधको पी लें, मैं फिर आकर इस पात्रको ले जाऊँगा।' इतना कहकर वह बालक चला गया।

पुरी महाशयने उस दूधको पीया। इतना स्वादिष्ट दूध उन्होंने अपने जीवनमें कभी नहीं पीया था, वे मनमें अत्यन्त ही प्रसन्न होते हुए उस दूधको पीने लगे। उनके हृदयमें उस साँवले ग्वालेके लड़केकी सूरत गड़-सी गयी थी, वे बार-बार उसका चिन्तन करने लगे। दूध पीकर पात्रको पृथिवीपर रख दिया और उस ग्वाल-कुमारकी प्रतीक्षामें बैठे रहे। आधी रात्रि बैठे-ही-बैठे बीत गयी, किन्तु वह ग्वाल-कुमार नहीं लौटा। अब तो पुरी महाराजकी उत्सुकता उस लड़केको देखनेकी अधिकाधिक बढ़ने लगी। उसी स्थितिमें उन्हें कुछ तन्द्रा-सी आ गयी। उसी समय सामने वही बालक खड़ा हुआ दिखायी देने लगा। उसने हँसते-हँसते कहा—'पुरी! मैं बहुत दिन-से तुम्हारे आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था। तुम आ गये, यह अच्छा ही हुआ। ग्वालेके लड़केके वेशमें मैं ही तुम्हें दुग्ध दे गया था, अब तुम मेरी फिरसे यहाँ प्रतिष्ठा करो। मैं यहाँ इस पासकी झाड़ीके नीचे दबा हुआ हूँ। पहले

मेरा यहाँ मन्दिर था, मेरा पुजारी म्लेच्छोंके भयसे मुझे इस झाड़ीके नीचे गाड़कर भाग गया। तबसे मैं इस झाड़खण्डमें ही दबा हुआ पड़ा हूँ। अब तुम मुझे यहाँसे निकालकर मेरी विधिवत् पूजा करो। मेरा नाम 'श्रीगोपाल' है, मैंने ही इस गोवर्धनको धारण किया था, तुम इसी नामसे मेरी प्रतिष्ठा करना।' इतना कहकर वह बालक पुरीका हाथ पकड़कर उस कुञ्जके समीप ले गया और उन्हें वह स्थान दिखा दिया।

आँखें खुलनेपर पुरी महाराज चारों ओर देखने लगे, किन्तु वहाँ कोई नहीं था। प्रातःकाल उन्होंने ग्रामके लोगोंको बुलाकर सब वृत्तान्त कहा और श्रीगोपालके बताये हुए स्थानको उन्होंने खुदवाया। बहुत दूर खुदनेपर उसमेंसे एक बहुत ही सुन्दर श्यामवर्णकी सुन्दर-सी मनको मोहने-वाली मूर्ति निकली। पुरीने उसी समय ग्रामवासियोंसे एक छप्पर छवाकर उसमें एक ऊँचा-सा आसन बनाया और उसके ऊपर उस श्रीगोपालकी मूर्तिको स्थापित किया। मूर्तिको स्थापित करके उन्होंने विधिवत् भगवान्को पञ्चामृतसे स्नान कराया, फिर शीतल जलसे भगवान्के श्रीविग्रहको खूब मल-मलकर धोया। सुगन्धित चन्दन घिसकर सम्पूर्ण शरीरपर लेपन किया और धूप, दीप, नैवेद्य तथा वन्य फल-फूलोंसे उनकी यथाविधि पूजा की।

अब पुरी महाराजने अन्नकूट-उत्सव करनेका निश्चय किया। उस ग्राममें जितने ब्राह्मणोंके घर थे, सभीसे कह दिया कि वे यथाशक्ति अपने घरसे भोजनकी सामग्री लेकर अपनी-अपनी स्त्रियोंके सहित यहाँ अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भाँति-भाँतिके व्यञ्जन बनावें। सभी ब्राह्मणोंने प्रसन्नतापूर्वक पुरीकी आज्ञाका पालन किया। वे अपने-अपने घरोंसे बड़े-बड़े घड़ोंमें दूध, दही तथा घृत भर-भरकर पुरीकी कुटियाके समीप लाने लगे। ग्वालोंने अपने घरका सम्पूर्ण दूध दे दिया। दूकान करनेवाले

बनियोंने चावल, बूरा तथा घृत आदि बहुत-सी भोजनकी सामग्री भगवान्‌के भोगके लिये प्रदान की। सुपात्र ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ आ-आकर अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार सुन्दर-सुन्दर पदार्थ भगवान्‌के भोगके लिये तैयार करने लगीं। पदार्थोंमें कच्चे-पक्केका भेद-भाव नहीं था, जिसे जो भी बनाना आता था और जिसे जो भी अधिक प्रिय था, वही अपनी शुद्ध भावनाके अनुसार उसी पदार्थको भक्ति-भावसे बनाने लगी।

कोई तो फिलौरीदार बढ़िया कढ़ी ही बना रही है, कोई मूँगके-उड़दके बड़े ही बनाती है, कोई दही-बड़े, काँजीके बड़े, सौंठके बड़े बना-बनाकर रख रही है, कोई पूड़ी, कचौरी, मालपुआ, मीठे पुआ, बेसनके पुआ, बाजरेकी टिकियाँ ही बना रही है, कोई बेसनके लड्डू, मूँगके लड्डू, निकुतीके लड्डू, सूजीके लड्डू, चूरमाके लड्डू, काँगनीके लड्डू आदि भाँति-भाँतिके लड्डुओंको ही भोगके लिये तैयार कर रही है, कोई भाँति-भाँतिके साग, खट्टे, मीठे विविध प्रकारके रायते ही बना-बनाकर एक ओर रखती जाती है, कोई छोटी-छोटी बाटियाँ ही बनाकर उन्हें घीके पात्रमें डुबो-डुबोकर रखती जा रही है, कोई उन्हें हाथसे मींजकर चूरमा बना रही है, कोई पतली-पतली फुलकियाँ पका रही है, कोई-कोई मोटे-मोटे रोट ही बनाकर भगवान्‌को खिलाना चाहती है, कोई काँगनीका भात बना रही है, तो कोई बाजरेका भात उबाल रही है। कोई रमासोंको उबालकर ही छौंक रही है। कोई चनोंको फुलाकर उन्हें घीमें तल रही है। कोई अमचूरकी, पोदीनाकी, मेवाओंकी, इमलीकी तथा और भी कई प्रकारकी चटनियोंको पीस-पीसकर पत्थरकी कटोरियोंमें रखती जाती है। कोई मखानोंकी, चावलोंकी तथा और भी भाँति-भाँतिकी खीर ही बना रही है, कोई दूधका खोआ बनाकर पेड़ा, बर्फी, खोआके लड्डू, गुलाबजामुन आदि फलाहारी मिठाइयाँ बना रही है, कोई दूधकी

रबड़ी बना रही है, कोई खुरचन तैयार करके दूसरी ओर रखती जाती है, कोई मट्ठाकी महेरी ही भगवान्को भोग लगाना चाहती है। कोई सुन्दर-सुन्दर भाँति-भाँतिके चावलोंको ही कई प्रकारसे राँध रही है। कोई रोटियोंको दूधमें मींजकर उन्हें दूधमें फुला रही है। कोई लपसी बना रही है। कोई हलुआ, मोहनभोग, दुधलपसी आदि पदार्थोंको बनानेमें लगी हुई है। इस प्रकार सभीने अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार सैकड़ों प्रकारके षट्रसयुक्त भोजन बनाये। उन्होंने क्या बनाये, श्रीगोपाल भगवान्ने स्वयं उनके हृदयमें प्रेरणा करके बनवाये, नहीं तो भला गाँवकी रहनेवाली वे गँवारोंकी स्त्रियाँ ऐसे पदार्थोंका बनाना क्या जानें! भगवान् तो सर्व-समर्थ हैं, वे जिसके हाथसे जो भी चाहें, करा सकते हैं।

इस प्रकार सब सामान तैयार होनेपर पुरी महाराजने भगवान्का भोग लगाया। पता नहीं भगवान् कितने दिनोंके भूखे थे, देखते-ही-देखते वे उन सभी पदार्थोंको चट कर गये। पुरी महाशयको बड़ा विस्मय हुआ। तब भगवान्ने हँसकर अपने हाथोंसे उन पात्रोंको छू दिया। भगवान्के स्पर्शमात्रसे ही वे सभी पदार्थ फिर ज्यों-के-त्यों ही हो गये। पुरी महाराजने प्रसन्नता प्रकट करते हुए सभी व्रजवासी स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध तथा युवकोंको वह प्रसाद बाँटा। पुरी महाराजने भगवान् श्रीगोपालको प्रकट किया है, यह समाचार दूर-दूरतक फैल गया था। हजारों स्त्री-पुरुष भगवान्के दर्शनके लिये आने लगे। उस दिन भगवान्के दर्शनको जो भी आता, उसे ही पेट भरकर प्रसाद मिलता। रात्रिपर्यन्त हजारों आदमी आते-जाते रहे, किन्तु अन्ततक सभीको यथेष्ट प्रसाद मिला, कोई भी प्रसादसे विमुख होकर नहीं गया। इस प्रकार उस दिनका अन्नकूट-उत्सव बड़ा ही अद्भुत रहा।

इसके पश्चात् अन्य ग्रामोंके भी पुरुष बारी-बारीसे श्रीगोपाल भगवान्का अन्नकूट करने लगे। इस प्रकार रोज ही पुरी महाराजकी

कुटियामें अन्नकूटकी धूम रहने लगी। यह समाचार दूर-दूरतक फैल गया। मथुराके बड़े-बड़े सेठ श्रीगोपाल भगवान्‌के दर्शनको आने लगे और वे सोना, चाँदी, हीरा जवाहिरात तथा भाँति-भाँतिके वस्त्राभूषण भगवान्‌की भेंट करने लगे। किसी पुण्यवान् पुरुषने श्रीगोपाल भगवान्‌का बड़ा भारी विशाल मन्दिर बनवा दिया। सभी व्रजवासियोंने एक-एक, दो-दो गाय मन्दिरके लिये भेंट दी। इससे हजारों गौएँ मन्दिरकी हो गयीं। पुरी महाराज बड़े ही भक्तिभावसे भगवान्‌की सेवा-पूजा करने लगे। उनका शरीर कुछ क्षीण-सा हो गया था, वे सेवा-पूजाके लिये कोई योग्य शिष्य चाहते थे, उसी समय गौड़-देशसे दो सुन्दर युवक आकर पुरी महाराजके शरणापन्न हुए। पुरीने उन्हें योग्य समझकर दीक्षित किया और उन्हें श्रीगोपाल भगवान्‌की पूजाका काम सौंपा। इस प्रकार दो वर्षोंतक पुरी महाराज श्रीगोपाल भगवान्‌की पूजा करते रहे।

एक दिन स्वप्नमें भगवान्‌ने पुरी महाराजसे कहा—'माधवेन्द्र! बहुत दिनोंतक पृथिवीके अन्दर रहनेके कारण हमारे सम्पूर्ण शरीरमें दाह होती है, यदि तू जगन्नाथपुरीसे मलयागिर-चन्दन लाकर हमारे शरीरमें लेपन करे तो हमारी यह गर्मी शान्त हो।' भगवान्‌की आज्ञा शिरोधार्य करके दूसरे दिन शिष्योंको पूजाका सभी काम सौंपकर और भगवान्‌से आज्ञा प्राप्त करके पुरी महाराजने नीलाचलके लिये प्रस्थान किया। इसी यात्रामें वे नवद्वीप पधारे और अद्वैताचार्यके घरपर आकर ठहरे। आचार्य उनके अद्भुत भक्ति-भावको देखकर उनके भगवत्-प्रेमपर आसक्त हो गये और उन्होंने पुरी महाराजसे मन्त्रदीक्षा लेकर उन्हें अपना गुरु बनाया।

कुछ दिन शान्तिपुरमें रहकर और अद्वैताचार्यको दीक्षा देकर पुरी महाराज नीलाचलके लिये चले। चलते-चलते वे यहाँ रेमुणायमें आये और उन्होंने श्रीगोपीनाथजीके दर्शन किये। गोपीनाथ भगवान्‌के दर्शनसे पुरीको अत्यन्त ही प्रसन्नता हुई। यहाँपर भगवान्‌का साज-शृंगार

तथा भोग-राग बड़ी ही भावमय पद्धतिसे किया जाता था, पुरी महाराज वहाँकी पूजा-पद्धतिको खूब ध्यानपूर्वक देखते रहे। अन्तमें उन्होंने पुजारियोंसे पूछा—'यहाँपर भगवान्का मुख्य भोग किस वस्तुका लगता है?' पुजारियोंने उत्तर दिया—'यहाँ श्रीगोपीनाथ भगवान्का क्षीर-भोग ही सर्वोत्तम प्रधान भोग है। गोपीनाथजीकी क्षीरको 'अमृतकेलि' नामसे पुकारते हैं। गोपीनाथजीकी प्रसादी खीर सर्वत्र प्रसिद्ध है। बारह पात्रोंमें शामको खीरका भोग लगता है।'

पुरी महाराजकी इच्छा थी, कि मैंने पूजाकी पद्धति तो समझ ली, किन्तु खीर कैसी होती है, इसे मैं ठीक-ठीक नहीं समझ सका। यदि भगवान्की प्रसादी थोड़ी-सी खीर मिल जाती, तो उसका स्वाद देखकर मैं भी अपने श्रीगोपालको ऐसी ही खीर अर्पण करता। इस विचारके मनमें आते ही उन्हें भय प्रतीत हुआ, कि यह मेरी जिह्वा-लोलुपता तो नहीं है! ऐसे भाव रसनास्वादके निमित्त तो मेरे हृदयमें उत्पन्न नहीं हो गये! फिर उन्होंने सोचा—'भगवान्के प्रसादमें क्या इन्द्रिय-लोलुपता? मैं जिह्वा-स्वादके लिये तो इच्छा कर ही नहीं रहा हूँ, अपने भगवान्को भी ऐसी ही खीर खिलानेकी मेरी इच्छा थी।' इन विचारोंसे उन्हें कुछ-कुछ सन्तोष हुआ, किन्तु वे किसीसे प्रसाद माँग तो सकते ही नहीं थे, कारण कि, उनका तो अयाचित व्रत था। बिना माँगे जो भी कोई कुछ दे देता, उसीसे जीवन-निर्वाह करते, इसलिये प्रसादको चखनेकी उनकी इच्छा मन-की-मनमें ही रह गयी। उन्होंने किसीके सामने अपनी इच्छा प्रकट नहीं की। सन्ध्याको भोग लगकर शयन-आरती हो गयी। भगवान्के कपाट बन्द कर दिये गये। सभी लोग अपने-अपने घरोंको चले गये। पुरी महाशय भी गाँवसे थोड़ी दूरपर एक कुटियामें जाकर पड़ रहे।

आधीरात्रिके समय पुजारीने स्वप्न देखा—मानो साक्षात् गोपीनाथ भगवान् उसके सामने खड़े होकर कह रहे हैं—'पुजारी! पुजारी!! तुम

अभी उठकर मेरा एक जरूरी काम करो। मेरा एक परम भक्त माधवेन्द्रपुरी-नामका महाभागवत संन्यासी ग्रामके बाहर ठहरा हुआ है, उसकी इच्छा मेरे 'क्षीर-प्रसाद' को पानेकी है। अपने भक्तकी मनोवाञ्छाको पूर्ण करनेके निमित्त मैंने अपने भोगके बारह पात्रोंमेंसे एकको चुराकर अपने वस्त्रोंमें छिपा लिया है, तुम उसे ले जाकर अभी माधवेन्द्रको दे आओ।' इतना सुनते ही पुजारी चौंककर उठ पड़ा। उसने भगवान्के पट खोलकर उनके वस्त्रोंको देखा। सचमुच उनमें एक क्षीरसे भरा पात्र छिपा हुआ रखा है। पुजारी उस पात्रको लेकर नगरके चारों ओर चिल्लाता फिर रहा था—'माधवेन्द्रपुरी किनका नाम है ? जो माधवेन्द्रपुरी-नामके साधु हों, वे इस क्षीरके पात्रको ले लें। भगवान्ने उनके निमित्त क्षीरकी चोरी की है।'

इस प्रकार चिल्लाते-चिल्लाते पुजारी उसी स्थानपर पहुँचा जहाँ पुरी महाराज ठहरे हुए थे। भगवान्के पुजारीके मुखसे अपना नाम सुनकर पुरी महाराज बाहर निकल आये और कहने लगे—'महाराज ! मेरा ही नाम माधवेन्द्रपुरी है, कहिये क्या आज्ञा है ?'

पुरी महाराजका परिचय पाकर पुजारी उनके पादपद्मोंमें प्रणत हुआ और बड़े ही विनीत वचनोंसे कहने लगा—'महाभाग ! आप धन्य हैं ! आपकी इस अलौकिक भक्तिको भी कोटि-कोटि धन्यवाद है !! आज हम आपके दर्शनसे कृतार्थ हुए। इतने दिनकी भगवान्की पूजाका फल आज प्राप्त हो गया। हम-जैसे पैसोंके गुलामोंको भगवान्के साक्षात् दर्शन तो हो ही कैसे सकते हैं ? किन्तु हम अपना इसीमें अहोभाग्य समझते हैं, कि भगवान्की पूजा करनेके प्रभावसे आप-जैसे भगवान्के परम प्रिय भक्तके दर्शन हो गये ! हम तो आपको साक्षात् भगवान् ही समझते हैं, जिनकी मनोवाञ्छा पूर्ण करनेके निमित्त चराचर विश्वके एक-मात्र अधिपति भगवान्ने भी क्षीरकी चोरी की, वे भी चोर बने, वे महा-

भागवत तो भगवान्से भी बढ़कर हैं। यह लीजिये, भगवान्ने यह क्षीर आपके लिये चुराकर रख छोड़ी थी। उन्हींकी आज्ञासे मैं इसे आपके पास लाया हूँ।' पुजारीके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर पुरी महाराज कुछ लज्जित हुए। वे भगवान्की कृपालुता, भक्तवत्सलता और अपने भक्तोंके प्रति अपार ममताके भावोंको स्मरण करके प्रेममें विभोर होकर रुदन करने लगे। रोते-रोते उन्होंने भगवान्का दिया हुआ वह महाप्रसाद दोनों हाथ फैलाकर अत्यन्त ही दीन-भावसे भिखारीकी भाँति ग्रहण किया। एकान्तमें प्रेममें पागल हुए उस महाप्रसादको वे पाने लगे। उस समयके उनके अनिर्वचनीय आनन्दका अनुमान लगा ही कौन सकता है? एक तो भगवान्का महाप्रसाद और दूसरे साक्षात् भगवान्ने अपने हाथसे चोरी करके दिया। पुरी रोते जाते थे और उस प्रसादको पाते जाते थे। चारों ओरसे पात्रको खूब चाट-चाटकर पुरीने प्रसाद पाया। फिर जल डालकर उसे धोकर पी गये और उस मिट्टीके पात्रके टुकड़े कर करके उन्हें अपने वस्त्रमें बाँध लिया। भला भगवान्के दिये हुए पात्रको वे फेंक कैसे सकते थे? उस टुकड़ेको रोज नियमसे एक-एक करके खा लेते थे।

जब रेमुणायके लोगोंको भगवान्की क्षीर-चोरीकी बात मालूम पड़ी, तब तो हजारों नर-नारी पुरी महाराजके दर्शनके लिये आने लगे। चारों ओर पुरी महाराजके प्रभुप्रेमकी प्रशंसा होने लगी। सभीके मुखों-पर वही पुरी महाराजकी अलौकिक भक्तिकी बात थी, सभी उनके भगवत्-प्रेमकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। प्रतिष्ठाको शूकरीविष्ठा और गौरवको रौरव-नरकके समान दुखदायी समझनेवाले पुरी महाराज अब अधिक कालतक वहाँ न ठहर सके, वे श्रीगोपीनाथ भगवान्के चरणोंको वन्दना करके जगन्नाथपुरीके लिये चले गये।

जगन्नाथजीमें पहुँचते ही पुरी महाराजके आगमनका समाचार चारों ओर फैल गया। दूर-दूरसे लोग पुरी महाराजके दर्शनके लिये आने लगे। सचमुच मान-प्रतिष्ठा तथा कीर्तिकी गति अपनी शरीरकी छायाके समान ही है, तुम यदि स्वयं छायाको पकड़ने दौड़ोगे, तो वह तुमसे आगे-ही-आगे भागती जायगी। तुम कितना भी प्रयत्न करो, वह तुम्हारे हाथ न आवेगी। उसीकी तुम उपेक्षा करके उससे पीछा छुड़ाकर दूसरी ओर भागो; तुम चाहे उससे कितना भी पीछा छुड़ाना चाहो, किन्तु वह तुम्हारा पीछा न छोड़ेगी। तुम जिधर भी जाओगे उधर ही वह तुम्हारे पीछे-पीछे लगी डोलेगी। जो लोग प्रतिष्ठा चाहते हैं, प्रतिष्ठाके लिये सब कुछ करनेको तैयार हैं, उनकी प्रतिष्ठा नहीं होती और जो संसारसे पृथक् होकर एकदम प्रतिष्ठासे दूर भागते हैं, संसार उनकी प्रतिष्ठा करता है। इसीलिये तो संसारकी गतिको उलटी बताते हैं। गोपीनाथ भगवान्‌के दरबारमेंसे पुरी महाराज प्रतिष्ठाके ही भयसे भाग आये थे, उसने यहाँ भी पिण्ड नहीं छोड़ा। अस्तु। कुछ कालतक जगन्नाथपुरीमें निवास करके ब्राह्मणोंके सम्मुख अपने श्रीगोपालकी इच्छा कह सुनायी। भगवान्‌की इच्छाको समझकर पुरीनिवासी ब्राह्मण परम प्रसन्न हुए और उन्होंने पुरी महाराजके लिये बहुत-से मलयागिर-चन्दनकी व्यवस्था कर दी। राजासे कहकर उन्होंने चन्दनके लिये यथेष्ट कर्पूर तथा केसर-कस्तूरीका भी प्रबन्ध कर दिया। उन्हें व्रजतक पहुँचानेके लिये दो सेवक भी पुरी महाराजके साथ कर दिये और राजाज्ञा दिलाकर उन्हें प्रेम-पूर्वक विदा कर दिया।

चन्दन, कर्पूर आदिको लिये हुए पुरी महाराज फिर रेमुणायमें पधारे और श्रीगोपीनाथ भगवान्‌के दर्शनके निमित्त वहाँ दो-चार दिन-के लिये ठहर गये।

भगवान् तो भावके भूखे हैं, उन्हें किसी संसारी भोगकी वाञ्छा नहीं, वे तो भक्तका भक्ति-भाव ही देखना चाहते हैं। पुरी महाराजकी अलौकिक श्रद्धा तो देखिये, भगवान्की आज्ञा पाते ही चन्दन लेनेके लिये भारतके एक छोरसे समुद्रके किनारे दूसरे छोरपर आपत्ति-विपत्तियोंकी कुछ भी परवा न करते हुए प्रेमसहित चल दिये। अब भक्तकी अग्नि-परीक्षा हो चुकी वे उसमें खरे सोनेके समान निर्मल होकर चमकते हुए ज्यों-के-त्यों ही निकल आये। अब भगवान्ने भक्तको और अधिक क्लेशमें डालना उचित नहीं समझा। उस समय मुसलमानी शासनमें इतनी दूरतक चन्दन आदिका ले जाना बड़ा कठिन था। फिर स्थान-स्थानपर घोर युद्ध हो रहे थे, कहीं भी निर्विघ्न पथ नहीं था। इसीलिये भगवान्ने पुरी महाराजको स्वप्नमें आज्ञा दी—'श्रीगोपीनाथ और मैं एक ही हूँ। तुम हमारे दोनों विग्रहोंमें किसी प्रकारकी भेद-बुद्धि मत रखो। तुम इस चन्दनका लेप श्रीगोपीनाथके ही विग्रहमें करो। इसीसे हमारा ताप दूर हो जायगा। हमारे वचनोंपर विश्वास करके तुम निःसंकोच-भावसे इस चन्दनको यहीं-पर घिसवाकर हमारे अभिन्न विग्रहमें लगवा दो।'

पुरी महाराजको पहले जो स्वप्नमें आदेश हुआ था, उसकी पूर्तिके लिये तो वे जगन्नाथजी चन्दन लेनेके लिये दौड़े आये थे, अब जो भगवान्ने स्वप्नमें आज्ञा दी उसे वे कैसे टाल सकते थे, इसीलिये भगवान्की आज्ञा शिरोधार्य करके वे वहीं ठहर गये और चन्दन घिसवानेके लिये दो आदमी नौकर और रख लिये। ग्रीष्म-कालके चार महीनोंतक वहीं रहकर पुरी महाराज भगवान्के अङ्गपर कर्पूर, चन्दन आदिका लेप कराते रहे और जब भगवान्का ताप दूर हो गया, तो वे चतुर्मास बितानेके निमित्त पुरी चले गये और वहाँ चार महीने निवास करके फिर अपने श्रीगोपालके समीप लौट आये।

इस प्रकार सभी भक्तोंको श्रीमन्माधवेन्द्रपुरीकी उत्कट भक्ति और अलौकिक प्रेमकी कहानी कहते-कहते, प्रभुका गला भर आया। प्रभुके दोनों नेत्रोंसे अश्रुधारा निकल-निकलकर उनके वक्षःस्थलको भिगोने लगी। पुरीके माहात्म्यका वर्णन करते-करते अन्तमें उन्हें उस श्लोकका स्मरण हो आया जिसे पढ़ते-पढ़ते पुरी महाराजने इस पाञ्चभौतिक शरीरका परित्याग किया था। वे रुँधे हुए कण्ठसे उस श्लोकको बार-बार पढ़ने लगे—श्लोक पढ़ते-पढ़ते वे बेहोश होकर नित्यानन्दजीकी गोदमें गिर पड़े। अन्य उपस्थित भक्त भी प्रभुको रुदन करते देखकर जोरोंसे क्रन्दन करने लगे। उसी समय भगवान्का भोग लगकर शयन-आरती हुई। प्रभुने सभी भक्तोंके सहित शयन-आरतीके दर्शन किये और फिर वहीं मन्दिरके समीप ही एक स्थानमें रात्रि बितानेका निश्चय किया। पुजारियोंने लाकर भगवान्के क्षीरभोगके बारह पात्र प्रभुके सामने रख दिये। प्रभु भगवान्के उस महाप्रसादके दर्शन-मात्रसे ही परम प्रसन्न हो उठे। प्रसन्नता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—आज हमारा जन्म सफल हुआ, जो हम गोपीनाथ भगवान्के क्षीरके अधिकारी समझे गये। भगवान्के प्रसादके सम्बन्धमें लोभ-वृत्ति करना ठीक नहीं है। हम पाँच ही आदमी हैं, अतः आप हमें पाँच पात्र देकर सात पात्रोंको उठा ले जाइये। भगवान्के प्रसादके अधिकारी सभी हैं। उसे अकेले-ही-अकेले पा लेना ठीक नहीं है। यह कहकर प्रभुने पाँच पात्रोंको ग्रहण करके शेष सात पात्रोंको लौटा दिया।

भगवान्के उस अद्भुत महाप्रसादको प्रभुने अपने भक्तोंके साथ श्रद्धासहित पाया और वह रात्रि वहीं भगवान्के चरणोंके समीप बितायी।

श्रीसाक्षिगोपाल

पद्भ्यां चलन् यः प्रतिमास्वरूपो
ब्रह्मण्यदेवो हि शताहगम्यम्।
देशं ययौ विप्रकृतेऽद्भुतोऽयं
तं साक्षिगोपालमहं नतोऽस्मि ॥*
(चै० च० म० ली० ५।१)

प्रातःकाल उठकर प्रभु नित्यकर्मसे निवृत्त हुए और भगवान् श्रीगोपीनाथजीकी मंगल आरतीके दर्शन करके उन्होंने भक्तोंके सहित आगेके लिये प्रस्थान किया। रास्तेमें उन्हें वैतरणी-नदी मिली। उसमें स्नान करके प्रभु राजपुरमें पहुँचे। वहाँ वराह भगवान्‌का स्थान है। वराह भगवान्‌के दर्शन करनेके अनन्तर याजपुरमें होते हुए और शिवलिंग, विरजादर्शन तथा ब्रह्मकुण्डमें स्नान करते हुए नाभिगयामें पहुँचे। वहाँ दशाश्वमेध-घाटपर स्नान करके कण्टकनगरमें पहुँचकर भगवान् साक्षिगोपालके दर्शन किये। साक्षिगोपालजीके मन्दिरमें बहुत देरतक कृष्णकीर्तन होता रहा। नगरके बहुत-से नर-नारी प्रभुके कीर्तन और नृत्यको देखनेके लिये

---

* जो ब्रह्मण्यदेव प्रतिमास्वरूपसे पैरों चलकर सैकड़ों दिनमें जाने योग्य होनेपर भी ब्राह्मणके ऊपर कृपा करके इस (विद्यानगर नामक) देशमें पधारे, ऐसे अद्भुत साक्षीका काम करनेवाले उन साक्षिगोपाल भगवान्‌के चरणोंमें हम बार-बार नमस्कार करते हैं।

एकत्रित हो गये। प्रभुको नृत्य करते देखकर ग्रामवासी स्त्री-पुरुष भी आनन्दमें उन्मत्त होकर कठपुतलियोंकी तरह नाचने-कूदने लगे। बहुत देरतक संकीर्तन-आनन्द होता रहा। तब प्रभुने अपने भक्तोंके सहित साक्षि-गोपालके मन्दिरमें विश्राम किया।

रात्रिमें भक्तोंके साथ कथोपकथन करते-करते प्रभुने नित्यानन्दजीसे पूछा—'श्रीपाद! आपने तो प्रायः भारतवर्षके सभी मुख्य-मुख्य तीर्थोंमें भ्रमण किया है। आपसे तो सम्भवतया कोई प्रसिद्ध तीर्थ न बचा हो, जहाँ जाकर आपने दर्शन-स्नानादि न किया हो?'

कुछ धीरेसे नित्यानन्दजीने कहा—'हाँ, प्रभो! बारह वर्ष मेरे इसी प्रकार तीर्थोंके भ्रमणमें ही व्यतीत हुए?'

प्रभुने पूछा—'यहाँ भी पहले आये थे?'

नित्यानन्दजीने उत्तर दिया—'पुरीसे लौटते हुए मैंने साक्षिगोपाल भगवान्के दर्शन किये थे।'

प्रभुने कहा—'तीर्थमें जाकर उस तीर्थका माहात्म्य अवश्य सुनना चाहिये। बिना माहात्म्य सुने तीर्थका फल आधा ही होता है। आप मुझे साक्षिगोपालका माहात्म्य सुनाइये। इनका नाम साक्षिगोपाल क्यों पड़ा? इन्होंने किसकी साक्षी दी थी?'

प्रभुकी ऐसी आज्ञा सुनकर धीरे-धीरे नित्यानन्दजी कहने लगे—'मैंने किसी पुराणमेंसे तो साक्षिगोपाल भगवान्की कथा नहीं सुनी, क्योंकि यह बहुत प्राचीन तीर्थ नहीं है। अभी थोड़े ही दिनोंसे साक्षि-गोपाल भगवान् विद्यानगरसे यहाँ पधारे हैं। लोगोंके मुखसे मैंने जिस प्रकार साक्षिगोपालकी कथा सुनी है, उसे सुनाता हूँ।'

तैलङ्ग-देशमें गोदावरी-नदीके तटपर 'विद्यानगर' नामकी कोट-देशकी प्राचीन राजधानी थी। वह नगर बड़ा ही समृद्धिशाली तथा

समुद्रके समीप होनेके कारण वाणिज्य-व्यापारका केन्द्र था। उसी नगरमें एक समृद्धिशाली कुलीन ब्राह्मण रहता था। ब्राह्मण भगवत्-भक्त था। वह गौ, ब्राह्मण तथा देवप्रतिमाओंमें भक्ति रखता था। घरमें खाने-पीनेकी कमी नहीं थी। लड़के बड़े हो गये थे, इसलिये घरके सम्पूर्ण कामोंको वे ही करते थे। यह वृद्ध ब्राह्मण तो माला लेकर भजन किया करता था। घरमें पुत्र, पुत्रवधू, स्त्री तथा एक अविवाहिता छोटी कन्या थीं। ब्राह्मणकी इच्छा तीर्थयात्रा करनेकी हुई। उस वृद्ध ब्राह्मणके समीप ही एक गरीब ब्राह्मणका लड़का रहता था। उसके माता-पिता उसे छोटा ही छोड़कर परलोकवासी हो गये थे। जिस किसी प्रकार मेहनत-मजूरी करके वह अपना निर्वाह करता था। किन्तु उसके हृदयमें भगवान्के प्रति पूर्ण श्रद्धा थी। वह एकान्तमें सदा भगवान्का भजन किया करता था। इस कारण उसपर भगवान्की कृपा थी। भगवान्की कृपाकी सबसे मोटी पहचान यही है कि जिसे ब्राह्मणोंमें, तीर्थोंमें, भगवत्-चरित्रोंमें, देवस्थानोंमें, भगवत्-प्रतिमाओंमें, गौओंमें, तुलसी-पीपल आदि पवित्र वृक्षोंमें श्रद्धा हो, इन सबके प्रति हार्दिक अनुराग हो, उसे ही समझना चाहिये कि यह भगवत्-कृपाका पात्र बन चुका है। उस ब्राह्मण-कुमारका इन सबके प्रति अनुराग था। इसीलिये वह वृद्ध ब्राह्मण इस लड़केपर स्नेह करता था।

एक दिन उस वृद्ध ब्राह्मणने इस युवकसे कहा—'भाई! यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो चलो तीर्थयात्रा कर आवें। गृहस्थीके जंजालसे कुछ दिनके लिये तो छूट जायँ।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए उस युवकने कहा—'इससे बढ़कर उत्तम बात और हो ही क्या सकती है? तीर्थयात्राका सुयोग तो किसी भाग्यवान् पुरुषको ही प्राप्त हो सकता है। मैं आपके साथ चलनेके लिये तैयार हूँ।'

अपने मनके योग्य साथी पाकर वह वृद्ध ब्राह्मण बहुत ही प्रसन्न हुआ और उस युवकको साथ लेकर तीर्थयात्राके लिये घरसे निकल पड़ा। दोनों ही गया, काशी, प्रयाग, अयोध्या, नैमिषारण्य, ब्रह्मावर्त आदि तीर्थ-स्थानोंके दर्शन करते हुए व्रजमण्डलमें पहुँचे। वहाँपर इन्होंने भद्रवन, बिल्ववन, लोहवन, भाण्डीरवन, महावन, मधुवन, तालवन, कुमुदवन, बहुलावन, काम्यवन, खदिरवन और श्रीवृन्दावन आदि बारह वनों तथा उपवनोंकी यात्रा की। व्रजके नन्दगाँव, बरसाना, गोवर्धन आदि सभी तीर्थोंके दर्शन करते हुए इन लोगोंने वृन्दावनमें आकर कुछ दिन विश्राम किया। उस छोटे ब्राह्मणकुमारने सम्पूर्ण यात्रामें उस वृद्ध ब्राह्मणकी बड़े ही निःस्वार्थभावसे सब प्रकारकी सेवा-शुश्रूषा की। वह वृद्ध ब्राह्मण इस युवककी सेवा-शुश्रूषासे बहुत ही अधिक सन्तुष्ट हुआ। उसने गोपालजीके मन्दिरमें कृतज्ञता प्रकट करते हुए उस ब्राह्मणकुमारसे कहा—'भाई! तुमने हमारी ऐसी अद्भुत सेवा की है, कि ऐसी सेवा पुत्र अपने पिताकी भी नहीं कर सकता। मैं इस कृतज्ञताके बोझसे दबा-सा जा रहा हूँ। मैं सोच रहा हूँ, इसके बदलेमें मैं तुम्हारा क्या उपकार करूँ?'

ब्राह्मणकुमारने कहा—'आप तो मेरे वैसे ही पूज्य हैं, फिर वृद्ध हैं, भगवत्भक्त हैं, पड़ोसी हैं, मेरे पिताके तुल्य हैं और आजकल तीर्थयात्री हैं, आपकी सेवा करना तो मेरा हर प्रकारसे धर्म है। इसमें मैंने प्रशंसाके योग्य कौन-सा काम किया है। यह तो मैंने अपने मनुष्योचित कर्तव्यका ही पालन किया है। मैंने किसी इच्छासे आपकी सेवा नहीं की, इसलिये इसका बदला चुकानेकी क्या जरूरत है?'

वृद्ध ब्राह्मणने कहा—'तुम तो बदला नहीं चाहते, किन्तु मेरा भी तो कुछ कर्तव्य है, जबतक मैं तुम्हारे इस महान् उपकारका कुछ थोड़ा-

बहुत प्रत्युपकार न कर सकूँगा, तबतक मुझे शान्ति न होगी। मेरी इच्छा है कि मैं अपनी पुत्रीका विवाह तुम्हारे साथ कर दूँ ?'

आश्चर्य प्रकट करते हुए उस युवकने कहा—'यह आप कैसी बातें कर रहे हैं, कहाँ आप इतने भारी कुलीन, धनी-मानी, बड़े परिवारवाले गृहस्थ, कहाँ मैं माता-पिता-हीन अकुलीन, अनाथ ब्राह्मणकुमार ! मेरा-आपका सम्बन्ध कैसा ? सम्बन्ध तो सदा समान शील-गुणवाले पुरुषोंमें होता है ?'

वृद्धने कहा—'पिताका कर्तव्य है, कि वह कन्याके लिये योग्य पतिकी खोज करे। उसके धन, परिवार और वैभवकी ओर विशेष ध्यान न दे। तुम्हारे-जैसे शील-स्वभावका वर अपनी कन्याके लिये और कहाँ मिलेगा ? इसलिये मैं तुम्हें ही अपनी कन्या दूँगा। तुम्हें मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ेगी ?'

उस युवकने कहा—'आप तो खैर राजी भी हो जायँगे, किन्तु आपकी स्त्री, आपका पुत्र तथा जाति-परिवारवाले इस सम्बन्धको कब स्वीकार करने लगे ? वे तो इस बातके सुनते ही आग-बबूला हो जायँगे ?'

वृद्ध ब्राह्मणने दृढ़ताके साथ कहा—'हो जाने दो सबको आग-बबूला। किसीका इसमें क्या साँझा है ? लड़की मेरी है, मैं जिसे चाहूँगा, दूँगा। कोई इसमें कह ही क्या सकता है ? तुम स्वीकार कर लो।'

युवकने कहा—'मुझे स्वीकार करनेमें तो कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु आप घर जाकर यहाँकी सब बातें भूल जायँगे, स्त्री, पुत्र तथा परिवारवालोंके आग्रहके सामने वहाँ आपकी कुछ भी न चल सकेगी।'

वृद्ध ब्राह्मणने जोशमें आकर कहा—'मैं गोपाल भगवान्‌को साक्षी करके कहता हूँ, कि मैं तुम्हारे साथ अपनी पुत्रीका विवाह अवश्य करूँगा। बस, अब तो विश्वास करोगे ?'

कुछ धीरेसे ब्राह्मणकुमारने कहा—'अच्छी बात है, वहाँ चलनेसे सब पता चल जायगा।' इस प्रकार गोपालके सामने पुत्री देनेकी प्रतिज्ञा करके वह वृद्ध ब्राह्मण थोड़े दिनोंके बाद उस युवकके ही साथ लौटकर विद्यानगरमें आ गया।

वहाँ आवेशमें आकर तो ब्राह्मण कन्यादानका वचन दे आया, किन्तु स्त्री, पुत्र आदिके सामने उसकी इस बातको कहनेकी हिम्मत नहीं पड़ी। एक दिन उसने एकान्तमें अपने पुत्रपर यह बात प्रकट की। इस बातके सुनते ही सम्पूर्ण घरमें द्वन्द्व मच गया। लड़का आपेसे बाहर हो गया, स्त्री अलग विष खानेके लिये तैयार हो गयी। परिवारवाले मिलकर जातिसे अलग कर देनेकी धमकी देने लगे। वृद्ध ब्राह्मण किंकर्तव्यविमूढ-सा बन गया। उसे कुछ सूझता ही नहीं था, कि ऐसी स्थितिमें क्या करूँ? अब वह उस युवकसे आँखें मिलानेमें भी डरता था।

उस युवकने कुछ कालतक तो प्रतीक्षा की कि ब्राह्मण स्वयं ही अपने वचनोंके अनुसार कार्य करे, किन्तु जब बहुत दिन हो गये, तो उस युवकने सोचा—'सम्भव है, बूढ़े बाबा अपने वचनोंको भूल गये हों, इसलिये एक बार उन्हें स्मरण तो दिला देना चाहिये। फिर उसके अनुसार काम करना-न-करना उनके अधीन है?'

यह सोचकर वह युवक उन वृद्ध ब्राह्मणके यहाँ गया। उस युवकको देखते ही वृद्ध ब्राह्मणका चेहरा उतर गया। उसने सूखे मुखसे कहा—'आओ भाई! आज तो बहुत दिनोंमें दिखायी पड़े।'

थोड़ी देरतक इधर-उधरकी बातें होनेके अनन्तर उस युवकने कहा—'बाबा! आपने वृन्दावनमें गोपालजीके सामने मुझे अपनी कन्या देनेका वचन दिया था, याद है?'

वृद्ध ब्राह्मण इस बातका जबतक कुछ उत्तर भी न देने पाया था, तबतक उसका पुत्र डण्डा लेकर उसके ऊपर दौड़ा और कहने लगा— 'क्यों रे नीच ! तेरा इतना बड़ा साहस ! मेरा बहनोई बनना चाहता है ? अभी इसी समय मेरे घरमेंसे निकल जा नहीं तो ऐसा लट्ठ मारूँगा, कि खोपड़ी बीचमेंसे खुल जायगी ।'

इस बातको सुनकर उस युवकको बड़ा क्षोभ हुआ । उसे विवाह न होनेका दुःख नहीं था, वह अपने अपमानके कारण जलने लगा । उसे अपनी स्थितिके ऊपर बड़ा दुःख होने लगा । वह सोचने लगा— 'आज मेरे माता-पिता होते और चार पैसे मेरे पास होते तो इसकी क्या हिम्मत थी, जो मेरा यह इस प्रकारसे अपमान कर सकता ? अच्छा, चाहें कुछ भी क्यों न हो, इस अपमानका बदला तो मैं इससे अवश्य लूँगा । या तो मैं इसकी बहिनके साथ विवाह ही करूँगा या जीवित ही न रहूँगा ।' यह सोचकर उसने पञ्चोंको इकट्ठा किया । पञ्चोंके इकट्ठे हो जानेपर उसने आदिसे अन्ततक सभी कथा कह सुनायी और अन्तमें कहा—'मैं और कुछ नहीं चाहता । ये बूढ़े बाबा ही अपने धर्मसे पञ्चोंके सामने कह दें, कि इन्होंने गोपालजीके मन्दिरमें उन्हींकी साक्षी देते हुए मुझे कन्यादान करनेका वचन नहीं दिया था ?'

ब्राह्मणको तो उसके पुत्रने पहले ही सिखा-पढ़ाकर ठीक कर रखा था । उसने पिताको समझा रखा था, आप झूठ-सत्य कुछ भी न कहें । केवल इतना ही कह दें—'मुझे उस समयका कुछ पता नहीं । इसमें झूठ भी नहीं । आप ही बतावें किस दिनकी बात है ?' दुःखके सहित पुत्र-स्नेहके कारण, पिताने पञ्चोंके सामने ऐसा कहना स्वीकार कर लिया । पञ्चोंके पूछनेपर ब्राह्मणने धीरेसे कह दिया—'मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है, यह कबकी बात है ?' बस, इतनेपर ही उसके पुत्रने बीचमें ही कहा—

'यह अकुलीन ब्राह्मण युवक झूठा है। मेरे पिताके साथ कोई दूसरा पुरुष तो था ही नहीं, यही अकेला था, इसने मेरे पितासे धन अपहरण करनेके लिये उन्हें धतूरा खिला दिया और सब धन ले लिया। अब ऐसी बातें बनाता है। भला, मेरे पिता ऐसे अकुलीन घरबारहीन कङ्गालको अपनी पुत्री देनेका वचन कभी दे सकते हैं?'

पञ्चोंने उस युवकसे कहा—'क्यों भाई! यह क्या कह रहा है? वृद्धने जब तुम्हें पुत्री देनेका वचन दिया, उस समय वहाँ कोई और भी पुरुष था, तुम किसीकी साक्षी दे सकते हो?'

युवकने गम्भीरताके साथ कहा—'गोपालजीके ही सामने इन्होंने कहा था और गोपालजीको छोड़कर और मेरा कोई दूसरा साक्षी नहीं है।'

एक वृद्ध-से पञ्चने इस बातको सुनकर हँसीके स्वरमें कहा—'तो क्या तुम गोपालको यहाँ साक्षी देनेके लिये ला सकते हो?'

आवेशमें आकर ज़ोरसे उस युवकने कहा 'हाँ, ला सकता हूँ।'

इस बातको सुनते ही सभी अवाक् रह गये और आश्चर्य प्रकट करते हुए एक स्वरमें सब-के-सब कहने लगे—'हाँ, हाँ, यदि तुम साक्षीके लिये गोपालजीको ले आओ और सब पञ्चोंके सामने गोपालजी तुम्हारी साक्षी दे दें तो हम जबरदस्ती लड़कीका विवाह तुम्हारे साथ करवा सकते हैं।'

इस बातसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए वृद्ध ब्राह्मणने कहा—'हाँ, यही ठीक है, यदि यह साक्षीके लिये गोपालजीको ले आवे तो मैं अपनी कन्याका विवाह इसके साथ जरूर कर दूँगा।' वृद्धको विश्वास था, कि भक्तवत्सल भगवान् मेरी प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके निमित्त और इस ब्राह्मण-कुमारकी लाज बचानेके निमित्त अवश्य ही साक्षी देनेके लिये आ जायँगे। किन्तु उसके उस उद्दण्ड पुत्रको इस बातका विश्वास कब हो सकता था, कि पाषाणकी मूर्ति भी साक्षी देनेके लिये कभी आ सकती है क्या? उसने

सोचा, यह अपने आप ही बहुत अच्छा उपाय निकल आया। न तो पत्थरकी प्रतिमा साक्षी देनेके लिये यहाँ आवेगी और न मुझे अपनी बहिनका विवाह इसके साथ करना होगा।' यह सोचकर वह जल्दीसे बोल उठा—'यह बात मुझे भी मंजूर है, यदि गोपालजी आकर सबके सामने इस बातकी साक्षी दे जायँ तो मैं अवश्य ही इन्हें अपना बहनोई बना लूँगा।'

विश्वासी युवकने सभी पञ्चोंसे इस बातपर हस्ताक्षर करा लिये तथा पुत्रसहित उस वृद्ध ब्राह्मणके भी हस्ताक्षर ले लिये कि यदि गोपाल साक्षी देने आ जायँगे, तो हम अवश्य इनका विवाह कर देंगे। सबसे लिखवाकर वह सीधा वृन्दावन पहुँचा और वहाँ जाकर उसने बड़ी ही दीनताके साथ कातरवाणीमें गोपालजीसे प्रार्थना की। भक्तके आर्त्तनादको सुनकर भगवान् प्रकट हुए और उससे कहा—'तुम चलो, मैं वहीं प्रकट होकर तुम्हारी साक्षी दूँगा।'

युवकने कहा—'भगवन्! ऐसे काम नहीं चलेगा। पता नहीं, आप किस रूपसे प्रकट हों और उन लोगोंको उसपर विश्वास हो या न हो। इसलिये आप इसी प्रतिमाके रूपसे मेरे साथ चलें।'

भगवान्ने हँसकर कहा—'कहीं पत्थरकी प्रतिमा भी चलती है? यह एकदम असम्भव बात है।'

युवक भक्तने कहा—'प्रभो! आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं! आपको इसी रूपसे मेरे साथ चलना होगा।'

भगवान् तो भक्तोंके अधीन हैं, उन्होंने स्वीकार कर लिया और कहने लगे—'तुम आगे-आगे चलो, मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगा। तुम पीछे फिरकर मेरी ओर न देखना। जहाँ तुम पीछे फिरकर देखोगे, मैं वहीं स्थिर हो जाऊँगा।'

भक्तने कुछ जोर देकर कहा—'तब मुझे कैसे पता चलेगा, कि आप मेरे पीछे आ ही रहे हैं ? कहीं बीचमेंसे ही लौट पड़े तब ?'

भगवान्‌ने हँसकर कहा—'तुम्हें पीछेसे बजती हुई मेरे पैरोंकी पैजनीकी आवाज सुनायी देती रहेगी, उसीसे तुम समझ लेना कि मैं तुम्हारे साथ आ रहा हूँ।'

भक्तने इस बातको स्वीकार किया और वह आगे-आगे चलने लगा, पीछेसे उसे भगवान्‌के पैरोंमें बजते हुए नूपुरोंकी ध्वनि सुनायी देती थी, इसीसे उसे पता रहता था, कि भगवान् मेरे पीछे-पीछे आ रहे हैं। रास्तेमें विविध प्रकारके भोजन बनाकर भगवान्‌का भोग लगाता हुआ वह विद्यानगरके समीप आ गया। नगरके समीप आनेपर उससे न रहा गया। उसने सोचा—'एक बार देख तो लूँ भगवान् मेरे पीछे हैं या नहीं।' यह सोचकर उसने पीछेको दृष्टि फिरायी। वहीं हँसकर भगवान् खड़े हो गये और प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोले—'अब मैं यहीं रहूँगा। यहींसे तुम्हारी साक्षी दूँगा। तुम उन लोगोंको यहीं बुला लाओ।'

भगवान्‌की ऐसी आज्ञा पाकर वह ब्राह्मणकुमार गाँवमें गया और लोगोंसे उसने गोपाल भगवान्‌के आनेका वृत्तान्त कह सुनाया। सुनते ही गाँवके सभी नर-नारी, बालक-वृद्ध तथा युवा पुरुष भगवान्‌के दर्शनके लिये दौड़े आये। सभी भूमिमें लोटकर भगवान्‌के सामने साष्टांग प्रणाम करने लगे। कोई मेवा लाकर भगवान्‌पर चढ़ाता, कोई फल-फूलोंसे ही गोपाल भगवान्‌की पूजा करता। इस प्रकार भगवान्‌के सामने विविध प्रकारकी भेंटें चढ़ने लगीं और हर समय उनकी पूजा होने लगी। फिर भगवान्‌की साक्षी लेनेकी किसीकी हिम्मत ही नहीं पड़ी। ब्राह्मणके लड़केने बड़ी ही प्रसन्नताके साथ अपनी बहिनका विवाह उस युवकके साथ कर दिया और वह वृद्ध ब्राह्मण तथा युवक दोनों मिलकर सदा

भगवान्‌की सेवा-पूजामें ही रहने लगे। दूर-दूरतक भगवान्‌के आनेका समाचार फैल गया। नित्यप्रति हजारों आदमी गोपाल भगवान्‌के दर्शनके लिये आने लगे। जब यह समाचार उस देशके राजाको विदित हुआ तो उसने एक बड़ा भारी मन्दिर गोपाल भगवान्‌के लिये बनवा दिया और तभीसे वे साक्षिगोपालके नामसे प्रसिद्ध हुए।

नित्यानन्दजी भक्तोंसहित बैठे हुए महाप्रभुसे इस कथाको कह रहे थे। प्रभु एकटक होकर इस परम पावन उपाख्यानको सुन रहे थे। नित्यानन्दजीके चुप हो जानेपर प्रभुने पूछा—'फिर विद्यानगरसे साक्षि-गोपाल यहाँ क्यों पधारे ? इस बातको हमें और सुनाओ।'

नित्यानन्दजी क्षणभर चुप रहनेके अनन्तर कहने लगे—'उस समय उड़ीसा-देशमें परम भागवत महाराजा पुरुषोत्तमदेव राज्य करते थे। उन्होंने विद्यानगरके राजाकी राजकुमारीके साथ विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की। इसपर विद्यानगरके राजाने अपनी कन्या महाराज पुरुषोत्तम-देवको नहीं दी और अस्वीकार करते हुए कहा—'मैं अपनी कन्याको मन्दिरके झाड़ूदारके लिये नहीं दूँगा।'

इसपर क्रुद्ध होकर महाराज पुरुषोत्तमदेवने विद्यानगरपर चढ़ायी की और भगवान् जगन्नाथजीकी कृपासे विजयनगरको जीतकर उसे अपने राज्यमें मिला लिया और राजकन्याका विवाह अपने साथ कर लिया। तभी महाराजने साक्षिगोपालसे पुरी पधारनेके लिये प्रार्थना की। महाराजके भक्तिभावसे प्रसन्न होकर साक्षिगोपाल भगवान् पुरी पधारे और कुछ कालतक जगन्नाथजीके मन्दिरमें ही माणिक्य-सिंहासनपर विराजे। जगन्नाथजी पुराने थे, ये बेचारे नये ही आये थे, इसलिये दोनोंमें कुछ प्रेम-कलह उत्पन्न हो गया। महाराज पुरुषोत्तमदेवने दोनोंको एक स्थानपर रखना उचित न समझकर अन्तमें पुरीसे तीन कोसकी दूरीपर

'सत्यवादी' नामक ग्रामके समीप साक्षिगोपाल भगवान्‌का मन्दिर बनवा दिया। तबसे ये यहीं विराजमान हैं।

इनकी महिमा बड़ी अपार है, एक बार उड़ीसा-देशकी महारानी इनके दर्शनके लिये पधारीं। इनकी मनमोहिनी बाँकी झाँकी करके महारानी मुग्ध हो गयीं। उनकी इच्छा हुई कि 'यदि भगवान्‌की नाक छिदी हुई होती तो मैं अपने नाकका बहुमूल्य मोती भगवान्‌को पहनाती।'

दूसरे ही दिन महारानीको स्वप्न हुआ मानो साक्षिगोपाल भगवान् सामने खड़े हुए कह रहे हैं—'महारानी! हम तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करेंगे। पुजारियोंको पता नहीं कि हमारी नाक छिदी हुई है। कल तुम ध्यानपूर्वक दिखवाना, हमारी नाकमें छिद्र है। तुम सहर्ष अपना मोती पहनाकर अपनी इच्छा पूर्ण कर सकती हो।'

प्रातःकाल उठते ही महारानीने यह वृत्तान्त महाराजसे कहा। महाराजने उसी समय पुजारियोंसे भगवान्‌की नाक दिखवायी। सचमुच उसमें छिद्र था। तब महारानीने बड़े ही प्रेमसे अपना बहुमूल्य मोती भगवान्‌की नाकमें पहनाया।

इतना कहकर नित्यानन्दजी चुप हो गये। इस कथाको सुनकर प्रभु प्रेममें गद्गद हो गये और साक्षिगोपालकी मनमोहिनी मूर्तिका ध्यान करते-करते ही वह रात्रि प्रभुने वहीं बितायी।

श्रीभुवनेश्वर महादेव

यौ तौ शङ्खकपालभूषितकरौ मालास्थिमालाधरौ
देवौ द्वारवतीश्मशाननिलयौ नागारिगोवाहनौ।
द्वित्र्यक्षौ बलिदक्षयज्ञमथनौ श्रीशैलजावल्लभौ
पापं वो हरतां सदा हरिहरौ श्रीवत्सगङ्गाधरौ॥*

(सु० र० भां० १४ । ८)

प्रातःकाल साक्षिगोपाल भगवान्‌की मंगल आरतीके दर्शन करके महाप्रभु आगेके लिये चलने लगे। महाप्रभुके हृदयमें जगन्नाथजीके दर्शनकी इच्छा अधिकाधिक उत्कट होती जाती थी। ज्यों-ज्यों वे आगे

---

* भगवान् हरि और भगवान् भोलेश्वर सदा हमारे पापोंको हरण करते रहें। वे हरि-हर भगवान् कैसे हैं? एकने तो हाथमें शंख धारण कर रखा है, दूसरेने कपाल ही ले रखा है। एकने गलेमें सुन्दर वैजयन्ती माला धारण कर रखी है तो दूसरे नरमुण्डोंकी ही माला पहने हुए हैं। एक द्वारकामें निवास करते हैं, तो दूसरे श्मशानमें ही पड़ रहते हैं। एक गरुडपर सवारी करते हैं, तो दूसरे बूढ़े बैलपर ही चढ़कर घूमते रहते हैं। एकके दो नेत्र हैं तो दूसरेके तीन हैं, एकने बलिका यज्ञ विध्वंस किया है, तो दूसरेने अपने गणोंसे दक्षप्रजापतिके यज्ञमण्डपको चौपट कराया है। एककी प्राणप्रिया समुद्रतनया लक्ष्मी हैं तो दूसरे शैलसुता पार्वतीको ही प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते हैं।

बढ़ते थे त्यों-ही-त्यों प्रभुकी भगवान्‌के दर्शनकी इच्छा पूर्वापेक्षा प्रबल होती जा रही थी। रास्तेमें चलते-चलते ही मुकुन्द दत्तने अपने कोकिल-कूजित कमनीय कण्ठसे संकीर्तनका यह पद आरम्भ कर दिया—

राम राघव ! राम राघव ! राम राघव ! रक्ष माम्।
कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! पाहि माम्॥

सभीने मुकुन्द दत्तके स्वरमें स्वर मिलाया। संकीर्तनकी सुरीली तानसे उस जनशून्य नीरव पथमें चारों ओर इसी संकीर्तन-पदकी गूँज सुनायी देने लगी। महाप्रभु भावावेशमें आकर नृत्य करने लगे। किसीको कुछ खबर ही नहीं थी, कि हमलोग किधर चल रहे हैं, मन्त्रसे कीले हुए मनुष्यकी भाँति उन सबके शरीर अपने-आप ही आगेकी ओर चले जा रहे थे। रास्ता किधरसे है और हम कहाँ पहुँचेंगे, इस बातका किसीको ध्यान ही नहीं था।

इस प्रकार प्रेममें विभोर होकर आनन्दनृत्य करते हुए प्रभु अपने साथियोंके सहित भुवनेश्वर नामक तीर्थमें पहुँचे। वहाँपर 'बिन्दुसर' नामका एक पवित्र सरोवर है। इस सरोवरके सम्बन्धमें ऐसी कथा है, कि शिवजीने सम्पूर्ण तीर्थोंका बिन्दु-बिन्दुभर जल लाकर इस सरोवरकी प्रतिष्ठा की, इसीलिये इसका नाम 'बिन्दुसर' अथवा 'बिन्दुसागर' हुआ। महाप्रभुने सभी भक्तोंके सहित बिन्दुसागर-तीर्थमें स्नान किया और स्नानके अनन्तर आप भुवनेश्वर महादेवजीके मन्दिरमें गये। भगवान् भुवनेश्वरकी भुवनमोहिनी मञ्जुल मूर्तिके दर्शनसे प्रभु मूर्च्छित हो गये, थोड़ी देरके पश्चात् बाह्य ज्ञान होनेपर आपने संकीर्तन आरम्भ कर दिया। भक्तोंके सहित प्रभु दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर 'शिव-शिव शम्भो, हरहर महादेव' इस पदको गा-गाकर जोरोंसे नृत्य कर रहे थे। सैकड़ों मनुष्य प्रभुको चारों ओरसे घेरे हुए खड़े थे।

भुवनेश्वर महादेवजीका मन्दिर बहुत प्राचीन है और ये शिवजी बहुत पुराने हैं। भुवनेश्वरको गुप्तकाशी भी कहते हैं। हजारों यात्री दूर-दूरसे भगवान् भुवनेश्वरके दर्शनके लिये आते हैं और इनके मन्दिरमें सदा पूजा ही होती रहती है। महाप्रभु चारों ओर जलते हुए दीपकोंको देखकर प्रेममें उन्मत्त-से हो गये। चारों ओर छिटकी हुई पूजनकी सामग्रीसे वह स्थान बड़ा ही मनोहर मालूम पड़ता था। महाप्रभु बहुत देरतक मन्दिरमें कीर्तन करते रहे और वहीं उस दिन उन्होंने विश्राम किया।

रात्रिमें जब प्रभु सब कर्मोंसे निवृत्त होकर भक्तोंके सहित कथोपकथन करनेके निमित्त बैठे, तब मुकुन्द दत्तने प्रभुके पादपद्मोंको धीरे-धीरे दबाते हुए कहा—'प्रभो! आपने ही बताया था, कि जिस तीर्थमें जाय, उस तीर्थका माहात्म्य अवश्य सुनना चाहिये। बिना माहात्म्य सुने तीर्थका फल आधा होता है, सो हमलोग भगवान् भुवनेश्वरका माहात्म्य सुनना चाहते हैं। एकान्तप्रिय और शैलकाननोंमें विहार करनेवाले ये भोलेबाबा इस उत्कल-देशमें आकर क्यों विराजमान हुए, काशी छोड़कर इन्होंने यहाँ यह नयी गुप्तकाशी क्यों बनायी—इस बातको जाननेकी हमलोगोंकी बड़ी इच्छा है। कृपा करके हमें भुवनेश्वर भगवान्की पापहारिणी कथा सुनाकर हमारे कर्णोंको पवित्र कीजिये। भगवत्-सम्बन्धी कथाओंके श्रवणमात्रसे ही अन्तःकरणकी मलिनता मिट जाती है और हृदयमें पवित्रताका सञ्चार होने लगता है।'

मुकुन्द दत्तके ऐसे प्रश्नको सुनकर कुछ मुस्कराते हुए प्रभुने कहा—'मुकुन्द! तुमने यह बहुत ही उत्तम प्रश्न पूछा। इन भगवान् भूतनाथके यहाँ पधारनेकी बड़ी ही अद्भुत कथा है। स्कन्दपुराणमें इसका विस्तारसे वर्णन किया गया है, उसीको मैं संक्षेपमें तुमलोगोंको सुनाता हूँ। इस हरि-हर-महिमावाली पुण्य-कथाको तुमलोग ध्यानपूर्वक सुनो।

पूर्वकालमें शिवजी काशीवासीके ही नामसे प्रसिद्ध थे। वाराणसीको हीं उन्होंने अपनी लीलास्थली बनाया। शिवजीके सभी काम विचित्र ही होते हैं, इसीलिये लोग इन्हें औघड़नाथ कहते हैं। औघड़-नाथबाबाको काशीजीमें भी कुछ गर्मी-सी प्रतीत होने लगी। इसलिये आप काशीको छोड़कर कैलास-पर्वतके शिखरपर जाकर रहने लगे। इधर काशी सूनी हो गयी। वहाँ एक राजाने अपनी राजधानी बना ली और वह बड़े ही भक्ति-भावसे भगवान् भूतनाथकी पूजा करने लगा। राजाने हजारों वर्षतक शिवजीकी घोर आराधना की। उसके उग्र तपसे प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् प्रसन्न हुए और उसके सामने प्रकट होकर उससे वरदान माँगनेको कहा।

राजाने दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए विनीतभावसे करुण स्वरमें कहा—'प्रभो! मैं अब आपसे क्या माँगूँ? आपके अनुग्रहसे मेरे धन-धान्य, राज-पाट, पुत्र-परिवार आदि सभी संसारकी उत्तम समझी जाने-वाली वस्तुएँ मौजूद हैं। मेरी एक ही बड़ी उत्कट इच्छा है, उसे सम्भवतया आप पूरी न कर सकेंगे।'

शिवजीने प्रसन्नताके वेगमें कहा—'राजन्! मेरे लिये प्रसन्न होनेपर त्रिलोकीमें कोई भी वस्तु अदेय नहीं है। तुम्हारी जो इच्छा हो, उसे ही निःसंकोचभावसे माँग लो।'

राजाने अत्यन्त ही दीनता प्रकट करते हुए सरलतासे कहा—'हे वरद! यदि आप प्रसन्न होकर मुझे वर ही देना चाहते हैं, तो मुझे यही वरदान दीजिये, कि युद्धमें मैं श्रीकृष्णचन्द्रजीको परास्त कर सकूँ।'

सदा आक-धतूरेके नशेमें मस्त रहनेवाले औघड़ दानी सदाशिव वरदान देनेमें आगा-पीछा नहीं सोचते। कोई चाहे भी जैसा वर क्यों न माँगे; उससे इन्हें स्वयं भी चाहे क्लेश क्यों न उठाना पड़े, ये वरदान देते

समय 'ना' करना तो सीखे ही नहीं हैं। राजाकी बात सुनकर आप कहने लगे—'राजन्! तुम घबड़ाओ मत, मैं तुम्हें अवश्य ही युद्धमें श्रीकृष्ण-भगवान्से विजय प्राप्त कराऊँगा। तुम अपनी सेना सजाकर समरके लिये चलो। तुम्हारे पीछे-पीछे अपने सभी भूत, पिशाच, वैतालादि गणोंके साथ युद्धक्षेत्रमें तुम्हारी रक्षाके निमित्त मैं चलूँगा। यह लो, मेरा पाशुपतास्त्र, इससे तुम श्रीकृष्णभगवान्की सम्पूर्ण सेनाको विध्वंस कर सकते हो।' यह कहकर शिवजीने बड़े हर्षके साथ राजाको पाशुपतास्त्र दिया। शिवजीसे दिव्य अस्त्र पाकर राजा परम प्रसन्न हुआ और उसने भगवान्के ऊपर धावा बोल दिया।

अन्तर्यामी भगवान् तो घट-घटकी जाननेवाले हैं। उन्हें सब बातोंका पता चल गया। उन्होंने सोचा—'शिवजी मेरे भक्त हैं, तपस्याके अभिमानी उस राजाके साथ इन्हें भी अभिमान हो आया। इसलिये मुझे दोनोंके अभिमानको चूर करना चाहिये। शिवजीका जो प्रिय है, वह मेरा भी प्रिय है, इसलिये दोनों ही मेरे भक्त हैं, इन दोनोंके मदको नष्ट करना मेरा कर्तव्य है, तभी मेरा 'मदहारी' नाम सार्थक हो सकता है।' यह सोचकर भगवान्ने राजाकी सेनाके ऊपर सुदर्शनचक्र छोड़ा। उस सुदर्शनचक्रने सर्वप्रथम तो राजाके सिरको ही धड़से अलग करके उसे भगवान्की विष्णुपुरीमें भेज दिया। क्योंकि भगवान्का क्रोध भी वरदानके ही तुल्य होता है। *

---

* ये ये हताश्चक्रधरेण राजन्!
त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन।
ते ते मृता विष्णुपुरीं प्रयाताः
क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः॥

इसके अनन्तर राजाकी सम्पूर्ण सेनाको छिन्न-भिन्न करके सुदर्शन-चक्र शिवजीकी ओर झपटा। शिवजी अपने अस्त्र-शस्त्रोंको छोड़ मुट्ठी बाँधकर भागे, किन्तु जगत्के बाहर जा ही कहाँ सकते थे? जहाँ कहीं भी भागकर जाते, वहीं सुदर्शनचक्र उनके पीछे पहुँच जाता। त्रिलोकीमें कहीं भी अपनी रक्षाका आश्रय न देखकर शिवजी फिर लौटकर भगवान्की ही शरणमें आये और पृथिवीमें लोटकर करुण स्वरसे स्तुति करने लगे—

'हे जगत्पते! इस अमोघ अस्त्रसे हमारी रक्षा करो। प्रभो! आपकी मायाके वशीभूत होकर हम आपके प्रभावको भूल जाते हैं। प्रभो! यह घोर अपराध हमने अज्ञानके ही कारण किया है। आप ही सम्पूर्ण जगत्के एकमात्र आधार हैं। ब्रह्मा, विष्णु और हम तो आपकी एक कलाके क़रोड़वें अंशके बराबर भी नहीं हो सकते। हे विश्वपते! आपके एक-एक रोमकूपमें करोड़ों ब्रह्माण्ड समा सकते हैं। नाथ! हम तो मायाके अधीन हैं। माया आपकी दासी है। वह हमें जैसे नचाती है, वैसे ही नाचते हैं। इसमें हमारा अपराध ही क्या है? हम स्वाधीन तो हैं ही नहीं।'

शिवजीकी ऐसी कातर-वाणी सुनकर भगवान्ने अपने चक्रका तेज संवरण कर लिया और हँसते हुए कहने लगे—'शूलपाणिन्! मैंने केवल आपके मदको चूर्ण करनेके ही निमित्त सुदर्शनचक्रका प्रयोग किया था, जिससे आपको मेरे प्रभावका स्मरण हो जाय। मेरी इच्छा आपके ऊपर प्रहार करनेकी नहीं थी। आप तो साक्षात् मेरे स्वरूप ही हैं। जो आपका प्रिय है, वह मेरा भी प्रिय है, जो आपकी भक्ति करता है, उसपर मैं सन्तुष्ट होता हूँ। जो मूर्ख मेरी तो पूजा करता है और आपकी उपेक्षा करता है, उसपर मैं कभी भी प्रसन्न नहीं हो सकता।

बिना आपकी सेवा किये, कोई मेरे प्रसादका भागी बन ही नहीं सकता। अब मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूँ। आप कोई वरदान माँगिये।'

शिवजीने विनीतभावसे कहा—स्वामिन्! अपराधियोंके ऊपर भी दयाके भाव प्रदर्शित करते रहना यह तो आपका सनातन-स्वभाव है। प्रभो! मैं आपके श्रीचरणोंमें अब क्या निवेदन करूँ? मेरी यही प्रार्थना है, कि आप मुझे अपने चरणोंकी शरणमें ही रखिये। आपके चरणोंका सदा चिन्तन बना रहे और आपके अमित प्रभावकी कभी विस्मृति न हो, ऐसा ही आशीर्वाद दीजिये।'

शिवजीके ऐसे वचनोंको सुनकर भगवान्ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'वृषभध्वज! मैं आपपर बहुत ही प्रसन्न हूँ। आप तो सदासे मेरे ही रहे हैं और सदा मेरे ही रहेंगे। आपको मेरे एक बहुत गोप्य और परम पावन जगन्नाथक्षेत्रका तो पता होगा ही। वह क्षेत्र मुझे अत्यन्त ही प्रिय है। उसके चारों ओर बीस योजनतककी भूमि बड़ी ही पवित्र है। उसमें जो भी जीव रहता है वह मेरा सबसे श्रेष्ठ भक्त है। वह चाहे जिस योनिमें क्यों न हो, अन्तमें मेरे ही धामको प्राप्त होता है। आप वहीं जाकर निवास करें। आपका क्षेत्र गुप्तकाशीके नामसे प्रसिद्ध होगा और उस क्षेत्रमें जाकर जो आपका दर्शन करेंगे, उनके जन्म-जन्मान्तरोंके पाप क्षय हो जायँगे।'

भगवान्की ऐसी आज्ञा पाकर उस दिनसे शिवजी यहीं आकर रहने लगे हैं। जो इस क्षेत्रमें आकर भक्तिभावसे स्थिर-चित्त होकर भुवनेश्वर महादेवजीके दर्शन करता है और दत्तचित्त होकर इस पुण्याख्यानका श्रवण करता है, वह निश्चय ही पापोंसे मुक्त होकर अक्षय सुखका भागी बनता है।

प्रभुके मुखसे शिवजीके इस पवित्र आख्यानको सुनकर सभी भक्त प्रसन्न हुए और प्रभुकी आज्ञा प्राप्त करके वह रात्रि उन्होंने वहीं सुखपूर्वक बितायी।

प्रातःकाल नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर और भुवनेश्वर भगवान्‌के दर्शन करके प्रभु अपने भक्तोंके सहित कमलपुरमें पहुँचे और वहाँ जाकर पुण्यतोया भार्गी-नदीमें सभीने सुखपूर्वक स्नान किया। वहाँ कपोतेश्वर भगवान्‌के मन्दिरमें जाकर शिवजीकी स्तुति की और भक्तोंसहित प्रभु दक्षिण-दिशाकी ओर देखने लगे। यहाँसे श्रीजगन्नाथपुरी तीन ही कोस रह जाती है। भगवान् जगन्नाथजीके मन्दिरकी विशाल ध्वजा और चक्र यहाँसे स्पष्ट दीखने लगते हैं।

प्रभुने दूरसे जगन्नाथजीके मन्दिरकी फहराती हुई विशाल ध्वजा देखी। उस ध्वजाके दर्शनमात्रसे ही प्रभु पछाड़ खाकर पृथिवीपर गिर पड़े। वे प्रेममें उन्मत्त होकर कभी तो हँसते थे, कभी रोते थे, कभी आगेको दौड़ते थे और कभी संज्ञाशून्य होकर गिर पड़ते थे। चेतना होनेपर फिर उठते और फिर गिर पड़ते। कभी लम्बे लेटकर ध्वजाके प्रति साष्टाङ्ग प्रणाम करते और फिर प्रणाम करते-करते ही आगे चलते। एक बार भूमिपर लोटकर प्रणाम करते, फिर खड़े हो जाते और फिर प्रणाम करते। इस प्रकार आँखोंसे अश्रु बहाते हुए, धूलिमें लोट-पोट होते हुए दर्शनकी उत्कट इच्छासे गिरते-पड़ते तीसरे पहर अठारहनालाके समीप पहुँचे। भक्त भी प्रभुके पीछे-पीछे संकीर्तन करते हुए आ रहे थे।

अठारहनाला पुरीके समीप एक सेतु है। इसी सेतुसे जगन्नाथपुरीमें प्रवेश करते हैं। प्रभु उस स्थानपर जाकर बेहोश होकर गिर पड़े। पीछेसे भक्त भी वहाँ पहुँच गये।
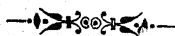
श्रीजगन्नाथजीके दर्शनसे मूर्च्छा

तवास्मीति वदन् वाचा तथैव मनसा विदन्।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः॥*

(वैष्णवतन्त्र)

अठारहनाला पहुँचनेपर प्रभुको कुछ-कुछ बाह्य ज्ञान हुआ। आप वहीं कुछ चिन्तित-से होकर बैठ गये। दोनों आँखें रोते-रोते लाल पड़ गयी थीं, भृकुटी चढ़ी हुई थीं। शरीरमें सभी सात्त्विक भावोंका उद्दीपन हो रहा था। कुछ प्रकृतिस्थ थे, कुछ भावावेशमें बेसुध-से थे। उसी मध्यकी अवस्थामें आपने भक्तोंसे बहुत ही नम्रताके साथ कहा—'भाइयो! आपलोगोंने मेरे साथ बहुत बड़ा उपकार किया है। इससे बढ़कर और उपकार हो ही क्या सकता है। आपलोगोंने मुझे रास्तेकी भाँति-भाँतिकी विपत्तिसे बचाकर यहाँतक पहुँचा दिया। आपलोग मेरे साथ न होते, तो न जाने मैं कहाँ-कहाँ भटकता फिरता, इस बातका भी निश्चय नहीं था, कि मैं यहाँतक आ भी सकता या नहीं। आपलोगोंने कृपा करके मुझे श्रीजगन्नाथपुरीके दर्शन करा दिये। मैं कृतार्थ हो गया। मैंने आप-लोगोंको यहींतक साथ रखनेका विचार किया था। अब आपलोगोंकी जहाँ इच्छा हो, वहीं जाइये। अब मैं आपलोगोंके साथ न रहूँगा।'

*** शरणागत भक्त वाणीसे तो आर्तस्वरमें कहता जाता है—'प्रभो! मै तुम्हारा हूँ' और मनमें भगवान्‌की भक्तवत्सलताका विश्वास बनाये रखता है तथा भगवान्‌के पूजा-स्थानमें अपने शरीरको लोट-पोट करता हुआ वहीं पड़ा रहता है। इस प्रकारके कर्मोंद्वारा वह आनन्दको प्राप्त करता है।**

नित्यानन्दजीने अपनी हँसी रोकते हुए कहा—'न रखियेगा हम-लोगोंको साथ, हम साथ रहनेको कह ही कब रहे हैं ? जब यहाँतक आये हैं, तो जगन्नाथजीके दर्शन करने तो चलने देंगे ?'

प्रभुने सिर हिलाते हुए गम्भीर स्वरमें कहा—'यह नहीं हो सकता। आपलोग मेरे साथ न चलें। यदि आपलोगोंको दर्शन करनेकी इच्छा है, तो या तो मुझसे पीछे जायँ या आगे चले जायँ। मेरे साथ नहीं जा सकते। बोलो, आगे जाते हो या पीछे रहते हो ?'

कुछ मुस्कराते हुए मुकुन्द दत्तने कहा—'प्रभो ! आप ही आगे चलें, हम तो आपके पीछे ही आये हैं और सब जगह आपके पीछे ही जायँगे।'

बस, इतना सुनना था, कि महाप्रभु श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरकी ओर बड़े ही वेगके साथ दौड़े। मानो किसी अरण्यके मत्त गजेन्द्रने अपनी उन्मादी अवस्थामें किसी ग्राममें प्रवेश किया हो और उसे देखकर मारे भयके ग्राम्य पशु इधर-उधर भागने लगे हों, उसी प्रकार प्रभुको इस उन्मत्तावस्थामें मन्दिरकी ओर दौड़ते देखकर रास्तेमें चलनेवाले सभी पथिक इधर-उधर भागने लगे। बहुत-से तो चौंककर दूसरी ओर हट गये। बहुत-से रास्ता छोड़कर एक ओर हट गये और बहुत-से मतिभ्रम हो जानेके कारण पीछेकी ही ओर दौड़ने लगे।

महाप्रभु किसीकी भी कुछ परवा न करते हुए सीधे मन्दिरकी ओर दौड़ते गये। मन्दिरके सिंहद्वारमें प्रवेश करके आप सीधे जगमोहनमें चले गये और एकदम छलाँग मारकर बात-की-बातमें ठीक भगवान्‌के सामने पहुँच गये। सुभद्रा और बलरामके सहित श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करते ही प्रभुका उन्माद पराकाष्ठाको भी प्राप्त कर गया। वे महान् आवेशमें आकर भगवान्‌के श्रीविग्रहका आलिङ्गन करनेके लिये भीतर मन्दिरकी ओर दौड़े। इतनेमें ही मन्दिरके पहरेदारोंने प्रभुको बीचमें ही रोक दिया।

प्रहरियोंके बीचमें आ जानेसे प्रभु मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर पड़े। उन्हें अपने शरीरका कुछ भी होश नहीं था। चेतनाशून्य मनुष्यकी भाँति वे निर्जीव-से हुए जगमोहनमें पड़े थे। हजारों दर्शनार्थी जगन्नाथजीके दर्शनको भूलकर इनके दर्शन करने लगे। मन्दिरके बहुत-से यात्री तथा कर्मचारीगण प्रभुको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। प्रभु अपनी उसी अवस्थामें बेहोश पड़े रहे।

उसी समय उड़ीसाके महाराजकी पाठशालाके प्रधानाध्यापक आचार्य वासुदेव सार्वभौम भगवान्‌के दर्शनके लिये मन्दिरमें पधारे थे। भगवान्‌के दर्शन करते-करते ही उनकी दृष्टि महाप्रभुके ऊपर पड़ी। वे महाप्रभुके अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त तेजस्वी विग्रहके दर्शनमात्रसे ही उनकी ओर अपने-आप ही आकर्षित हो गये। प्रभुकी ऐसी उच्चावस्था देखकर वे जल्दीसे महाप्रभुके पास जाकर खड़े हो गये। बड़ी देरतक एकटक भावसे वे प्रभुकी ओर निहारते रहे। सार्वभौम महाशय न्याय तथा वेदान्त-शास्त्रके तो प्रकाण्ड पण्डित थे ही, अलंकार-ग्रन्थोंका भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। वे विकार, भाव, अनुभाव तथा नायिका आदिके भेद-प्रभेदोंसे भी परिचित थे। वे शास्त्रदृष्टिसे प्रभुकी दशाका मिलान करने लगे।

वे खड़े-ही-खड़े मनमें सोच रहे थे, कि 'प्रणय' के इतने उच्च भावोंका मनुष्य-शरीरमें प्रकट होना तो सम्भव नहीं। इनमें सभी सात्त्विक विकार एक साथ ही उद्दीप्त हो उठे हैं और उन्हें संवरण करनेमें भी ये समर्थ नहीं हैं, इसलिये इनके इस समयका यह सुदीप्त सात्त्विक भाव एकदम अलौकिक है। प्रणयके उद्रेकमें जो अवस्था श्रीराधिकाजीकी हो जाती थी और शास्त्रोंमें जो 'अधिरूढ़ महाभाव' के नामसे वर्णित की गयी है, ठीक वही दशा इस समय इन संन्यासी युवककी है। भगवान्‌के प्रति इतने प्रगाढ़ प्रणयके भाव तो मैंने आजतक शास्त्रोंमें केवल पढ़ा ही था, अभीतक

उनका किसी पुरुषके शरीरमें उदय होते हुए नहीं देखा था। आज प्रत्यक्ष मैंने उस महाभावके दर्शन कर लिये। अवश्य ही ये संन्यासी-वेशधारी युवक कोई अलौकिक दिव्य महापुरुष हैं। देखनेसे तो ये गौड़देशीय ही मालूम पड़ते हैं।'

सार्वभौम महाशय खड़े-खड़े इस प्रकार सोच ही रहे थे कि मध्याह्नके भोगका समय समीप आ पहुँचा। प्रभुकी मूर्च्छा अभीतक भङ्ग नहीं हुई थी, इसलिये भट्टाचार्य महाशय मन्दिरके सेवकोंकी सहायतासे प्रभुको उसी बेहोशीकी दशामें अपने घरके लिये उठवा ले गये और उन्हें एक स्वच्छ सुन्दर लिपे-पुते स्थानमें ले जाकर लिटा दिया। सार्वभौम महाशयका घर श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके दक्षिण बालुखण्डमें मार्कण्डेयसरके समीप था। आजकल जो 'गंगामाताका मठ' के नामसे प्रसिद्ध है, उसी अपने सुन्दर घरमें प्रभुको रखकर वे उनके शरीरकी देख-रेख करने लगे। उन्होंने अपना हाथ प्रभुकी नासिकाके आगे रखा। बहुत ही धीरे-धीरे प्राणोंकी गति चलती हुई प्रतीत हुई। इससे भट्टाचार्य सार्वभौम महाशयको प्रसन्नता हुई और वे अपने परिवारसहित प्रभुकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे।

इधर प्रभुके साथी चारों भक्त पीछे-पीछे आ रहे थे। मन्दिरके दरवाजेपर ही उन्होंने पहरेवालोंसे पूछा—'क्यों भाई ! तुम्हें पता है, एक गोरे-से गौड़देशीय युवक संन्यासी अभी थोड़ी ही देर पहले यहाँ दर्शन करने आये थे ?'

पहरेवालोंने जल्दीसे कहा—'हाँ, हाँ, उन संन्यासी महाराजके तो हमने दर्शन किये थे। बड़े ही सुन्दर हैं, न जाने उन्हें क्या हो गया, वे भगवान्के दर्शन करते ही एकदम बेहोश होकर जगमोहनमें गिर पड़े। अभी थोड़ी ही देर पहले आचार्य सार्वभौम उन्हें अपने घर ले गये हैं। क्या आपलोग उन्हींके साथी हैं ?'
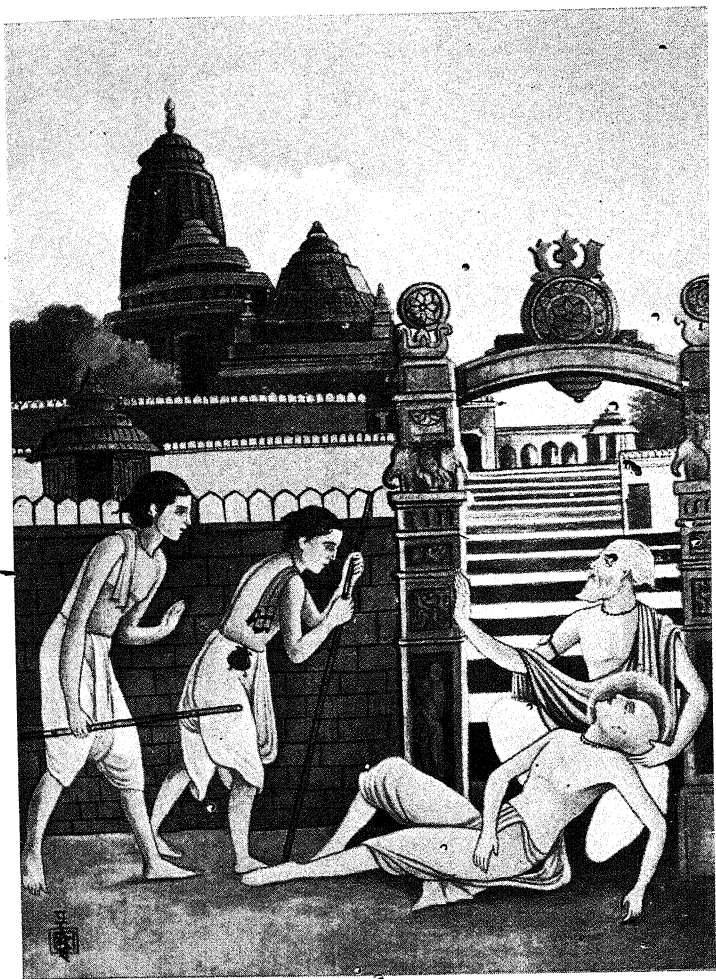
महाप्रभु और सार्वभौम

नित्यानन्दजीने कहा—'हाँ, हम सब उन्हींके सेवक हैं। तुमलोग हमें भट्टाचार्य सार्वभौम पण्डितके घरका रास्ता बता सकते हो?'

पहरेवालोंने कहा—'अभी हाल ही तो गये हैं, जल्दीसे जाओगे तो सम्भव है, तुम्हें वे रास्तेमें ही मिल जायँ। इधर सामने जाकर दक्षिण-की ओर चले जाना। वहीं मार्कण्डेयसरके समीप सार्वभौम पण्डितका ऊँचा-सा बड़ा मकान है। जिससे भी पूछोगे, वही बता देगा। बहुत सम्भव है, वे तुम्हें रास्तेमें ही मिल जायँ।'

पहरेवालोंके मुखसे ऐसी बात सुनकर सभी लोग उसी ओर चलने लगे। उसी समय रास्तेमें भट्टाचार्य सार्वभौमके बहनोई गोपीनाथाचार्य इन लोगोंको मन्दिरसे निकलते हुए मिल गये। आचार्य गोपीनाथ नवद्वीपनिवासी ही थे, मुकुन्द दत्तसे उनका पुराना परिचय था और वे महाप्रभुके प्रति भी श्रद्धाभाव रखते थे। मुकुन्द दत्तने देखते ही आचार्यको झुककर प्रणाम किया। आचार्यने मुकुन्द दत्तका बड़े जोरोंसे आलिंगन करते हुए प्रसन्नताके साथ कहा—'अहा! गायनाचार्य महाशय यहाँ कहाँ? आप यहाँ कब आये? महाप्रभुका समाचार सुनाइये। महाप्रभु तथा उनके सभी भक्त कुशलपूर्वक तो हैं?'

मुकुन्द दत्तने कहा—'हम बस इसी समय चले ही आ रहे हैं। महाप्रभुने गृहस्थाश्रमका परित्याग करके संन्यास-ग्रहण कर लिया है और हम उन्हींके साथ-ही-साथ यहाँ आये हैं। अठारहनालासे वे हमसे पृथक् होकर एकाकी ही भगवान्‌के दर्शनोंके लिये दौड़ आये थे। यहाँ आकर पता चला, कि सार्वभौम महाशय उन्हें अपने घर ले गये हैं। हम सार्व-भौम महाशयके ही घरकी ओर जा रहे थे, सौभाग्यसे आपके ही दर्शन हो गये। हमारी यात्रा सफल हो गयी।'

आचार्य गोपीनाथने कहा—'ठीक है, मैं आप सबको सार्वभौमके घर ले चलूँगा। चलिये, पहले भगवान्‌के दर्शन तो कर आइये।'

मुकुन्द दत्तने कहा—'पहले हम महाप्रभुका पूर्णरीत्या समाचार जान लें, तब स्वस्थ होकर निश्चिन्ततापूर्वक दर्शन करेंगे। पहले आप हमें सार्वभौम महाशयके ही यहाँ ले चलिये।'

मुकुन्द दत्तके मुखसे ऐसी बात सुनकर आचार्य गोपीनाथजी बड़े प्रसन्न हुए और उनके साथ सार्वभौमके घरकी ओर चलने लगे। नित्यानन्दजीका परिचय पाकर आचार्यने अवधूत समझकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और प्रभुके सम्बन्धकी ही बातें करते हुए वे पाँचों ही सार्वभौमके घर पहुँचे।

इन सब लोगोंने जाकर प्रभुको चेतनाशून्य-अवस्थामें ही पाया। भक्तोंने चारों ओरसे प्रभुको घेरकर संकीर्तन आरम्भ कर दिया। संकीर्तनकी सुमधुर ध्वनि कानोंमें पड़ते ही प्रभु हुंकार मारकर बैठे हो गये। भक्तिभावसे पुत्र तथा स्त्रीके सहित समीपमें बैठकर शुश्रूषा करनेवाले सार्वभौम तथा अन्य सभी उपस्थित पुरुषोंको प्रभुके उठनेसे बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। सभीके मुरझाये हुए चेहरोंपर हलकी-सी प्रसन्नताकी लालिमा दिखायी देने लगी। संकीर्तनकी ध्वनिसे सार्वभौमका वह भव्य भवन गूँजने लगा। प्रभुके कुछ-कुछ प्रकृतिस्थ होनेपर सार्वभौमकी सम्मतिसे उनके पुत्र चन्दनेश्वरके साथ नित्यानन्द प्रभृति सभी भक्त श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंको चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने भक्तिभावसहित श्रीसुभद्रा तथा बलदेवजीके सहित जगन्नाथ भगवान्‌के दर्शन किये। पुजारीने प्रसादी, चन्दन तथा माला इन सभी भक्तोंके लिये दिया। उसे ग्रहण करके ये लोग अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे।

पाठकोंने सार्वभौम भट्टाचार्यका नाम तो पहले ही सुन लिया है, अब उनका संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। सार्वभौम महाशय अपने समयके उस प्रान्तमें अद्वितीय विद्वान् तथा नैयायिक समझे जाते थे। उनके शास्त्रज्ञानकी चारों ओर ख्याति थी, इतना सब होनेपर भी प्रभुके समागमके पूर्व उनका जीवन भक्तिविहीन ही था। उनकी अन्दर छिपी हुई महान् भावुकता तबतक प्रस्फुटित नहीं हुई थी, वह चन्द्रकान्तमणिमें छिपे हुए जलकी भाँति अव्यक्तभावसे हीं स्थित थी। गौरचन्द्रकी सुखद शीतल किरणोंका संसर्ग पाते ही, वह सहसा द्रवित होकर बाहर टपकने लगी और उसीके कारण भट्टाचार्य सार्वभौमका नीरस जीवन सरस बन गया और वे महानन्दसागरमें सदा किलोलें करते हुए अलौकिक रसका सुखास्वादन करते हुए अपने जीवन-को बिताने लगे।

आचार्य वासुदेव सार्वभौम

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥*

(विवेकचूडामणि)

शास्त्रोंमें बुद्धि दो प्रकारकी बतायी गयी है। एक तो लौकिकी बुद्धि और दूसरी परमार्थ-सम्बन्धिनी बुद्धि। लौकिकी बुद्धिसे परमार्थके पथमें काम नहीं चलनेका। चाहे आप कितने भी बड़े विद्वान् क्यों न हों, और आपको चाहे जितनी ऊँची-ऊँची बातें सूझती हों, पर उस इतनी ऊँची प्रखर बुद्धिका अन्तिम फल सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिमात्र ही है। जबतक उस बुद्धिको आप परमार्थकी ओर नहीं झुकाते, तबतक आपमें और लकड़ी बेचकर पेट भरनेवाले जड पुरुषमें कुछ भी अन्तर नहीं। वह दिनभर परिश्रम

---

* खूब बोलना यहाँतक कि बोलते-बोलते शब्दोंकी झड़ी लगा देना तथा भाँति-भाँतिके व्याख्यान देनेकी कुशलता और उसी प्रकार विद्वानोंकी अनेक शास्त्रोंकी विद्वत्ता ये सब संसारी भोग्य पदार्थोंको ही देनेवाली हैं, मुक्तिको नहीं।

करके चार पैसे ही रोज पैदा करता है और उसीसे जैसे-तैसे अपने परिवारका भरण-पोषण करता है, और आप अपनी प्रखर प्रतिभाके प्रभावसे हजारों-लाखों रुपये रोज पैदा करते हैं। उनसे भी आपकी पूर्णरीत्या सन्तुष्टि नहीं होती और अधिकाधिक धन प्राप्त करनेकी इच्छा बनी ही रहती है। धनकी प्राप्तिमें दोनों ही उद्योग करते हैं और दोनोंको जो भी प्राप्त होता है उसमें अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार दोनों ही असन्तुष्ट बने रहते हैं। तब केवल शास्त्रोंकी बातें पढ़ाकर पैसा पैदा करनेवाले पण्डितमें और लकड़ी बेचकर जीवन-निर्वाह करनेवाले मूर्खमें अन्तर ही क्या रहा ? तभी तो तुलसीदासजीने कहा है—

काम, क्रोध, मद, लोभकी, जबलग मनमें खान।
तबलग पंडित मूरखा, दोनों एक समान॥

जिनका उल्लेख पहले हो चुका है, वे सर्वविद्याविशारद, अपने समयके अद्वितीय नैयायिक पण्डितप्रवर आचार्य वासुदेव सार्वभौम प्रभुके दर्शनोंके पूर्व उसी प्रकारके पोथीके पण्डित थे। उनकी बुद्धि तबतक परमार्थ-पथमें विचरण करनेवाली नहीं बनी थी। तबतक उनकी सम्पूर्ण शक्ति पुस्तकी विद्याकी ही पर्यालोचनामें नष्ट होती थी।

आचार्य वासुदेव सार्वभौमका घर नवद्वीपके 'विद्यानगर' नामक स्थानमें था। इनके पिताका नाम महेश्वर विशारद था। विशारद महाशय शास्त्रज्ञ और कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। महाप्रभुके मातामह श्रीनीलाम्बर चक्रवर्तीके साथ पढ़े थे। सार्वभौम दो भाई थे। इनके दूसरे भाई श्रीमधुसूदन वाचस्पति बहुत प्रसिद्ध विद्वान् तथा नामी पण्डित थे। इनकी एक बहिन थी जिसका विवाह श्रीगोपीनाथाचार्यके साथ हुआ था।

सार्वभौम महाशयकी बुद्धि बाल्यकालसे ही अत्यन्त तीव्र थी। पाठशालामें ये जिस पाठको एक बार सुन लेते फिर उसे दूसरी बार याद करनेकी इन्हें आवश्यकता नहीं होती थी। पढ़नेमें प्रमाद करना तो ये जानते ही नहीं थे। किसी बातको भूलना तो इन्होंने सीखा ही नहीं था। एक बार इन्हें जो भी सूत्र या श्लोक कण्ठस्थ हो गया मानो वह लोहेकी लकीरकी भाँति स्थायी हो गया।

जिस समय ये नवद्वीपमें विद्यार्थी बनकर विद्याध्ययन करते थे उस समय नवद्वीप संस्कृत-विद्याका एक प्रधान पीठ बना हुआ था। गौड़, उत्कल और बिहार आदि सभी देशोंके छात्र वहाँ आ-आकर संस्कृत-विद्याका अध्ययन करते थे। नवद्वीपमें व्याकरण, काव्य, अलङ्कार, ज्योतिष, दर्शन तथा वेदान्तादि शास्त्रोंकी समुचितरूपसे शिक्षा दी जाती थी, किन्तु तबतक नव्य-न्यायका इतना अधिक प्रचार नहीं था। या यों कह सकते हैं कि तबतक गौड़-देशमें नव्य-न्याय था ही नहीं। गौड़-देशके सभी छात्र न्याय पढ़नेके निमित्त मिथिला जाया करते थे। उन दिनों मिथिला ही न्यायका प्रधान केन्द्र समझा जाता था। मैथिल पण्डित वैसे तो जो भी उनके पास न्याय पढ़ने आता उसे ही प्रेमपूर्वक न्यायकी शिक्षा देते, किन्तु वे न्यायकी पुस्तकोंको साथ नहीं ले जाने देते थे। विशेषकर बंगदेशीय छात्रोंकी तो वे खूब ही देख-रेख रखते। उस समय आजकी भाँति छापनेके यन्त्रालय तो थे ही नहीं। पण्डितोंके ही पास हाथकी लिखी हुई पुस्तकें होती थीं, वही उनका सर्वस्व था। उनकी प्रतिलिपि भी वे सर्वसाधारणको नहीं करने देते थे। जब किसीकी वर्षों परीक्षा करके उसे योग्य अधिकारी समझते तब बड़ी कठिनतासे पुस्तककी प्रतिलिपि करने देते। पुस्तकोंके अभावसे नवद्वीपमें कोई न्यायकी पाठशाला ही स्थापित न हो सकी थी। सर्वप्रथम रामभद्र

भट्टाचार्यने न्यायकी एक छोटी-सी पाठशाला खोली। वे भी मिथिलासे न्याय पढ़कर आये थे, किन्तु पुस्तकके अभावसे वे छात्रोंकी शंकाओंका ठीक-ठीक समाधान नहीं कर सकते थे।

विद्यार्थी वासुदेव भी अपने भाई मधुसूदनके साथ रामभद्र भट्टाचार्यकी पाठशालामें न्याय पढ़ने लगे। कुशाग्रबुद्धि वासुदेव अपने न्यायके अध्यापकके सम्मुख जो शंका उठाते, उसका यथावत् उत्तर न पाकर वे असन्तुष्ट होते। इनके अध्यापक इनकी प्रत्युत्पन्न प्रखर बुद्धिको समझ गये और इनसे एक दिन एकान्तमें बोले—'भैया! तुम सचमुचमें नैयायिक बननेयोग्य हो, तुम्हारी बुद्धि बड़ी ही कुशाग्र है। मैं तुम्हारी शंकाओंका ठीक-ठीक समाधान करनेमें असमर्थ हूँ। इसका प्रधान कारण यह है, कि हमारे यहाँ तो कोई न्यायका पण्डित है नहीं। हम सबको न्याय पढ़नेके लिये मिथिला जाना पड़ता है। मिथिला ही आज-कल भारतवर्षमें न्यायका प्रधान केन्द्र माना जाता है। मैथिल पण्डित पढ़ानेके लिये तो किसीको इन्कार नहीं करते, जो भी उनके पास पढ़नेकी इच्छासे जाता है, उसे प्रेमपूर्वक पढ़ाते हैं, किन्तु पुस्तक वे किसीको साथ नहीं ले जाने देते। ऐसी स्थितिमें बिना पुस्तक जितना हम पढ़ा सकते हैं, उतना पढ़ाते हैं।'

अपने न्यायके अध्यापकके मुखसे ऐसी बात सुनकर आत्माभिमानी वासुदेव विद्यार्थीको इससे बहुत ही दुःख हुआ। उन्हें अध्यापककी विवशतापर दया आयी, उसी समय उन्होंने निश्चय कर लिया, कि बंग-देशमें न्यायके पुस्तकोंके अभावको मैं दूर करूँगा। उन्हें अपनी बुद्धि, स्मरणशक्ति और अद्भुत धारणाका विश्वास था। उसी दृढ़ विश्वासके वशीभूत होकर वे मिथिला पहुँचे और वहाँ जाकर उन्होंने विधिवत् न्यायका पाठ समाप्त किया। अपने पुराने अध्यापकके मुखसे उन्होंने जो

बात सुनी थी, वह बिल्कुल सच निकली। उन्हें इस बातका स्वयं अनुभव हो गया, कि यहाँसे न्यायकी पुस्तकें ले जाना सामान्य काम नहीं है। इसलिये उन्होंने न्यायके एक बड़े प्रामाणिक ग्रन्थको आद्योपान्त कण्ठस्थ कर लिया। इस प्रकार वे कागजकी पुस्तकको तो साथ न ला सके; किन्तु अपने हृदयके स्वच्छ पृष्ठोंपर स्मरणशक्तिकी सहायतासे बुद्धि-द्वारा लिखकर वे न्यायकी पूरी पुस्तकको अपने साथ ले आये। आते ही इन्होंने नवद्वीपमें अपनी न्यायकी पाठशाला स्थापित कर दी। भला, जो इतने बड़े भारी प्रामाणिक ग्रन्थको यथाविधि अक्षरशः कण्ठस्थ करके अपने देशके विद्यार्थियोंके कल्याणके निमित्त ला सकता है, वह पुरुष कितना भारी बुद्धिमान्, कितना बड़ा देशभक्त, कितनी उच्च श्रेणीका विद्याव्यासङ्गी तथा शास्त्रप्रेमी होगा, इसका पाठक स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं।

सार्वभौमकी विद्वत्ता, छात्रप्रियता, गम्भीरता तथा पढ़ानेकी सुन्दर और सरल शैलीकी थोड़े ही दिनोंमें दूर-दूरतक ख्याति फैल गयी। विभिन्न प्रान्तोंसे न्याय पढ़नेवाले बहुत-से छात्र इनके पास आ-आकर अपनी न्यायशास्त्रकी पिपासाको इनके सुन्दर, सरल और प्रेमपूर्वक पढ़ाये हुए पाठके द्वारा शान्त करने लगे। इनके विद्यार्थी लोकप्रसिद्ध नैयायिक हुए। जिनके बनाये हुए ग्रन्थ नव्यन्यायमें बहुत ही प्रामाणिक समझे जाते हैं। 'दीधिति' के रचयिता रघुनाथ पण्डित इन्हीं सार्वभौम महाशयके शिष्य थे।

उत्कल (उड़ीसा) प्रान्तके महाराजा प्रतापरुद्रजी संस्कृत-विद्याके बड़े ही प्रेमी थे, उन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्यकी विद्वत्ताकी प्रशंसा सुनकर उन्हें अपनी पाठशालामें पढ़ानेके लियें बुला लिया। सार्वभौम आचार्य राजाके सम्मानपूर्वक आमन्त्रणकी अवहेलना नहीं कर सके, वे अपनी

छात्रमण्डलीके सहित जगन्नाथपुरीमें महाराजकी पाठशालामें पहुँच गये और वहीं वे विद्यार्थियोंको विविध शास्त्रोंकी शिक्षा देने लगे ।

इसी बीचमें इन्हें एक दिन सहसा महाप्रभुके दर्शन हो गये और उन्हें मूर्छित दशामें ही उठाकर अपने घर ले आये । पीछेसे नित्यानन्द आदि प्रभुके चारों साथी भी वहाँ आ पहुँचे । तीसरे पहर प्रभुको जब बाह्यज्ञान हुआ, तब वे समुद्रस्नान करनेके लिये गये और सार्वभौमके आग्रहसे भोजन करनेके लिये बैठे । सार्वभौम महाशय महाप्रभुके अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त तेजस्वी मुखमण्डलको देखकर स्वयं ही उनकी ओर खिंचे-से जाते थे । प्रभुके दर्शनसे ही वे अपने इतने बड़े शास्त्राभिमानको भूल गये और मन-ही-मन उनके चरणोंमें भक्ति करने लगे । महाप्रभुको संन्यासी समझकर ही सार्व-भौम महाशयने पूर्ण भक्ति-भावके साथ उन्हें भोजन कराया था । अन्तमें उन्होंने महाप्रभुके चरणोंमें गृहस्थ-धर्मके अनुसार संन्यासीको पूज्य समझकर प्रणाम किया । संन्यासी जगत्को नारायणका ही रूप देखता है । उसकी दृष्टिमें 'नारायण' से पृथक् किसी अन्य पदार्थकी सत्ता ही नहीं । इसीलिये संसारी लोग संन्यासीको 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर ही प्रणाम करते हैं । संन्यासी उसके उत्तरमें 'नारायण' ऐसा कह देते हैं । अर्थात् वह इन्हें नारायण समझकर प्रणाम करता है, उनकी दृष्टिमें भी प्रणाम करने-वाला नारायणसे भिन्न नहीं है, इसलिये वे भी कह देते हैं 'नारायण' अर्थात् तुम भी नारायणके स्वरूप हो ।

भट्टाचार्य सार्वभौमने भी 'ॐ नमो नारायणाय' ही कहकर प्रभुको प्रणाम किया । प्रभुने इसके उत्तरमें कहा—'आपकी श्रीकृष्णभगवान्के पादपद्मोंमें प्रगाढ़ प्रीति हो ।'

इस आशीर्वादको सुनकर सार्वभौम महाशयको प्रसन्नता हुई और वे मन-ही-मन सोचने लगे कि ये कोई भगवत्-भक्त वैष्णव संन्यासी हैं,

इसीलिये भट्टाचार्यके हृदयमें इनका परिचय प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई। प्रभुसे तो इस बातको पूछते ही कैसे ? शास्त्रज्ञ विद्वान् होकर वे संन्यासीसे उसके पूर्वाश्रमका ग्राम-नाम पूछते ही क्यों ? संन्यासीसे उसके पूर्वाश्रमकी बातें करना निषिद्ध माना गया है, इसलिये प्रभुसे न पूछकर अपने बहनोई गोपीनाथाचार्यसे पूछा—'आचार्य ! आप इन संन्यासी महात्माके पूर्वाश्रमका कुछ समाचार जानते हैं ?'

कुछ हँसकर आचार्यने कहा—'आप इन्हें नहीं पहचान सके। नवद्वीप ही तो इनकी जन्मभूमि है। ये पं० जगन्नाथ मिश्र पुरन्दरके पुत्र और श्रीनीलाम्बर चक्रवर्तीके दौहित्र हैं।'

सार्वभौमको प्रभुका परिचय पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। नीलाम्बर चक्रवर्ती इनके पिताके सहाध्यायी थे और पुरन्दर पण्डित इनके साथ कुछ दिन पढ़े थे। सार्वभौमके पितामें और नीलाम्बर चक्रवर्तीमें बड़ी प्रगाढ़ता थी। इसी सम्बन्धसे सार्वभौमके पिता पं० जगन्नाथ मिश्रको अपना मान्य समझते थे। अबतक सार्वभौम महाशय इन्हें एक कृष्णप्रेमी वैरागी संन्यासी समझकर ही मन-ही-मन भक्ति कर रहे थे। गोपीनाथजीसे प्रभुका परिचय पाते ही इनका भाव-परिवर्तन हो गया। अबतक वे तटस्थभावसे एक सद्गृहस्थकी भाँति संन्यासीके प्रति जैसा शिष्टाचार बर्तना चाहिये वैसा बरत रहे थे। अब उनका प्रभुके प्रति कुछ ममत्व-सा हो गया और उनकी वह भक्ति भी वात्सल्यभावमें परिणत हो गयी। कुछ अपनापन प्रकट करते हुए सार्वभौम कहने लगे—'मुझे क्या पता था, कि ये अपने घरके ही हैं। नीलाम्बर चक्रवर्तीके सम्बन्धसे एक तो ये हमारे वैसे ही मान्य तथा पूज्य हैं, तिसपर संन्यासी। इसलिये हमारे तो ये पूजनीय सम्बन्धी और अत्यन्त ही आदरणीय हैं।'

प्रभुने अत्यन्त ही नम्रता प्रकट करते हुए लज्जित भावसे कहा—'आप यह कैसी बातें कर रहे हैं, मैं तो आपके लड़केके समान हूँ। आप ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध तथा अधिकारवृद्ध हैं। बड़े-बड़े संन्यासियोंको आप शास्त्रोंकी शिक्षा देते हैं। आपके सामने मैं कह ही क्या सकता हूँ? मैं तो आपके शिष्योंके शिष्य होनेयोग्य भी नहीं हूँ। अभी मेरी अवस्था भी बहुत छोटी है, मुझे संसारका कुछ भी ज्ञान नहीं है?'

सार्वभौमने कहा—'ये वचन तो आपके शील-स्वभावके द्योतक हैं। हमारे लिये तो संन्यासी होनेके कारण आप पूज्य ही हैं।'

प्रभुने फिर उसी प्रकार लजाते हुए धीरे-धीरे नीची दृष्टि करके कहा—'मैं तो अभी बच्चा हूँ, संन्यासके मर्मको क्या जानूँ? वैसे ही भावुकताके वशीभूत होकर मैंने रंगीन कपड़े पहन लिये हैं। संन्यासीका क्या कर्तव्य है, इस बातका मुझे कुछ भी पता नहीं। आप लोकशिक्षक हैं अतः गुरु मानकर मैंने आपके ही चरणोंका आश्रय लिया है। आप मेरा उद्धार कीजिये और मुझे संन्यासीके करनेयोग्य कामोंकी शिक्षा दीजिये। आज ही आपने मुझे इतनी घोर विपत्तिसे बचा लिया। इसी प्रकार आगे भी आप मेरी रक्षा करते रहेंगे?'

सार्वभौमने प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा—'देखना, अब कभी अकेले दर्शन करने मत जाना। जब भी दर्शन करने जाना तभी या तो चन्दनेश्वरको साथ ले जाना या किसी दूसरे मनुष्यको। तुम्हारा अकेले ही मन्दिरमें दर्शनके लिये जाना ठीक नहीं है।'

प्रभुने विनीत भावसे कहा—'अब मैं कभी मन्दिरमें भीतर दर्शन करने जाया ही न करूँगा। भगवान् गरुड़के ही सामनेसे दर्शन कर लिया करूँगा।'

सार्वभौमने कहा—'नहीं, गरुड़के समीपसे क्यों दर्शन करो? मन्दिरमें सब आदमी अपने ही हैं, जहाँसे इच्छा हो, दर्शन करो। मैंने तो सावधानीके ख़यालसे यह बात कही है।'

इतनी बातें करनेके अनन्तर सार्वभौमने अपने बहनोई गोपीनाथाचार्यसे कहा—'आचार्य महाशय! आपने इनसे हमारा परिचय कराकर बड़ा ही उत्तम कार्य किया। आपकी ही कृपासे हम इन्हें पहचान सके। अब इनके ठहरनेका कहीं एकान्त स्थानमें प्रबन्ध करना चाहिये! हमारी मौसीका वह दूसरा घर खाली भी है और एकान्त भी है, वह इनके लिये कैसा रहेगा?'

आचार्यने कहा—'स्थान तो बहुत सुन्दर है, ये लोग उसे अवश्य ही पसन्द करेंगे। उसीमें सबका आसन लगवा दें।'

सार्वभौमने कहा—'हाँ हाँ, यही ठीक रहेगा। आप इन सबको वहीं ले जायँ।'

सार्वभौमकी सम्मतिसे गोपीनाथाचार्य प्रभुको उनके साथियोंके सहित सार्वभौमके मौसाके घर ले गये। प्रभुने उस एकान्त स्थानको बहुत पसन्द किया और वे अपने साथियोंके सहित उसीमें रहने लगे।

सार्वभौम और गोपीनाथाचार्य

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥*

(बृ० स्तो० र०)

इस संसार-सागरमें डूबते हुए निराश्रित जीवोंके गुरुदेव ही एकमात्र आश्रय हैं। गुरुदेव ही बहते हुए, डूबते हुए, बिलखते हुए, अकुलाते हुए, बिलबिलाते हुए, अचेतन हुए जीवोंको भव-वारिधिसे बाँह पकड़कर बाहर निकाल सकनेमें समर्थ हो सकते हैं। त्रैलोक्यपावन गुरुदेवकी कृपाके बिना जीव इस अपार दुर्गम पयोधिके पार जा ही नहीं सकता।

---

* गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महेश्वर हैं और गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं। ऐसे गुरुदेवको बार-बार प्रणाम है।

वे अखिल विश्व-ब्रह्माण्डोंके विधाता विश्वम्भर ही भाँति-भाँतिके रूप धारण करके गुरुरूपसे जीवोंको प्राप्त होते हैं और उन्हींके पादपद्मोंका आश्रय ग्रहण करके मुमुक्षु जीव बात-की-बातमें इस अपार उदधिको तर जाते हैं। किसी मनुष्यकी सामर्थ्य ही क्या है, जो एक भी जीवका वह निस्तार कर सके ? जीवोंका कल्याण तो वे ही परमगुरु श्रीहरि ही कर सकते हैं। इसीलिये मनुष्य गुरु हो ही नहीं सकता। जगत्-गुरु तो वे ही श्रीमन्नारायण हैं, वे ही जिस जीवको संसार-बन्धनसे छुड़ाना चाहते हैं, उसे गुरुरूपसे प्राप्त होते हैं। अन्य साधारण बद्ध जीवोंकी दृष्टिमें तो वह रूप साधारण जीवोंकी ही भाँति प्रतीत होता है, किन्तु जो अनुग्रह-सृष्टिके जीव हैं, जिन्हें वे श्रीहरि स्वयं ही कृपापूर्वक वरण करना चाहते हैं उन्हें उस रूपमें साक्षात् श्रीसनातन पूर्ण ब्रह्मके दर्शन होते हैं। इसीलिये गुरु, भक्त और भगवान् ये मूलमें एक ही पदार्थके लोकभावनाके अनुसार तीन नाम रख दिये गये हैं। वास्तवमें इन तीनोंमें कोई अन्तर नहीं। इस भावको अनुग्रह-सृष्टिके ही जीव समझ सकते हैं। अन्य जीवोंके वशकी यह बात नहीं है।

गोपीनाथाचार्य हृदय-प्रधान पुरुष थे। उनके ऊपर भगवान्‌की यथेच्छ कृपा थी, उनका हृदय अत्यधिक कोमल था, भावुकताकी मात्रा उनमें कुछ अधिक थी, महाप्रभुके पादपद्मोंमें उनकी अहैतुकी प्रीति थी। वे महाप्रभुके श्रीविग्रहमें अपने श्रीमन्नारायणके दर्शन करते थे। उनके लिये प्रभुका पाञ्चभौतिक नश्वर शरीर नहींके बराबर था। वे उसमें सनातन सत्य, सगुण परब्रह्मका अविनाशी आलोक देखते थे और उसी भावसे उनकी पूजा-अर्चा करते थे, वे अनुग्रह-सृष्टिके जीव थे, भगवान्‌के अपने जन थे, उनके नित्यपार्षद थे।

एक दिन गोपीनाथाचार्य प्रभुको जगन्नाथजीके शयनोत्थानके दर्शन कराकर लौटे। लौटते समय वे मुकुन्द दत्तके साथ सार्वभौम महाशयके घर चले गये। सार्वभौम भट्टाचार्यने अपने बहनोईका यथोचित सत्कार किया और मुकुन्द दत्तके सहित उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया। आचार्यके बैठ जानेपर इधर-उधरकी बातें होती रहीं। अन्तमें महाप्रभुजीका प्रसङ्ग छिड़ गया।

सार्वभौमने पूछा—'इन निमाई पण्डितने किनसे संन्यास लिया है और इनका संन्यासाश्रमका नाम क्या है?'

गोपीनाथाचार्यने कहा—इनका नाम है—'श्रीकृष्णचैतन्य।' कटवाके समीप जो केशव भारती महाराज रहते हैं, वे ही महाभाग संन्यासीप्रवर न्यासीचूड़ामणि महापुरुष इनके संन्यासाश्रमके गुरु हैं।'

सार्वभौम समझ गये कि केशव भारती कोई विद्वान् और नामी संन्यासी तो हैं नहीं। ऐसे ही साधारण संन्यासी होंगे। फिर दण्डी-संन्यासियोंमें भारतीयोंको कुछ हेय समझते हैं। आश्रम, तीर्थ और सरस्वती इन तीन दण्डी संन्यासियोंमें भारतीयोंकी गणना नहीं। उनके लिये दण्ड धारण करनेका विधान तो है, किन्तु उनका दण्ड आधा समझा जाता है, यही सब विचारकर वे आचार्यसे कुछ मुँह सिकोड़कर कहने लगे—'नाम तो बड़ा सुन्दर है, रूप-लावण्य भी इनका अद्वितीय है, कुछ शास्त्रज्ञ भी मालूम पड़ते हैं। उच्च ब्राह्मण-कुलमें इनका जन्म हुआ है, फिर इन्होंने इस प्रकार हेय-सम्प्रदायवाले संन्यासीसे दीक्षा क्यों ली? मालूम होता है, बिना सोचे-समझे आवेशमें आकर इन्होंने मूँड़ मुँड़ा लिया। यदि आप सब लोगोंकी इच्छा हो, तो हम किसी योग्य प्रतिष्ठित दण्डी स्वामीको बुलाकर फिरसे इनका संस्कार करा दें।'

इस बातको सुनकर कुछ दुःख प्रकट करते हुए आचार्यने कहा—'आपकी बुद्धि तो निरन्तर शास्त्रोंमें शंका करते-करते शंकित-सी बन गयी है। आपकी दृष्टिमें घट-पट आदि बाह्य वस्तुओंके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। ये साक्षात् भगवान् हैं, इन्हें बाह्य उपकरणोंकी क्या अपेक्षा? ये तो स्वयंसिद्ध त्यागी, संन्यासी, वैरागी और प्रेमी हैं, इन्हें आपकी सिफ़ारिशकी आवश्यकता न पड़ेगी।'

सार्वभौमने कहा—'आपकी ये ही भावुकताकी बातें तो अच्छी नहीं लगतीं। हम तो उन बेचारोंके हितकी बातें कह रहे हैं। अभी उनकी नयी अवस्था है, संसारी सुखोंसे अभी एकदम वञ्चित-से ही रहे हैं, ऐसी अवस्थामें ये संन्यासधर्मके कठोर नियमोंका पालन कैसे कर सकेंगे?'

आचार्यने कहा—'ये नियमोंके भी नियामक हैं। इनका संन्यास ही क्या? यह तो लोक-शिक्षाके निमित्त इन्होंने ऐसा किया है।'

हँसते हुए सार्वभौमने कहा—'यह खूब रही, युवावस्थामें इन्हें यह लोक-शिक्षाकी खूब सूझी। महाराज! आप कहीं लोक-शिक्षाके निमित्त ऐसा मत कर डालना।'

आचार्यने कहा—'लोक-शिक्षा मनुष्य कर ही क्या सकता है, यह तो भगवान्‌का ही कार्य है और वे ही विविध वेष धारण करके लोक-शिक्षणका कार्य किया करते हैं।'

जोरोंसे हँसते हुए सार्वभौमने कहा—'बाबा! दया करो, उस बेचारे संन्यासीको आकाशपर चढ़ाकर उसके सर्वनाशकी बातें क्यों सोच रहे हो? पुराने लोगोंने ठीक ही कहा है—'आचार्यमें उड़नेकी शक्ति नहीं होती, पीछेसे शिष्यगण ही उसके पंख लगाकर उन्हें आकाशमें

उड़ा देते हैं' मालूम पड़ता है आप इस युवक संन्यासीके अभीसे पर लगाना चाहते हैं। आपकी दृष्टिमें ये ईश्वर हैं ?

आवेशके साथ आचार्यने कहा—'हाँ ईश्वर हैं, ईश्वर हैं; ईश्वर हैं। मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ ये साधारण जीव नहीं हैं।'

आचार्यकी आवेशपूर्ण बातोंको सुनकर सार्वभौमके आस-पासमें बैठे हुए सभी शिष्य एकदम चौंक-से पड़े। सार्वभौम भी कुछ विस्मित-से होकर आचार्यके मुखकी ओर देखने लगे। थोड़ी देरके पश्चात् हँसते हुए सार्वभौमने कहा—'मुँह आपके घरका है, जीभ उधार लेने किसीके पास जाना नहीं पड़ता, जो आपके मनमें आवे वह अनाप-शनाप बकते रहें। किन्तु आपने तो शास्त्रोंका अध्ययन किया है, भगवान्के अवतार तीनों ही युगोंमें होते हैं। कलिकालमें इस प्रकारके अवतारोंकी बात कहीं भी नहीं सुनी जाती। फिर अवतार तो सब गिने-गिनाये हैं। उनमें तो हमने ऐसा अवतार कहीं नहीं सुना। वैसे तो जीवमात्रको ही भगवान्का अंश होनेसे अवतार कहा जा सकता है। अथवा—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाऽविनाशिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥*

(श्रीमद्भा० १। ३। २६)

श्रीमद्भागवतके इस श्लोकके अनुसार असंख्य अवतार भी माने जा सकते हैं और वे आवश्यकता पड़नेपर सब युगोंमें उत्पन्न हो सकते

---

* **सूतजी शौनकादि ऋषियोंसे कह रहे हैं—**

हे ब्राह्मणो! जिस प्रकार अक्षय सरोवरमेंसे सहस्रों छोटी-छोटी नदियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सत्त्वगुणके समुद्र श्रीहरिसे भी असंख्य अवतार होते हैं।

हैं, किन्तु उनकी गणना अंशांश-अवतारोंमें भी की गयी है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

> यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥*
>
> (१०। ४१)

इस दृष्टिसे आप इन संन्यासीको अवतार कहते हैं, तो हमें भी कोई आपत्ति नहीं, किन्तु ये ही साक्षात् सनातन परब्रह्म हैं, सो कैसे हो सकता है? भगवान् श्रीकृष्ण ही सनातन पूर्ण ब्रह्म हैं, उनका अवतार युगोंमें नहीं होता, कल्पोंमें भी नहीं होता, कभी सैकड़ों-हजारों युगोंके पश्चात् वे अवतीर्ण होते हैं। इसलिये आप कोरी भावुकताकी बातें कर रहे हैं।

आचार्यने कहा—'मालूम पड़ता है, बहुत शास्त्रोंकी आलोचना करनेसे शास्त्रोंके वाक्योंको भी आप भूल गये हैं। आप जानते हैं, नित्य-अवतारके लिये कोई नियम नहीं। उसका रहस्य शास्त्र क्या समझ सकें? यह तो शास्त्रातीत विषय है। नित्य-अवतारका कभी तिरोभाव नहीं होता, वह तो एकरस होकर सदा संसारमें व्याप्त रहता है। किसी भाग्यवान्‌को ही वह गुरुरूपसे प्राप्त होते हैं और जिसपर उनका अनुग्रह होता है, वही उनका कृपापात्र बन सकता है।'

हँसते हुए सार्वभौमने कहा—'यह नित्यावतार कौन-सी नयी वस्तु निकल आयी?'

---

* कान्ति, लक्ष्मी और प्रभावादिसे युक्त जो भी विभूतिमान् प्राणी दृष्टिगोचर हों उन सभीको मेरे तेजका अंशावतार ही समझ।

आचार्यने कुछ क्षोभके स्वरमें कहा—'आपको तो समझाना इसी प्रकार है जैसे ऊसर भूमिमें बीज बोना । परिश्रम तो व्यर्थ जाता ही है, साथ ही बीजका भी नाश होता है ।'

कुछ विनोदके स्वरमें सार्वभौमने कहा—'उपजाऊ भूमिके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ और उससे प्रार्थना करता हूँ, कि हमारे ऊपर भी कृपा करे । आप आपेसे बाहर क्यों हुए जाते हैं, हमें समझाइए, आप किस प्रकार इन्हें साक्षात् ईश्वर कहते हैं ।'

आचार्यने कहा—'सोतेको तो जगाया भी जा सकता है, किन्तु जो जागता हुआ भी सोनेका बहाना करता है, उसे भला कौन जगा सकता है ? आप जान-बूझकर भी अनजानोंकी-सी बातें कर रहे हैं, अब आपकी बुद्धिको क्या कहूँ ? आप जानते नहीं—'गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ।' इसमें गुरुको साक्षात् परब्रह्म बताया गया है । क्या गुरु साक्षात् परब्रह्म नहीं हैं जिनकी संगतिसे श्रीकृष्णपदारविन्दोंमें अनुराग हो । उनमें और श्रीकृष्णमें मैं कुछ भी भेद नहीं समझता । जो भी कुछ भेद प्रतीत होता है, वह व्यवहार चलानेके लिये है । वास्तवमें तो गुरु और श्रीकृष्ण एक ही हैं । वे अपने आप ही कृपा करके अपने चरणोंमें प्रीति प्रदान करते हैं । वे जबतक किसी रूपसे कृपा नहीं करते तबतक उनके चरणोंमें प्रेम होना असम्भव है ।'

वासुदेव सार्वभौमने कहा—'आचार्य महाशय ! यह तो कुछ भी बात नहीं हुई । इसका तो सम्बन्ध भावनासे है । और अपनी-अपनी भावना पृथक्-पृथक् होती है । यह बात तो सचमुच शास्त्रोंसे परेकी है । दृढ़ और शुद्ध भावनाके सामने तो कोई भी बात असम्भव नहीं । किन्तु आप इसका प्रचार नहीं कर सकते । दूसरेंको आप अपनी भावनाके अनुसार माननेके लिये मजबूर नहीं कर सकते । आपकी उन संन्यासी युवकमें गुरु-

भावना या परब्रह्मकी भावना है, तो ठीक है। किन्तु हम भी आपकी बातोंसे सहमत हों, इस बातका आग्रह करना आपकी अनधिकार चेष्टा है। हम उन्हें एक साधारण संन्यासी ही समझते हैं। वैसे वे बेचारे बड़े सरल हैं, भगवान्‌की उनके ऊपर कृपा है, इस अल्पावस्थामें भगवान्‌के पादपद्मोंमें इतना अनुराग, ऐसा अलौकिक त्याग, इतना अद्भुत वैराग्य सब साधुओंमें नहीं मिलनेका। बहुत खोजनेपर लाखों, करोड़ोंमें ऐसा अनुराग मिलेगा। हम उनके त्याग, वैराग्य और भगवत्-प्रेमके कायल हैं, किन्तु उन्हें आपकी तरह ईश्वर मानकर लोगोंमें अवतारपनेका प्रचार करें, यह हमारी शक्तिके बाहरकी बात है।'

आचार्यने कुछ दृढ़ताके स्वरमें कहा—'अच्छी बात है, देख लिया जायगा। कबतक आपके ये भाव रहते हैं।'

इस प्रसंगको समाप्त करनेकी इच्छासे बातके प्रवाहको बदलते हुए सार्वभौमने कहा—'आप तो हमारे जो कुछ हो सो हो ही, हमारी किसी बातको बुरा न मानना। हमारा-आपका तो सम्बन्ध ही ऐसा है, कोई अनुचित बात मुँहसे निकल गयी हो तो क्षमा कीजियेगा।'

आचार्यने कुछ उपेक्षा-सी करते हुए कहा—'क्षमाकी इसमें कौन-सी बात है! मैं भगवान्‌से प्रार्थना करूँगा, कि आपके इन नास्तिकोंके-से विचारोंमें वे परिवर्तन करें और आपको अपना कृपापात्र बना लें।'

हँसते हुए सार्वभौमने कहा—'आपपर ही भगवान्‌की अनन्त कृपा बहुत है। उसीमेंसे थोड़ा हिस्सा हमें भी दे देना। हाँ, उन संन्यासी महाराजको कल हमारी ओरसे भोजनका निमन्त्रण दे देना। कल हमारी इच्छा उन्हें यहीं अपने घरमें भिक्षा करानेकी है।'

इसके अनन्तर कुछ और इधर-उधरकी दो-चार बातें हुईं और अन्तमें मुकुन्द दत्तके साथ गोपीनाथाचार्य प्रभुके स्थानके

लिये चले। सार्वभौमकी शुष्क तर्कोंसे मुकुन्द दत्तको मन-ही-मन बहुत दुःख हो रहा था। आचार्य भी कुछ उदास थे।

प्रभुके समीप पहुँचकर गोपीनाथाचार्यने सार्वभौमसे जो-जो बातें हुई थीं उन्हें संक्षेपमें सुनाते हुए कहा—'प्रभो! मुझे और किसी बातसे दुःख नहीं है। दुःखका प्रधान कारण यह है, कि सार्वभौम अपने आदमी होकर भी इस प्रकारके विचार रखते हैं। प्रभो! उनके ऊपर कृपा होनी चाहिये। उनके जीवनमेंसे नीरसताको निकालकर सरसताका सञ्चार कीजिये। यही मेरी श्रीचरणोंमें विनीत प्रार्थना है।'

प्रभुने कुछ संकोचके साथ अपनी दीनता दिखाते हुए कहा—'आचार्य महाशय! यह आप कैसी भूली-भूली-सी बातें कह रहे हैं। सार्वभौम तो हमारे पूज्य हैं—मान्य हैं। वे मुझपर पुत्रकी भाँति स्नेह करते हैं, उनसे बढ़कर पुरीमें मेरा दूसरा शुभचिन्तक कौन होगा? उन्हींके पादपद्मोंकी छाया लेकर तो मैं यहाँ पड़ा हुआ हूँ। वे मेरे लिये जो भी कुछ सोचेंगे, उसीमें मेरा कल्याण होगा। जिस बातसे उन्हें मेरे अमंगलकी सम्भावना होगी उसे वे अवश्य ही बता देंगे। इसी बातमें तो मेरी भलाई है। यदि गुरुजन होकर वे भी मेरी प्रशंसा ही करते रहेंगे, तो मैं इस कच्ची अवस्थामें संन्यास-धर्मका पालन कैसे कर सकूँगा? आप उनकी किसी भी बातका बुरा न मानें और सदा उनके प्रति पूज्य-भाव रक्खें। वे मेरे-आपके सबके पूज्य हैं। वे शिक्षक उपदेष्टा आचार्य तथा हमारे हितचिन्तक हैं।' इस प्रकार नम्रतापूर्वक आचार्यको समझाकर प्रभुने उन्हें विदा किया और आप भक्तोंके सहित श्रीकृष्ण-कीर्तन करने लगे।

सार्वभौम भक्त बन गये

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥*

(श्रीमद्भा० १०।५१।५४)

पूर्वजन्मोंके पापोंका सञ्चय विशेष न हो, भगवत्-कृपा हो और किसी भी प्रकारसे सही, हृदयमें श्रद्धाके भाव हों, तो ऐसे पुरुषके उद्धारमें देर नहीं लगती। साधु-समागम होते ही बड़े-बड़े दुराचारी दुष्कर्मोंका परित्याग करके परम भागवत बन गये हैं। सत्संगकी महिमा ही ऐसी अपार है। तभी तो भर्तृहरिजीने कहा है—

'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्?'

---

* हे अच्युत! संसारकी नाना योनियोंमें घूमनेवाले पुरुषके बन्धनका जब तुम्हारे अनुग्रहसे नाश होनेका समय आता है, तब ही उसे सत्संग प्राप्त होता है। और जब साधु-समागम होता है, तभी साधुओंके शरण्य, कार्य-कारणोंके नियन्ता आप परमेश्वरमें मति स्थिर होती है।

अर्थात् 'सत्संगतिसे मनुष्यकी कौन-सी भलाई नहीं हो सकती ?' सारांश यही है, कि सत्संगतिसे सभी प्रकारके बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, किन्तु सबको सत्संगति प्राप्त करनेका सौभाग्य नहीं होता। जिसके संसारी-बन्धनोंके छूटनेका समय समीप आ चुका है, जिसके ऊपर आदिपुरुष अच्युतका पूर्ण अनुग्रह है, उसे ही साधुपुरुषोंकी सत्संगति प्राप्त हो सकती है।

सार्वभौम भट्टाचार्य विद्वान् थे, पण्डित थे, शास्त्रज्ञ थे और वर्णाश्रम-धर्ममें श्रद्धा रखते थे। शास्त्रोक्त वैदिक कर्मोंको भी वे यथाशक्ति करते थे और घरपर आये हुए साधु-अभ्यागतोंका प्रेमपूर्वक सत्कार करते थे तथा अन्दर-ही-अन्दर प्रभु-प्राप्तिके लिये छटपटाते भी थे। ऐसी दशामें वे भगवत्-कृपाके सर्वथा योग्य थे। उन्हें साधु-समागम मिलना ही चाहिये। इसीलिये मानो सार्वभौमका ही उद्धार करनेके निमित्त प्रभु वृन्दावन न जाकर पुरी पधारे और सबसे पहले सार्वभौमके घरको ही अपनी पद-धूलिसे परम पावन बनाया। उन भक्ताग्रगण्य सार्वभौम महाशयके चरणोंमें हमारे कोटि-कोटि नमस्कार हैं।

सार्वभौमके निमन्त्रणको स्वीकार करके प्रभु उनके घर भिक्षा करनेके लिये पधारे। सार्वभौमने उन्हें श्रद्धापूर्वक भिक्षा करवायी और उनका संन्यासीके योग्य सत्कार किया। अन्तमें वात्सल्यभाव प्रकट करते हुए उन्होंने अत्यन्त ही स्नेहके साथ कहा—'स्वामीजी ! हमारी एक प्रार्थना है, अभी आपकी अवस्था बहुत कम है, इस अवस्थाका वैराग्य प्रायः स्थायी नहीं होता। अधिकतर इस अवस्थावाले त्यागियोंका कुछ कालमें वैराग्य मन्द ही पड़ जाता है। और वैराग्यके बिना त्याग टिक नहीं सकता। इसीलिये थोड़ी अवस्थाके अधिकांश साधु अपने धर्मसे पतित हो जाते हैं। अतएव आपको निरन्तर ऐसे कार्योंमें लगे

रहना चाहिये, जिनसे संसारी विषयोंके प्रति अधिकाधिक वैराग्यके भाव उत्पन्न होते रहें। हमारे यहाँ वेदान्तदर्शनके कई पाठ होते हैं, आपकी इच्छा हो, तो यहाँ आकर सुना करें। बेकार रहनेसे ही मनमें बुरे-बुरे विचार उत्पन्न होते हैं। जो निरन्तर शुभ कर्मोंमें आत्म-शुद्धिकी इच्छासे लगा रहता है, उसके मनमें बुरे विचार उठ ही नहीं सकते। इसलिये आप पाठशालामें आकर वेदान्त-सूत्रोंकी व्याख्या सुना करें। यही साधक-संन्यासियोंका परम धर्म है।'

हाथ जोड़े हुए विनीतभावसे महाप्रभुने कहा—'यह मेरा सौभाग्य है, जो आप-जैसे गुरुजन स्वयं ही मेरे कल्याणकी बातें सोचा करते हैं। जिसके भलेके लिये गुरुजनोंके हृदयमें चिन्ता है, वह कभी पतित हो ही नहीं सकता। मेरी भी इच्छा थी, कि आपके चरणोंमें कुछ उपदेश सुननेकी प्रार्थना करूँ, किन्तु संकोचवश मैं अपने मनोभावको व्यक्त नहीं कर सका। आपने मेरे मनकी बात बिना कहे ही समझ ली। मैं अवश्य ही कलसे वेदान्त-सूत्रोंकी व्याख्या सुना करूँगा।'

प्रभुकी इस बातसे सार्वभौम महाशयको बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। योग्य अध्यापकको यदि समझदार और अधिकारी छात्र पढ़ानेके लिये मिल जाय, तो इससे अधिक प्रसन्नता उसे दूसरी किसी भी वस्तुसे नहीं हो सकती। गुरुका हृदय योग्य शिष्यकी निरन्तर खोज करता रहता है और अपने योग्य शिष्य पाकर वह उसे सर्वस्व समर्पण करनेके लिये लालायित बना रहता है।

दूसरे दिनसे महाप्रभु वेदान्त-सूत्रोंका शारीरकभाष्य सुनने लगे। सार्वभौम महाशय बड़े ही उत्साहसे उल्लासके सहित शारीरकभाष्यका प्रवचन करने लगे। पाठ पढ़ाते-पढ़ाते आनन्दके कारण उनका चेहरा दमकने लगता और वे अपने सम्पूर्ण पाण्डित्यको प्रदर्शित करते हुए विस्तार-

के सहित पाठको सुनाते। महाप्रभु चुपचाप एकाग्र दृष्टिसे अधोमुख किये हुए पाठ सुनते रहते। बीचमें वे एक भी शब्द नहीं बोलते। इस प्रकार लगातार सात दिनोंतक बराबर वे पाठ सुनते रहे। जब भट्टाचार्यने देखा, ये तो बोलते ही नहीं, पता नहीं इनकी समझमें यह व्याख्या आती भी है या नहीं। विषय बहुत ही गूढ़ है, बहुत सम्भव है ये उसे न समझ सकते हों। इसीलिये उन्होंने पूछा—'स्वामीजी! आप तो चुपचाप बैठकर सुनते ही रहते हैं। पाठ अच्छा हुआ या बुरा—यह सब आप कुछ नहीं बताते।'

महाप्रभुने विनीतभावसे कहा—'आपने मुझे पाठ सुननेकी ही आज्ञा तो दी थी, इसीलिये आपकी आज्ञाको शिरोधार्य करके पाठ सुना करता हूँ।'

कुछ हँसकर प्रेमपूर्वक सार्वभौम भट्टाचार्यने कहा—'सुननेके यह मानी थोड़े ही हैं कि पत्थरकी मूर्तिकी भाँति मूक बनकर सुनते ही रहना। जहाँ जो बात समझमें न आवे, उसे फिरसे पूछना चाहिये। कोई शंका उत्पन्न हो तो उसे पूछकर उसका समाधान करा लेना चाहिये। पाठ सुननेके मानी हैं उस विषयमें निःशंक हो जाना। पाठका विषय इस प्रकार हृदयंगम हो जाय, कि फिर कोई शंका उठ ही न सके। कहिये, आपकी समझमें तो सब कुछ आता है न?'

कुछ लज्जितभावसे प्रभुने कहा—'भला, मैं मूर्ख इस गहन विषयको समझ ही क्या सकता हूँ और थोड़ा-बहुत समझ भी लूँ तो आपके सामने शंका करनेका साहस ही कैसे कर सकता हूँ।'

सरलताके साथ भट्टाचार्यने कहा—'यह बात नहीं, जो समझमें न आवे उसे पूछना चाहिये। संकोच करनेसे कैसे काम चलेगा?'

प्रभुने कुछ लज्जाके कारण सिकुड़ते हुए धीरेसे कहा—'भगवान् व्यासदेवके सरल सूत्रोंका शब्दार्थ तो बड़ी सुगमतासे मेरी समझमें आ जाता है, किन्तु भाष्य सुनते ही सारा मामला गड़बड़ हो जाता है। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगता है, कि भगवान् भाष्यकारोंने अपने एकदेशीय अर्थके लिये शब्दोंकी खूब खींचतान की है और जो अर्थ सूत्रमेंसे लक्षित ही नहीं होता, उसकी जबरदस्ती ऊपरसे आवृत्ति की है।'

महाप्रभुकी इस बातको सुनते ही भट्टाचार्य तथा पाठ सुननेवाले सभी विद्यार्थियोंके कान खड़े हो गये। वे आश्चर्यकी दृष्टिसे प्रभुके मुखकी ओर निहारने लगे। भट्टाचार्यने कुछ आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—'आप यह कैसी बात कह रहे हैं। श्रुतिका मुख्य प्रतिपाद्य विषय निर्गुण निराकार अद्वितीय ब्रह्मकी सिद्धि करना ही है। शारीरकभाष्यमें उसी नाम-रूपसे रहित अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है।'

प्रभुने धीरेसे कहा—'मुझे निराकार निर्गुण रूपका वर्णन स्वीकार है। मैं यह कब कहता हूँ कि श्रुतियोंमें निराकार ब्रह्मका वर्णन है ही नहीं। किन्तु भाष्यकारने सगुण साकार रूपको जो एकदम गौण और उपेक्षणीय ठहरा दिया है इसे मैं नहीं मानता। यह तो एकपक्षीय सिद्धान्त हो गया। भगवान्‌के तो सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार दोनों ही रूप मुख्य और आदरणीय हैं। श्रुति जहाँ 'एकमेवाद्वितीयम्' * 'नेह नानास्ति किञ्चन' † 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ‡ आदि कह-कहकर सर्वव्यापी निर्गुण-निराकार रूपका वर्णन करती है वहाँ—

---

* वह ब्रह्म एक अद्वितीय ही है।

† संसारमें जो यह नानात्व दृष्टिगोचर हो रहा है वह कुछ नहीं है।

‡ यह जो सब दीख रहा है सब-का-सब ब्रह्म ही है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥*
(श्वेता० उप० ३।१९)

'बहु स्याम्'† 'स ईक्षते'‡ इत्यादि श्रुतियोंमें प्रत्यक्ष रीतिसे भगवान्‌के सगुण साकार रूपका वर्णन है तथा उनकी दिव्यलीला और कर्मोंका भी वर्णन है। उन्हें गौण कहकर छोड़ देना केवल बुद्धिवैलक्षण्यका ही द्योतक है। मेरी समझमें तो भगवान् भाष्यकारने केवल बुद्धिको तीक्ष्ण करनेके अभिप्रायसे ही ऐसी व्याख्या की होगी। जो केवल मस्तिष्क-प्रधान है, उनके लिये विचारकी पराकाष्ठा की गयी होगी। सचमुच भाष्यकारने अपनी प्रत्युत्पन्न मतिका बड़ा ही अद्भुत परिचय दिया है। जो विचारको ही प्रधान मानते हैं वे इससे अधिक और विचार कर ही नहीं सकते, किन्तु हृदय-प्रधान सरस भावुक भक्तोंको इस खींचातानीकी व्याख्यासे सन्तोष नहीं होनेका।'

सार्वभौम भट्टाचार्यने कहा—'भाई! यह अपने घरकी बात थोड़े ही है। भगवान् व्यासदेवजीके अभिप्रायको ही भाष्यकारने स्पष्ट किया है, उन्होंने अपनी तरफसे कुछ थोड़े ही कहा है!'

---

* उसके प्राकृतिक हाथ-पैर नहीं हैं, किन्तु वह ग्रहण करता और जोरोंसे चलता है। चक्षु न रहनेपर भी देखता है। कानोंके बिना भी शब्दोंको सुनता है। वह सम्पूर्ण जाननेयोग्य विषयोंको भलीभाँति जानता है, किन्तु उसे कोई नहीं जानता। उसे ही आदि महान् पुरुष कहते हैं।

† मैं एकसे बहुत होता हूँ।

‡ वह देखती है।

कुछ मुस्कराते हुए प्रभुने कहा—'आपके सामने अधिक बोलना तो धृष्टता होगी, किन्तु प्रसंगवश कहना ही पड़ता है। भगवान् व्यासदेवके अभिप्रायको ठीक-ठीक इन्होंने ही व्यक्त किया है, इसे हम कैसे कह सकते हैं। इन्हीं सूत्रोंका भाष्य भगवान् रामानुजने विशिष्टाद्वैतपरक किया है और भगवान् माध्वाचार्यने शारीरकभाष्यके ठीक प्रतिकूल इन्हीं सूत्रोंसे द्वैतमतका प्रतिपादन किया है। ये सभी-के-सभी पूज्य, मान्य और आदरणीय महापुरुष हैं। इनमेंसे किसकी बातको झूठ समझें। इसलिये यही कहना पड़ता है, कि इन तीनोंने ही अपने-अपने दृष्टिकोणसे ठीक ही व्याख्या की है। इन सभीने किसी एक विषयका प्रतिपादन किया है। इनमेंसे यही व्याख्या सर्वमान्य हो सकती है, इसे मैं नहीं मानता। ये सभी व्याख्याएँ एकदेशीय हैं। आप ही सोचिये, जिन्होंने छः शास्त्र और अठारह पुराण तथा पञ्चम वेद महाभारतको बनाकर भी शान्ति प्राप्त नहीं की और पूर्ण शान्ति लाभ करनेके ही निमित्त जिन्होंने सभी वेद-शास्त्रोंका सार संग्रह करके श्रीमद्भागवतकी रचना की और उसे रचकर ही अनन्त शान्ति प्राप्त की वे ही भगवान् व्यासदेव श्रीमद्भागवतमें क्या कहते हैं—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
(१०।१४।३२)

अर्थात् 'व्रजमें रहनेवाले नन्द आदि ग्वालबालोंके भाग्यकी सराहना कौन कर सकता है, जिनके मित्र परम आनन्दस्वरूप साक्षात् सनातन पूर्ण ब्रह्म हैं।' इस प्रकारके उद्गारोंको व्यक्त करनेवाले व्यासदेव इस बातका आग्रह करें कि 'नहीं, ब्रह्मका निर्गुण-निराकाररूप ही यथार्थ है, शेष सभी कल्पित और मिथ्या हैं।' तो यह बात कुछ समझमें नहीं आती। जो श्रीकृष्णको सनातन पूर्ण ब्रह्म बताकर गाँवके गँवार गोप-ग्वालोंके भाग्यकी

भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे हैं, वे इस प्रकारका हठ करेंगे, यह कुछ विचारणीय विषय है।

कुछ निरुत्तर-से होकर सार्वभौमने क्षणभर सोचकर कहा—'तब तो भगवान् शंकरके सारे सिद्धान्तका खण्डन हो जाता है। उन्होंने तो अपने सभी ग्रन्थोंमें निर्विशेष ब्रह्मका ही भाँति-भाँतिसे प्रतिपादन किया है और इस नाम-रूपात्मक दृश्य जगत्को मिथ्या बताकर अपने आपको ही ब्रह्म माननेके लिये कहा है।'

प्रभुने कुछ जल्दीसे कहा—'इसमें खण्डन-मण्डनकी कौन-सी बात है? बुद्धि भी तो भगवद्दत्त ही है। ये सब बुद्धिके चमत्कार हैं। भगवान् शंकरने अद्वैत-सिद्धान्तका प्रतिपादन करके सचमुच विचारोंका अन्त ही करके दिखा दिया है! तर्कशक्ति और विचारशक्तिको पराकाष्ठापर पहुँचा दिया है। जीव ही ब्रह्म है, यह उनके मस्तिष्कके सर्वोच्च विचारोंका सर्वोत्कृष्ट एक भाव ही है। उनके हृदयसे तो पूछिये यथार्थ बात क्या है? जो आयुभर 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ' इसी सिद्धान्तका प्रचार करते हुए अभेदभावका प्रचार करते रहे उन्हींके मुखसे एकान्तमें सुरसरिके तीरपर अश्रु बहाते हुए जो उद्गार आप-से-आप ही निकल पड़े हैं, उनकी ओर भी तो ध्यान दीजिये। देखिये, वे कितने करुणस्वरसे अश्रु बहाते हुए गद्‌गदकण्ठसे प्रभुके सम्मुख प्रार्थना कर रहे हैं—

सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

(भ० शङ्कराचार्यकी ष० प०)

'हे नाथ! चाहे तुममें और जगत्‌में भेद न हो, तो भी मेरे स्वामी! मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं हो। यद्यपि समुद्र तथा तरङ्गमें भेद न हो तो भी लोग 'समुद्रकी तरङ्ग' ऐसा ही कहते हैं, 'तरङ्गका समुद्र' ऐसा कोई नहीं

कहता ।' यह उन महापुरुषका वाक्य है, जो जगत्‌को त्रिकालमें भी कुछ नहीं मानते । जिनकी दृष्टिमें मैं-मेरा तथा जन्म-मृत्यु सब कोरी कल्पना ही हैं, किन्तु ये बातें उनके मस्तिष्ककी थीं । यह उनके सरस और निष्कपट शुद्ध हृदयके उद्‌गार हैं । तभी तो भगवान् व्यासदेवने कहा है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ *
(श्रीमद्भा० १ । ७ । १०)

प्रभुके मुखसे इस बातको सुनकर और अपनी झेंप मिटानेके निमित्त सार्वभौमने कहा—'हाँ हाँ, इस श्लोकका आप क्या अर्थ करते हैं, हमें भी तो सुनाइये ?'

प्रभुने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'भला, मैं आपके सामने श्लोककी व्याख्या करनेयोग्य हूँ ? यह काम तो आपका ही है । आप मुझे इसकी व्याख्या करके सुनाइये, जहाँ मेरी समझमें न आवेगी वहाँ पूछ लूँगा ।'

अबतक तो सार्वभौम कुछ उत्तर देनेमें असमर्थ थे, इसलिये वे एकटक भावसे प्रभुके मुखकी ओर देखते हुए उनकी बातें सुन रहे थे । अब उन्हें अपने पाण्डित्य प्रदर्शन करनेका कुछ अवसर प्राप्त हुआ । इसलिये बड़े हर्षके साथ नाना भाँतिकी शंकाओंको उठाते हुए और शास्त्रीय प्रमाण देते हुए उन्होंने इस एक ही छोटे-से श्लोककी नौ प्रकारसे व्याख्या की और पृथक्-पृथक् नौ भाँतिके अर्थ करके बताये । अपनी व्याख्याको समाप्त

---

* जो शास्त्रीय ज्ञानसे परे पहुँच गये हैं । जिनकी अहंता-ममतारूपी हृदय-ग्रन्थि खुल गयी है और जो मौन रहकर सदा आत्मामें ही रमण करते रहते हैं ऐसे ज्ञानी पुरुष भी भगवान् उरुक्रमके विषयमें अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि उन श्रीहरिके गुण ही ऐसे अद्भुत हैं कि समझदार पुरुष उनमें भक्ति किये बिना रह ही नहीं सकते ।

करते हुए अपने पाण्डित्यकी प्रशंसा सुननेकी उत्सुकतासे वे प्रभुके मुखकी ओर निहारने लगे ।

प्रभुने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—'धन्य है, आपके पाण्डित्यकी मैंने जैसी प्रशंसा सुनी थी, उसका परिचय मैंने यहाँ आकर प्रत्यक्ष ही पा लिया । इतनी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या आप ही कर सकते हैं, दूसरे पण्डितका काम नहीं, कि इतनी सरलतासे नौ प्रकारके अर्थोंको बिना खींचातानीके सरलतापूर्वक कह सकें, किन्तु इन नौ अर्थोंके अतिरिक्त और भी तो कई प्रकारसे इस श्लोकके अर्थ हो सकते हैं ।'

अत्यन्त ही आश्चर्य प्रकट करते हुए सम्भ्रमके साथ भट्टाचार्य सार्व-भौम कहने लगे—'क्या कहा, मेरे अर्थोंके सिवा और भी इसके अर्थ हो सकते हैं ? यदि आप कर सकते हों तो सुनाइये ।'

प्रभुने बड़ी ही सरलताके साथ विनीत स्वरमें कहा—'मैं क्या कर सकता हूँ । ऐसे ही आप गुरुजनोंके मुखसे मैंने इसकी कुछ थोड़ी-बहुत व्याख्या सुनी है, उसमेंसे जो कुछ थोड़ी-बहुत याद है, उसे आपकी आज्ञासे सुनाता हूँ ।' यह कहकर महाप्रभुने अठारह प्रकारसे इस श्लोककी व्याख्या की ।

महाप्रभुके मुखसे इस प्रकारकी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या सुनकर सार्वभौम भट्टाचार्यके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा । वे अपने आपेको भूल गये और जिस प्रकार स्वप्नमें कोई अद्भुत घटनाको देखकर आश्चर्यके सहित उसकी ओर देखता रहता है, उसी प्रकार वे प्रभुकी ओर देखते रहे । अब उन्हें प्रभुकी महिमाका पता चला, अब उनके हृदयमें छिपी हुई भक्ति जाग्रत् हुई । मानो इस श्लोककी व्याख्याने ही इनकी अव्यक्त भक्तिको व्यक्त बना दिया । वे अपने पद, मान, प्रतिष्ठा और सम्मान आदिके अभिमानको भुलाकर एक छोटे बालककी भाँति सरलतापूर्वक

प्रभुके पादपद्मोंमें गिर पड़े। उन्होंने अपने हाथोंकी लाल रंगवाली मोटी-मोटी उँगलियोंसे प्रभुके दोनों अरुण चरण पकड़ लिये और रोते-रोते 'पाहि माम्' 'रक्ष माम्' कहकर स्तुति करने लगे—

संसारकूपे पतितो ह्यगाधे
मोहान्धपूर्णे विषयातिसक्तः।
करावलम्बं मम देहि नाथ
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

इस संसाररूपी अगाध समुद्रमें डूबते हुए विषयासक्त मुझ अधमको अपने हाथोंका सहारा देकर हे नाथ! आप उबार लीजिये। हे गोविन्द! हे दामोदर!! हे माधव!!! मैं आपकी शरण हूँ।

इस प्रकार वे प्रभुकी भाँति-भाँतिसे स्तुति करने लगे। उसी समय उन्हें प्रभुके शरीरमें अद्भुत षड्भुजी मूर्तिके दर्शन हुए। उन दर्शनोंसे उनके सभी पुराने पाप क्षय हो गये और वे घोर तार्किक पण्डितसे आज परम भागवत वैष्णव बन गये।

प्रभुने उन्हें प्रेमपूर्वक उठाकर आलिङ्गन किया। प्रभुका आलिङ्गन पाते ही वे फिर मूर्छित होकर गिर पड़े। बहुत देरतक यह करुणापूर्ण दृश्य ज्यों-का-त्यों बना रहा। सभी विद्यार्थी महान् आश्चर्य और कुतूहलके सहित इस दृश्यको देखते रहे!

सार्वभौमका भगवत्-प्रसादमें विश्वास

महाप्रसादे गोविन्दे नाम्नि ब्रह्मणि वैष्णवे।
स्वल्पपुण्यवतां राजन्! विश्वासो नैव जायते॥*

(व्यास० वा०)

अविश्वासका मुख्य कारण है अप्रेम। जहाँ प्रेम नहीं वहाँ विश्वास भी नहीं और जहाँ प्रेम है वहीं विश्वास भी है। अद्वैतवेदान्तके अनुसार इस सम्पूर्ण दृश्य जगत्‌का अस्तित्व हमारे मनके विश्वासपर ही है। जिस समय हमारे मनसे इस जगत्‌की सत्यतापरसे विश्वास उठ जायगा, उस दिन यह जगत् रहेगा ही नहीं। इसीलिये वेदान्ती कहते हैं 'तुम इस बातका विश्वास करो कि 'सोऽहं' 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्' अर्थात् 'मैं वही हूँ' 'मैं चिदानन्दरूपी शिव ही हूँ।'

हमारी वृत्ति बहिर्मुखी है, क्योंकि हमारी इन्द्रियोंके द्वार बाहरकी ही ओर हैं, इसलिये हम बाहरी वस्तुओंपर तो विश्वास करते हैं, किन्तु उनमें जो भीतर छिपा हुआ रहस्य है, उसे हम नहीं समझ सकते। जिसने उस भीतर छिपे हुए रहस्यको समझ लिया वह सचमुचमें सब बन्धनोंसे मुक्त हो गया। भगवान्‌के प्रसादके बहानेसे कितने लोग अपनी विषय-वासनाओंको पूर्ण करते हैं! नामका आश्रय ग्रहण करके लोग इस प्रकारके पापकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। वास्तवमें उन्हें प्रसादका और भगवन्नामका माहात्म्य नहीं मालूम है, तभी तो वे चमकते हुए काँचके

---

* **शुकदेवजी राजा परीक्षितसे कह रहे हैं—**

भगवान्‌के महाप्रसादमें, भगवान्‌में, भगवन्नाममें, ब्रह्म अथवा ब्रह्मवेत्तामें और वैष्णव पुरुषोंमें थोड़े पुण्यवालोंका विश्वास नहीं होता।

बदलेमें हीरा दे देते हैं। जो भगवन्नाम सभी प्रकारके पापोंको नष्ट करनेमें समर्थ है, उसे सोने-चाँदीके ठीकराओंके ऊपर बेचनेवालोंके हाथ-में वे ठीकरा ही रह जाते हैं। भगवन्नामके असली सुस्वादु मधुरातिमधुर फलसे वे लोग वञ्चित रह जाते हैं। विश्वाससे जिसने एक बार महाप्रसाद पा लिया, फिर उसकी जिह्वा खट्टे-मीठेके भेद-भावको भूल जायगी। जिसने श्रद्धा-विश्वासके सहित एक बार भगवन्नामका उच्चारण कर लिया, फिर उसे संसारी किसी पदार्थकी वाञ्छा नहीं रह सकती। एक बड़े भारी महात्माने हमें एक कहानी सुनायी थी—

एक सरल-हृदया स्त्री थी। उसने कभी भी भगवान्का नाम नहीं लिया। किन्तु जीवनमें कभी कोई खोटा काम भी नहीं किया। उसके द्वारा किसी भी प्राणीको कष्ट नहीं होता था। एक दिन उसने एक बड़े भारी भक्तके मुखसे यह श्लोक सुना—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥

(महाभारतम्)

अर्थात् जिसने एक बार भी कृष्णके पादपद्मोंमें श्रद्धा-भक्तिके सहित प्रणाम कर लिया 'उसे उतना ही फल हो जाता है जितना कि दस अश्वमेधादि यज्ञ करनेवाले पुरुषको होता है। किन्तु इन दोनोंके फलमें एक बड़ा भारी भेद होता है। अश्वमेध-यज्ञ करनेवाला तो लौटकर फिर संसारमें आता है, किन्तु श्रीकृष्णको श्रद्धासहित प्रणाम करनेवाला, फिर संसार-चक्रमें नहीं घूमता। वह तो इस चक्रसे मुक्त होकर निरन्तर प्रभुके पादपद्मोंमें लोट लगाता रहता है। इस श्लोकके भावको सुनते

ही वह सरल-हृदया नारी विकल हो उठी। उसके सम्पूर्ण शरीरमें रोमाञ्च हो गया। आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बहने लगी। गद्गद-कण्ठसे लड़खड़ाती हुई वाणीमें उसने बड़े ही पश्चात्तापके स्वरमें कहा—'हाय! मैंने अभीतक एक दिन भी भगवान्‌के चरण-कमलोंमें प्रणाम नहीं किया।' इतना कहकर ज्यों ही वह प्रणाम करनेको बढ़ी त्यों ही इस नश्वर शरीरको परित्याग करके श्रीहरिके अनन्त धामके लिये चली गयी। इसका नाम श्रद्धा या विश्वास है। ऐसे ही विश्वाससे प्रभुके पादपद्मोंकी प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये कबीरदासजीने कहा है—

गाया तिन पाया नहीं, अनगाये ते दूर।
जिन गाया बिस्वास गहि, तिनके सदा हुजूर॥

सार्वभौम भट्टाचार्यको प्रभुके पादपद्मोंमें पूर्ण श्रद्धा हो गयी थी। शास्त्रका वचन है, कि हृदयमें भगवान्‌की भक्ति उत्पन्न होनेसे सभी सद्गुण अपने-आप ही बिना बुलाये हृदयमें आकर निवास करने लगते हैं। सद्गुण तो भगवत्-भक्तिकी छाया हैं। छाया शरीरको छोड़कर दूसरी जगह रह नहीं सकती। किसी एकमें विश्वास होनेपर सभी सत्कर्मोंमें स्वतः ही श्रद्धा हो सकती है

एक दिन महाप्रभु अरुणोदयके समय श्रीजगन्नाथजीके शयनोत्थानके दर्शनके लिये गये। प्रभुके दर्शन कर लेनेपर पुजारीने उन्हें प्रसादी माला और प्रसादी अन्न दिया। प्रभुने बड़े आदरके सहित उस महाप्रसादको दोनों हाथ फैलाकर ग्रहण किया और अपने वस्त्रमें बाँधकर वे सार्वभौम भट्टाचार्यके घरकी ओर चले। प्रभु बिना सूचना दिये ही भीतर चले गये। सार्वभौम उसी समय निद्रासे जगकर भगवन्नामोंका उच्चारण करते हुए शय्यापरसे उठने ही वाले थे, कि तबतक महाप्रभु पहुँच गये। प्रभुको देखते ही सार्वभौम अस्त-व्यस्तभावसे जल्दी-जल्दी शय्यापरसे उठे और प्रभुके चरण-कमलोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया तथा उन्हें बैठनेके लिये सुन्दर

आसन दिया। आसनपर बैठते ही प्रभुने अपने वस्त्रोंमेंसे भगवान्का प्रसाद खोलकर सार्वभौमको दिया। महाप्रभु आज कृपा करके अपने हाथसे महाप्रसाद दे रहे हैं, यह सोचकर सार्वभौमकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने दीन-हीन अभ्यागतकी भाँति उस महाप्रसादको ग्रहण किया और हाथपर आते ही बिना शौचादिसे निवृत्त हुए वैसे ही बासी-मुखसे वे प्रसादको पाने लगे। प्रसादको पाते जाते थे और आनन्दके सहित पद्मपुराणके इन श्लोकोंको पढ़ते जाते थे—

शुष्कं पर्युषितं वाऽपि नीतं वा दूरदेशतः।
प्राप्तिमात्रेण भोक्तव्यं नात्र कालविचारणा॥
न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा।
प्राप्तमन्नं द्रुतं शिष्टैर्भोक्तव्यं हरिरब्रवीत्॥*

इस प्रकार सार्वभौमको विश्वासके साथ आनन्दपूर्वक प्रसाद पाते देखकर महाप्रभुके आनन्दकी सीमा नहीं रही। वे भट्टाचार्य सार्वभौमको हाथ पकड़कर नृत्य करने लगे। भट्टाचार्य महाशय भी बेसुध होकर प्रभुके साथ पागलकी भाँति नाच रहे थे। सार्वभौमकी स्त्री तथा उनके शिष्य और पुत्र इस अपूर्व दृश्यको देखकर इसका कुछ भी कारण न समझ सके। महाप्रभु बार-बार सार्वभौमका आलिंगन करते और गद्गद कण्ठसे बार-बार कहते—'आज सार्वभौम कृतार्थ हो गये,

---

* महाप्रसाद चाहे सूखा हो, बासी हो अथवा दूर-देशसे लाया हुआ हो, उसे पाते ही खा लेना चाहिये। उसमें कालके विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है। महाप्रसादमें देश अथवा कालका नियम नहीं है। शिष्ट पुरुषोंको चाहिये कि जहाँ भी जिस समय भी महाप्रसाद मिल जाय उसे वहीं उसी समय पाते ही जल्दीसे खा लें। ऐसा भगवान्ने साक्षात् अपने श्रीमुखसे कहा है।

आज वासुदेव सार्वभौमको भगवान् वासुदेवने अपनी शरणमें ले लिया। आज भट्टाचार्य महाशयके सभी संसारी-बन्धन छिन्न-भिन्न हो गये। आज मुझे सार्वभौमने खरीद लिया। इतने भारी शास्त्रज्ञ और शौचाचारको जाननेवाले सार्वभौम महाशयका जब महाप्रसादके प्रति इतना अधिक दृढ़ विश्वास हो गया, तो मैं समझता हूँ, इनसे बढ़कर संसारमें कोई दूसरा भक्त होगा ही नहीं। भट्टाचार्य महोदयने आज मुझे कृतकृत्य कर दिया। आज मेरा पुरीमें आना सफल हो गया।' प्रभुके मुखसे ऐसी बातें सुनकर भट्टाचार्य सार्वभौम कुछ लज्जित-से हुए और बार-बार प्रभुके चरणोंकी धूलिको अपने सम्पूर्ण शरीरपर मलते हुए कहने लगे—'यह सब प्रभुके चरणोंकी कृपा है। मुझ अधमके ऊपर कृपा करके ही आपने संसार-सागरमें डूबते हुएको हाथ पकड़कर उबारा है। अब तो मैं आपका दासानुदास हूँ, जब जैसी भी आज्ञा होगी, उसीका पालन करूँगा।' भट्टाचार्यके मुखसे ऐसी बात सुनकर प्रभु कुछ लज्जाका भाव प्रदर्शित करते हुए वहाँसे चले गये। जब गोपीनाथाचार्यने यह समाचार सुना तब तो वे बड़े प्रसन्न हुए।

शामको भट्टाचार्य सार्वभौम प्रभुके दर्शनके लिये आये। उसी समय गोपीनाथाचार्य भी वहाँ आ पहुँचे। प्रभुको प्रणाम करके मुस्कराते हुए गोपीनाथाचार्यने कहा—'कहो भट्टाचार्य महाशय! हमारी बात ठीक निकली न? अब बोलो, भागकर कहाँ जाओगे?'

पृथिवीमें सिर टेककर और गोपीनाथाचार्यको प्रणाम करते हुए सार्वभौमने कहा—'यह सब आपके चरणोंकी कृपा है, नहीं तो मुझ-जैसे संसारी मनुष्यके ऊपर प्रभु कृपा कब कर सकते हैं? आपके ही अनुग्रहसे मुझे प्रभुके चरण-कमलोंकी प्राप्ति हो सकी है।' इस प्रकार शिष्टाचारकी बहुत-सी बातें होनेपर सार्वभौम अपने घरको चले आये।

सार्वभौमका भक्तिभाव

नौमि तं गौरचन्द्रं यः कुतर्ककर्कशाशयम् ।
सार्वभौमं सर्वभूमा भक्तिभूमानमाचरत् ॥ *
(चैतन्यचरितामृत म० ली० ६ । १)

एक दिन भट्टाचार्य महाशय महाप्रभुके वासस्थानपर प्रभुके दर्शनके निमित्त गये । प्रभुने बड़े ही प्रेमसे उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया। महाप्रभुकी आज्ञासे आसनपर बैठनेके अनन्तर हाथ जोड़े हुए सार्वभौमने कहा—'प्रभो ! एक बातका स्मरण करके मुझे अपने ऊपर बड़ी भारी ग्लानि हो रही है । मैंने अपने शास्त्रीय ज्ञानके अभिमानमें आपको साधारण संन्यासी समझकर उपदेश देनेका मिथ्या अभिमान किया था, इससे मुझे बड़ा दुःख हो रहा है । आचार्य गोपीनाथजीके साथ आपकी कड़ी आलोचना भी की थी, इसलिये अब अपने उन पुराने कृत्योंपर बड़ी लज्जा आ रही है ।'

महाप्रभुने अत्यन्त ही स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहा—'आचार्य ! यह आप कैसी भूली-भूली-सी बातें कर रहे हैं ? हाल तो जहाँतक मैं समझता हूँ, आपने मेरे सम्बन्धमें न तो कोई अनुचित बात ही कही और न कभी अशिष्ट व्यवहार ही किया । आप-जैसे श्रद्धालु, शास्त्रज्ञ विद्वान्से कोई भी इस प्रकारके व्यवहारकी आशा नहीं कर सकता। थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि आपने कोई अनुचित बर्ताव किया भी

---

* **जिन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्यके कुतर्क-कर्कश हृदयको भक्ति-भावपूर्ण बना दिया, उन सर्वभूमा श्रीगौरचन्द्रको हम प्रणाम करते हैं ।**

तो, वह तभीतक था, जबतक कि मेरा-आपका प्रगाढ़ प्रेम-सम्बन्ध नहीं हुआ था। प्रेम-सम्बन्ध हो जानेपर तो पुरानी सभी बातें भुला दी जाती हैं। प्रेम होनेपर तो एक प्रकारके नूतन जीवनका आरम्भ होता है, जिस प्रकार जन्म होनेपर पिछले सभी जन्मोंकी बातें भूल जाती हैं, उसी प्रकार प्रेम हो जानेपर तो पिछली बातोंका ध्यान ही नहीं रहता। प्रेममें लज्जा, भय, संकोच, शिष्टाचार, क्षमा, अपराध आदि द्वैधी भावको प्रकट करनेवाली वृत्तियाँ रहती ही नहीं। वहाँ तो नित्य नूतन रसका आस्वादन करते रहना ही शेष रह जाता है। क्यों ठीक है न ?'

सार्वभौमने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे क्षणभर चुपचाप ही बैठे रहे। थोड़ी देरके अनन्तर उन्होंने पूछा—'प्रभो! भगवान्‌के चरण-कमलोंमें अहैतुकी अनन्यभक्ति उत्पन्न हो सके, ऐसा सर्वोत्तम साधन कौन-सा है ?'

महाप्रभुने कहा—'सबके लिये एक ही रोगमें एक ही ओषधि नहीं दी जाती। बुद्धिमान् वैद्य प्रकृति देखकर ओषधि तथा अनुपानमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर देता है। भोजनसे शरीरकी पुष्टि, चित्तकी तुष्टि और क्षुधाकी निवृत्ति—ये तीनों काम होते हैं, किन्तु पुष्टि, तुष्टि और क्षुधा-निवृत्तिके लिये एक-सा ही भोजन सबको नहीं दिया जाता। जिसे जो अनुकूल पड़े उसीका सेवन करना उसके लिये लाभप्रद है। शास्त्रोंमें भगवत्-प्राप्तिके अनेक साधन तथा उपाय बताये हैं, किन्तु इस कलिकालमें तो हरि-नाम-स्मरणके अतिरिक्त कोई भी दूसरा साधन सुगमतापूर्वक नहीं हो सकता। वर्तमान समयमें तो भगवन्नाम ही सर्वोत्तम साधन है।'

सार्वभौमने पूछा—'प्रभो! भगवन्नामस्मरणकी प्रक्रिया क्या है ?'

प्रभुने कहा—'प्रक्रिया क्या ? भगवन्नामकी कुछ भी प्रक्रिया नहीं। जब भी समय मिले, जहाँ भी हो, जिस दशामें भी हो, भगवन्नामोंका

मुखसे उच्चारण करते रहना चाहिये। भगवन्नामका नियत संख्यामें जप करो, जो भी अपनेको अत्यन्त प्रिय हो ऐसे भगवान्‌के रूपका ध्यान करो, भगवन्नामोंका संकीर्तन करो, भगवान्‌के गुणानुवादोंका गायन करो, भगवान्‌की लीलाओंका परस्परमें कथन और श्रवण करो, सारांश यह है, कि जिस किसी भाँति भी हो सके अपने शरीर, प्राण, मन तथा इन्द्रियोंको भगवत्परायण ही बनाये रखनेकी चेष्टा करो।'

सार्वभौमने पूछा—'प्रभो! ध्यान कैसे किया जाय?'

प्रभुने कहा—'अपनी वृत्तिको बाहरी विषयोंकी ओर मत जाने दो। काम करते-करते जब भी भगवान्‌का रूप हमारी दृष्टिसे ओझल हो जाय तो ऊर्ध्व दृष्टि करके (आँखोंकी पुतलियोंको ऊपर चढ़ाकर) उस मनमोहिनी मूर्तिका ध्यान कर लेना चाहिये।'

इस प्रकार भगवन्नामके सम्बन्धमें और भी बहुत-सी बातें होती रहीं। अन्तमें जगदानन्द और दामोदर पण्डितको साथ लेकर सार्वभौम अपने घर चले गये। घर जाकर उन्होंने जगन्नाथजीके प्रसादके भाँति-भाँतिके बहुत-से सुन्दर-सुन्दर पदार्थ सजाकर इन दोनों पण्डितोंके हाथों प्रभुके लिये भेजे और साथ ही अपनी श्रद्धाञ्जलिस्वरूप नीचेके दो श्लोक भी बनाकर प्रभुकी सेवामें समर्पित करनेके लिये दिये। वे श्लोक ये हैं—

वैराग्यविद्यानिजभक्तियोग-
शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी
कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये॥
कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः
प्रादुष्कर्तुं कृष्णचैतन्यनामा।

आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे
गाढं गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः ॥*
(चैतन्यचन्द्रोदयनाटक अङ्क ६ । ४३-४४)

जगदानन्द और दामोदर पण्डित प्रभुके स्वभावसे पूर्णरीत्या परिचित थे । वे जानते थे, कि महाप्रभु अपनी प्रशंसा सुन ही नहीं सकते । प्रशंसा सुनकर प्रसन्नता प्रकट करना तो दूर रहा उलटे वे प्रशंसा करनेवालेपर नाराज़ होते हैं, इसलिये उन्होंने इन दोनों सुन्दर श्लोकोंको बाहर दीवालपर पहिले लिख लिया । तब जाकर भोजनसामग्रीके सहित वह पत्र प्रभुके हाथमें दिया । प्रभुने उसे पढ़ते ही एकदम टुकड़े-टुकड़े करके बाहर फेंक दिया । किन्तु भक्तोंने तो पहलेसे ही उन्हें लिख रक्खा था । उसी समय मुकुन्द उन्हें कण्ठस्थ करके बड़े ही सुन्दर स्वरसे गाने लगे । सभी भक्तोंको बड़ा आनन्द रहा । थोड़े ही दिनोंमें ये श्लोक सभी गौर-भक्तोंकी वाणीके बहुमूल्य भूषण बन गये ।

एक दिन सार्वभौम प्रभुके समीप बैठकर कुछ भक्तिविषयक बातें कर रहे थे । बातों-ही-बातोंमें सार्वभौम श्रीमद्भागवतके इस श्लोकको पढ़ने लगे—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।

---

* जो दयासागर पुराणपुरुष अपने ज्ञान, वैराग्य और भक्तियोगकी शिक्षा देनेके निमित्त श्रीकृष्णचैतन्य नामवाले शरीरको धारण करके प्रकट हुआ है, मैं उसकी शरणमें प्राप्त होता हूँ ॥ ४३ ॥

समयके हेर-फेरसे नष्ट हुए अपने भक्तियोगको फिरसे प्रचार करनेके निमित्त श्रीकृष्णचैतन्य नामसे जो अवनिपर अवतरित हुए हैं, उन श्रीचैतन्य-चरण-कमलोंमें मेरा चित्तरूपी भौंरा अत्यन्त लीन हो जाय ॥ ४४ ॥

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥*
(१० । १४ । ८)

सार्वभौम भट्टाचार्यने इस श्लोकके अन्तिम चरणमें मुक्तिके स्थानमें 'भक्ति' पाठ पढ़कर यह अर्थ किया कि वह भक्तिका अधिकारी होता है।

महाप्रभुने हँसते हुए कहा—'भट्टाचार्य महाशय! आपको अपने मनोनुकूल अर्थ करनेमें भगवान् व्यासदेवके श्लोकमें पाठ-परिवर्तन करनेकी आवश्यकता न पड़ेगी। आप समझते होंगे, इस श्लोकसे मुक्तिको ही सर्वश्रेष्ठता प्राप्त हो जाती है।' यह बात नहीं है। भगवान् व्यासदेव स्वयं ही भगवत्-पादसेवनको मुक्तिसे भी बढ़कर बताते हैं। जैसा कि इस श्लोकमें कहा है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥†
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १३)

---

* ब्रह्माजी भगवान्‌की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—

हे भगवन्! जो पुरुष तुम्हारी कृपाकी बाट जोहता हुआ अनासक्त-भावसे अपने कर्मोंका जैसा भी प्राप्त हो वैसा फल भोगता हुआ तथा शरीर, वाणी और मनसे तुम्हारी वन्दनादि भक्ति करता हुआ जीवन बिताता है। अन्तमें [जिस प्रकार पिताकी कृपासे पुत्र उसके धनका स्वामी होता है, उसी प्रकार] वह पुरुष मुक्तिफलका भागी होता है।

† भगवान्‌में भक्ति करनेवाले भक्तजन सालोक्य (मेरे साथ मेरे लोकमें रहना), सार्ष्टि (मेरे समान ऐश्वर्य भोगना), सामीप्य (मेरी सन्निधिमें

यानी भक्त तो भगवत्-सेवाके सामने मुक्तितककी उपेक्षा कर देते हैं। इस सिद्धान्तको प्रतिपादन करनेवाले भगवान् व्यासदेव समस्त साधकोंकी स्थितिका नाम 'मुक्ति' कैसे कथन कर सकते हैं।

इस श्लोकमें 'मुक्ति-पद' ऐसा पाठ है। इसका अर्थ हुआ 'मुक्तिः पदे यस्य स मुक्तिपदः' अर्थात् मुक्ति है पैरमें जिसके ऐसे श्रीकृष्ण भगवान्को प्राप्त होता है। अर्थात् मुक्ति है पूर्वपदमें जिनके ऐसे नौवें पदार्थसे आगे दशवें पदार्थ अर्थात् श्रीकृष्णको प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें दस पदार्थोंका वर्णन है जैसा कि निम्न श्लोकोंमें वर्णन है—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥
दशमस्य विशुद्धार्थं नवानामिह लक्षणम्।
वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥

(१।१०।१-२)

अर्थात् श्रीमद्भागवतमें सर्ग, विसर्ग, स्थिति, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईश-कथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—इन दसोंका वर्णन है। इनमें दसवाँ विषय जो सबके आश्रयस्वरूप श्रीकृष्ण हैं उन्हींके तत्त्वज्ञानके निमित्त महात्मा पुरुष यहाँ इन सर्गादि नौ लक्षणोंका स्वरूप वर्णन करते हैं। जिनमें श्रुतिके द्वारा स्तुति आदिसे प्रत्यक्ष वर्णन करते हैं और भाँति-भाँतिके आख्यान कहकर अन्तमें तात्पर्यरूपसे भी उसीका वर्णन करते हैं। सारांश यही कि चाहे तो देवता आदिके द्वारा 'तू ही सबका आश्रय है,' यह कहकर उनका वर्णन किया हो, या अम्बरीष

रहना), सारूप्य (मेरे समान रूप होना) और एकत्व (मेरेमें ही मिल जाना) ये पाँच, प्रकारकी मुक्ति मैं उन्हें दूँ, तो भी मेरी सेवाको छोड़कर इनकी इच्छा नहीं करते।

आदिकी कथा कहकर अन्तमें यह तात्पर्य निकालो, कि बिना भगवत्-शरण प्राप्त किये कल्याण नहीं। कैसे भी कहा जाय। सर्वत्र उसी दसवें 'आश्रयभूत' श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रीति होनेके ही निमित्त श्रीमद्भागवतकी रचना हुई है। इसलिये 'मुक्तिपद' वे ही श्रीकृष्ण भगवान् हो सकते हैं। यहाँ सार्ष्टि, सामीप्यादि मुक्तिसे तात्पर्य नहीं है।

सार्वभौमने कहा—'प्रभो! मुझे तो आपकी इस व्याख्यासे सन्तोष हो गया और यही यहाँ मुक्तिपद शब्दका भाव होगा। किन्तु सब लोग तो प्रचलित अर्थमें ही मुक्तिपदका अर्थ करेंगे। इसलिये मुझे भक्तिपाठ ही सुन्दर प्रतीत होता है।

प्रभुने हँसकर कहा—'यह तो मैंने वैसे ही वाग्विनोदके निमित्त पदोंकी खींचा-तानी करके ऐसा अर्थ किया है। वास्तवमें तो मुक्तिपदका अर्थ संसारी सभी बन्धनोंसे मुक्त होना ही है। संसारके बन्धनोंसे मुक्त होनेपर प्रभुपदके अतिरिक्त उसे दूसरा कोई आश्रय ही नहीं। बन्धन छूटना चाहिये फिर चाहे उसीके बनकर उसके पादपद्मोंमें लोट लगाते रहो या उसीमें घुलमिल जाओ। सब एक ही बात है। उनके चरणोंका आश्रय पकड़ना ही मुख्य है। इस प्रकारकी शब्दोंकी खींचा-तानीमें क्या रक्खा है? ऐसी खींचा-तानी तो पक्षपाती पुरुष अपने पक्षको सिद्ध करनेके निमित्त किया करते हैं। जिसे श्रीकृष्णके चरणोंसे ही प्रेम करना है उसे पक्षपातसे क्या प्रयोजन?'

प्रभुके ऐसे उपदेशको सुनकर सार्वभौम भट्टाचार्यको बड़ी शान्ति हुई और वे प्रभुको प्रणाम करके अपने घरको चले गये।

दक्षिण-यात्राका विचार

कति न विहितं स्तोत्रं काकुः कतीह न कल्पिता
कति न रचितं प्राणत्यागादिकं भयदर्शनम्।
कति न रुदितं धृत्वा पादौ तथापि स जग्मिवान्
प्रकृतिमहतां तुल्यौ स्यातामनुग्रहनिग्रहौ ॥*

(चैतन्यचन्द्रोदयनाटक अङ्क ७ । २)

सचमुच महापुरुषोंका स्वभाव बड़ा ही विलक्षण होता है। इनके सभी काम, सभी चेष्टाएँ, सभी व्यवहार लोकोत्तर ही होते हैं। इनमें सभी वैषम्य गुणोंका समावेश पाया जाता है। इनका हृदय अत्यन्त ही प्रेममय होता है। एक बार जिसके ऊपर इनकी कृपा हो गयी, जिसने एक क्षणको भी इनकी प्रसन्नता प्राप्त कर ली, बस, समझो कि सम्पूर्ण जीवनपर्यन्त उसके लिये इन महापुरुषोंके हृदयमें स्थान हो गया। इनका प्रणय स्थायी होता है। और कभी किसीपर दैववशात् इन्हें क्रोध भी आ गया तो वह पानीकी लकीरके समान होता है, जिस समय आया उसी समय नष्ट हो गया। इतनेपर भी ये अपने जीवनको संगसे रहित

*** महाराज प्रतापरुद्रसे सार्वभौम भट्टाचार्य कह रहे हैं—**

मैंने कितनी स्तुति न की, कितना व्यंग न बोला, कितनी बार प्राण छोड़नेकी धमकी न दी और उनके चरण धरकर कितना नहीं रोया; परन्तु फिर भी वे चले ही गये। इसलिये महाराज! मेरी तो समझमें यह बात आयी है, कि जो स्वभावसे ही महान् पुरुष हैं उनके निग्रह और अनुग्रह दोनों ही समान हैं।

बनाये रहते हैं और त्यागकी मात्रा इनमें इतनी अधिक होती है, कि प्यारे-से-प्यारेको भी क्षणभरमें शरीरसे परित्याग कर सकते हैं। †

इन्हीं सब बातोंको तो देखकर महाकवि भवभूतिने कहा है—'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' अर्थात् ये पुष्पसे भी अधिक मुलायम होते हैं, भक्तोंकी तनिक-सी प्रार्थनापर पिघल जाते हैं और समय पड़नेपर कठोर भी इतने हो जाते हैं, कि वज्र भी इनके सामने अपनी कठोरतामें कम ठहरता है। ऐसे महापुरुषोंका जो अनुकरण करना चाहते हैं, उनके पीछे दौड़ना चाहते हैं, उनके व्यवहारोंकी नकल करना चाहते हैं वे पुरुष धन्यवादके पात्र तो अवश्य हैं, किन्तु ऐसे विरले ही होते हैं। इन स्वेच्छाचारी स्वच्छन्दगति महानुभावोंका अनुकरण या अनुसरण करना हँसी-खेल नहीं है। ये अपने निश्चयके सामने किसीके आग्रहकी, किसीकी अनुनय-विनयकी, किसीकी प्रार्थनाकी परवाह ही नहीं करते। जो निश्चय हो चुका सो हो चुका। साधारण लोगोंके स्वभावमें और महापुरुषोंके स्वभावमें यही तो अन्तर है, यही तो उनकी महानता है। इसीसे तो वे जगत्-वन्द्य बन सकते हैं।

महाप्रभुका हृदय जितना ही कोमलातिकोमल और प्रेमपूर्ण था उनका निश्चय उतना ही अधिक दृढ़, अटल और असन्दिग्ध होता था। वे अपने सत्यसंकल्पके सामने किसीकी परवाह नहीं करते थे। माघ मासके शुक्लपक्षमें कटवासे संन्यास-दीक्षा लेकर महाप्रभु श्रीअद्वैताचार्यके घर शान्तिपुर आये थे। वहाँ आठ या दस दिन रहकर फिर आपने पुरीके लिये प्रस्थान किया और मार्गके सभी पुण्य-तीर्थोंको पावन बनाते हुए

---

† **आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।**
परित्यागाश्च निसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम् ॥
(सु० र० भां० ४८ । ४९)

फाल्गुन मासमें श्रीनीलाचलमें पहुँचे। वहाँपर फाल्गुन और चैत्र मासमें सार्वभौम भट्टाचार्यकी मौसीके घरमें भक्तोंके सहित प्रभुने निवास किया। उस समयतक पुरीमें प्रभुकी इतनी अधिक ख्याति नहीं हुई थी। नीलाचल बड़ा तीर्थक्षेत्र है, नित्यप्रति सैकड़ों साधु-महात्मा वहाँ आते-जाते रहते हैं, वहाँ कौन किसकी परवाह करता है। जब सार्वभौम भट्टाचार्य-जैसे प्रकाण्ड पण्डित प्रभुके पादपद्मोंके शरणापन्न हुए तब तो लोगोंको झुकाव कुछ-कुछ प्रभुकी ओर हुआ। वे परस्पर एक दूसरेसे प्रभुके सम्बन्धमें आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। संसारी लोगोंका स्वभाव होता है, कि वे जहाँतक हो सकता है किसीको बढ़ने नहीं देते, उसकी निन्दा करके, उसे चिढ़ाके अथवा संसारी प्रलोभन देकर शक्तिभर नीचे ही गिरानेका प्रयत्न करते हैं। वे जबतक पूर्णरीत्या विवश नहीं हो जाते तबतक किसीकी मान-प्रतिष्ठा अथवा पूजा-अर्चा नहीं करते। जब उसके असह्य तेजको सहन करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तो अन्तमें उन्हें उसकी प्रतिष्ठा करनेके लिये विवश हो जाना पड़ता है और फिर वे उसकी पूजा-प्रतिष्ठा और प्रशंसा किये बिना रह ही नहीं सकते। महाप्रभु जनसंसदिसे पृथक्, एकान्तमें, बिना किसी प्रदर्शनके गोप्य भावसे भक्तोंके सहित रहते थे। किन्तु कूड़ेके अन्दर छिपी हुई अग्नि कबतक अप्रकट रह सकती है? धीरे-धीरे लोग महाप्रभुके दर्शनोंके लिये आने लगे। तभी महाप्रभुने दक्षिण देशके तीर्थोंमें परिभ्रमण करनेका विचार किया। उनकी इच्छा थी, कि संन्यासीके धर्मके अनुसार हमें कुछ कालतक देश-विदेशोंमें भ्रमण करना चाहिये। यही प्राचीन ऋषि-महर्षियोंका सनातन-आचार है। यह सोचकर प्रभुने अपनी इच्छा भक्तोंपर प्रकट की। सभी प्रभुके इस निश्चयको सुनकर अवाक् रह गये। उनमेंसे नित्यानन्दजी बोल उठे—'प्रभो! आप तो यह निश्चय करके आये थे, कि हम नीलाचलमें ही

रहेंगे। सभी भक्तोंको भी आप इसी प्रकारका आश्वासन दे आये थे, किन्तु अब आप यह कैसी बातें कर रहे हैं? आपके सभी कार्य अलौकिक होते हैं। आप क्या करना चाहते हैं, इसे कोई नहीं जान सकता! आपके मनोगत भावोंको समझ लेना मानवीय-बुद्धिके परेकी बात है। आप सर्वसमर्थ हैं, जो चाहे सो करें, किन्तु पुरी-जैसे परमपावन क्षेत्रको परित्याग करके आप दक्षिणकी ओर क्यों जाना चाहते हैं?'

महाप्रभुने कुछ सोचकर कहा—'हमारे ज्येष्ठ बन्धु महामहिम विश्वरूपजी दक्षिण-देशकी ही ओर गये थे, मैं उधर जाकर उनकी खोज करूँगा। संन्यास लेकर उनकी खोज करना मेरा सर्वप्रधान कर्तव्य है।'

कुछ दुःखकी सूखी हँसी हँसते हुए दामोदर पण्डितने कहा—'भाईको खोजनेके लिये जा रहे हैं, इसे तो हम खूब जानते हैं, यह तो आपका बहानामात्र है। यथार्थ बात तो कुछ और ही है। मालूम होता है, दक्षिण-देशको पावन करनेकी इच्छा है सो हम मना थोड़े ही करते हैं। और मना करें भी तो आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, किसीकी मानेंगे थोड़े ही।'

दामोदर पण्डितकी बात ठीक ही थी। महाप्रभुके अग्रज विश्वरूपने संन्यास ग्रहण करनेके दो वर्ष बाद पूनाके पास पण्ढरपुरमें इस शरीरको त्याग दिया था, यह बात भक्तोंको विदित थी। प्रसिद्ध पद-कर्त्ता वासुदेव घोष उस समय वहीं पण्ढरपुरमें ही उपस्थित थे। उन्होंने भक्तोंको आकर यह समाचार सुनाया भी था। महाप्रभुने आजतक यह समाचार न सुना हो, यह सम्भव नहीं। कुछ भी हो, विश्वरूपके ढूँढ़नेको उपलक्ष्य बनाकर वे दक्षिण-देशको अपनी पद-धूलिसे पावन करना चाहते थे, इसीलिये उन्होंने ऐसा निश्चय किया। नित्यानन्दजीने कुछ रुँधे हुए कण्ठसे कहा—'प्रभो!

हम आपकी इच्छाके विरुद्ध कोई भी कार्य नहीं कर सकते। किन्तु हमारी यही प्रार्थना है कि हमलोगोंको अपने साथ ही ले चलें। हमारा परित्याग न करें।'

प्रभुने गम्भीरतापूर्वक कहा—'मेरे साथ कोई नहीं चल सकता। मैं भीड़-भाड़के साथ यात्रामें न जा सकूँगा। अकेले ही तीर्थ-भ्रमण करूँगा।'

अत्यन्त ही दीनभावसे नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो! हम आपके किसी कार्यमें हस्तक्षेप नहीं करते। हमारे साथ, रहनेसे आपको क्या असुविधा हो सकती है? यदि सबको साथ ले चलना आप उचित न समझते हों, तो मुझे तो साथ लेते ही चलिये। मैंने दक्षिणके सभी तीर्थोंकी यात्रा की है। सभी स्थान, सभी रास्ते, सभी तीर्थ और देवालय मेरे देखे हुए हैं। मेरे साथ रहनेसे आपको किसी भी प्रकारका विक्षेप न होगा।'

महाप्रभुने कुछ बनावटी उदासीनता-सी प्रकट करते हुए व्यंगके साथ कहा—'श्रीपाद! आप मेरे ऊपर वैसे ही कृपा बनाये रखें। आपको साथ लेकर तो मैं यात्रा कर चुका। आपका प्रगाढ़ स्नेह मुझे आगे बढ़ने ही न देगा। आप मुझे जो समझते हैं, वास्तवमें वह मैं हूँ नहीं। इसीलिये मेरे और आपके बीचमें यह बड़ा भारी मतभेद है। शान्तिपुरसे यहाँतक आनेमें ही आपने मुझे तंग कर दिया। मेरे दण्डको आपने तोड़कर फेंक दिया, मुझे धर्म-भ्रष्ट करनेमें ही आपको मजा मिलता है, इसलिये आपको साथ ले जाना मेरी शक्तिसे बाहरकी बात है।'

इतनेमें ही दामोदर पण्डित बोल उठे—'अच्छा, प्रभो! मैं तो कुछ नहीं कहता। मुझे ही साथ ले चलिये। शेष इन तीनोंको लौटा दीजिये।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'गुरु महाराज! आपकी तो दूरसे ही चरणवन्दना करनी चाहिये। अभीतक मैं आपके कठोर नियमवाले स्वभावसे एकदम अपरिचित था। वैसे कहनेके लिये तो मैंने संन्यास धारण कर लिया है, किन्तु भगवत्-भक्त प्रेमियोंकी उपेक्षा मुझसे अब भी

नहीं की जाती। उनके प्रेमके पीछे मैं नियम-उपनियमोंको अपने-आप ही भूल-सा जाता हूँ। आप इससे समझते हैं कि मैं धर्म-विरुद्ध काम करता हूँ। आप कठोर नियमोंके बन्धनमें ही मुझे जकड़े रहनेका उपदेश किया करते हैं। मुझे शरीरका भी तो होश नहीं रहता, फिर आपके कर्कश और कठोर नियमोंका पालन मैं किस प्रकार कर सकूँगा। इसलिये आप मेरे स्वतन्त्र व्यवहारको देखकर सदा मुझे टोकते रहेंगे—यह मेरे लिये असह्य होगा। इसलिये मैं अकेला ही जाऊँगा।'

धीरे-से डरते-डरते जगदानन्दजीने पूछा—'प्रभो! यह तो हम आपकी बातोंके ढंगसे ही समझ गये कि आप किसीको भी साथ न ले जायँगे। किन्तु जब प्रसङ्ग छिड़ ही गया है, तो मैं भी जानना चाहता हूँ कि मेरा परित्याग किस दोषके कारण किया जा रहा है?'

प्रभुने जोरोंसे हँसते हुए कहा—'और किसीको तो साथ ले भी जा सकता हूँ, किन्तु जगदानन्दजीको साथ ले जाना तो मैं कभी भी पसन्द न करूँगा। जबतक इनकी इच्छाके अनुसार मैं व्यवहार करता रहूँ, तबतक तो ये प्रसन्न रहते हैं, जहाँ इनके मनोभावोंमें तनिक-सी भी ठेस लगी कि ये फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। इनकी मनोवाञ्छाको पूर्ण करना मेरी शक्तिके बाहरकी बात है। इनके मनोनुकूल बर्ताव करनेसे तो मैं संन्यासधर्मका पालन कर ही नहीं सकता। ये मुझे खूब बढ़िया पदार्थ खाते देखकर सुखी होते हैं, मुझे अच्छे वस्त्रोंमें देखना चाहते हैं। मैं खूब सुन्दर शय्यापर शयन करूँ तब ये प्रसन्न होते हैं। मैं संन्यासधर्मके विरुद्ध संसारी विषयोंका उपभोग कभी कर नहीं सकता। इसलिये इनके साथसे तो मैं अकेला ही अच्छा हूँ।'

इतना कहकर प्रभु मुकुन्दके मुखकी ओर देखने लगे। मुकुन्द चुपचाप बैठे थे, उनकी आँखोंमें लबालब जल भरा हुआ था, किन्तु वह

बाहर नहीं निकलता था। प्रभुकी ममताभरी चितवनसे वह जल अपने-आप ही आँखोंकी कोरोंद्वारा बहने लगा। प्रभुने ममत्व प्रदर्शित करते हुए कहा—'कहो, तुम भी अपना दोष सुनना चाहते हो?'

महाप्रभुके पूछनेपर भी मुकुन्द चुपचाप ही अश्रु बहाते रहे, उन्होंने प्रभुकी बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब नित्यानन्दजीकी ओर देखते हुए प्रभु कहने लगे—'मुकुन्दका स्वभाव बड़ा ही कोमल है, स्वयं तो ये भारी कष्टसहिष्णु हैं, किन्तु दूसरोंके कष्टको नहीं देख सकते। विशेषकर मेरे शरीरके कष्टसे तो ये क्षुभित हो उठते हैं। इन्हें मेरे संन्यासके नियमोंकी कठोरता असह्य मालूम पड़ती है। ये मेरे पैदल भ्रमण, कम वस्त्रोंमें निर्वाह, त्रिकाल-स्नान, भिक्षान्नसे उदरपूर्ति और जहाँ स्थान मिल गया वहीं पड़ रहनेवाले नियमोंसे मन-ही-मन दुखी रहते हैं। यद्यपि ये मुखसे कुछ भी नहीं कहते, किन्तु इनके मनोगत भाव मुझसे छिपे नहीं रहते। इनके मानसिक दुःखसे मुझे भी क्लेश होता है। मैं अपने नियमोंको छोड़ न सकूँगा, ये अपने कोमल स्वभावको कठोर बना न सकेंगे, इसलिये इन्हें साथ ले जाना मेरे लिये असम्भव है।'

इन सब बातोंको सुनकर नित्यानन्दजीने कुछ खिन्न मनसे कहा—'प्रभो! आपकी इच्छाके विरुद्ध करनेकी सामर्थ्य ही किसमें है, किन्तु मेरी एक अन्तिम प्रार्थना है, इसके लिये मैं बार-बार चरणोंमें प्रार्थना करता हूँ कि इसे आप अवश्य स्वीकार करेंगे।'

प्रभुने अत्यन्त ही ममता प्रदर्शित करते हुए कहा—'श्रीपाद! आप यह कैसी बात कह रहे हैं। आप तो मेरे पूज्यमान और गुरुतुल्य हैं। आपकी आज्ञाका मैं कभी उल्लंघन कर सकता हूँ? आप सूत्रधार हैं, मैं तो आपका नृत्य करनेवाला पात्र हूँ, जैसे नचाना चाहेंगे, वैसे ही नाचूँगा। बताइये, क्या कहते हैं?'

नित्यानन्दजीने अत्यन्त ही करुण स्वरमें कहा—'आप अकेले ही यात्रामें जायँगे, इससे हमें असह्य दुःख होगा। हममेंसे किसीको आप साथ ले जाना न चाहें तो ये कृष्णदास नामके ब्राह्मण हैं, कटवाके समीप ही इनका जन्म-स्थान है। ये स्वभावके बड़े ही सरल हैं। सेवा करनेमें बड़े ही प्रवीण हैं। प्रभुके पादपद्मोंमें इनका दृढ़ अनुराग है। ये साथमें रहकर प्रभुकी सब प्रकारकी सेवा करेंगे। आप जब भावावेशमें आकर नृत्य करने लगेंगे तो वस्त्रोंको कौन सम्हालेगा। दोनों हाथोंसे ताली बजा-बजाकर तो आप रास्तेमें कीर्तन करते हुए चलेंगे, फिर जलपात्र, कथरी और लँगोटियोंको कौन सम्हालेगा? अतः हमारी यही प्रार्थना है कि कृष्णदासको साथ चलनेकी अवश्य अनुमति प्रदान कर दीजिये।'

नित्यानन्दजीके इस अन्तिम आग्रहको प्रभु टाल न सके। उन्होंने कृष्णदासको साथ चलनेकी अनुमति दे दी। इस कारण भक्तोंको कुछ-कुछ सन्तोष हुआ। सभीकी इच्छा थी कि प्रभु कुछ काल पुरीमें और निवास करें। किन्तु उनसे आग्रह करनेकी किसीमें हिम्मत नहीं थी। सभीने सोचा—'यदि सार्वभौम प्रभुके पैर पकड़कर प्रार्थना करेंगे, तो अवश्य ही कुछ दिन और रह जायँगे। इसलिये प्रभुको सार्वभौमके समीप ले चलना चाहिये।' यही सोचकर नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो! भट्टाचार्य सार्वभौमसे भी तो इस सम्बन्धमें परामर्श कर लेनी चाहिये, देखें वे क्या कहते हैं।' यह सुनकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए प्रभुने कहा—'अच्छी बात है, चलिये, सार्वभौमसे भी इस सम्बन्धमें पूछ लें।' इतना कहकर प्रभु भक्तोंके सहित सार्वभौमके घरकी ओर चले।

दक्षिण-यात्राके लिये प्रस्थान

कथं ममाभून्न हि पुत्रशोकः
कथं ममाभून्न हि देहपातः।
विलोक्य युष्मच्चरणाब्जयुग्मं
सोढुं न शक्तोऽस्मि भवद्वियोगम् ॥*
(चै० चरि०)

प्रभुने दक्षिण-यात्राका निश्चय कर लिया है और इस निश्चयमें किसी प्रकारका भी उलट-फेर न होगा, इसी बातको सोचते हुए भक्तवृन्द प्रभुके साथ-साथ सार्वभौम भट्टाचार्यके गृहपर पहुँचे। भक्तोंके सहित प्रभुको आते देखकर जल्दीसे उठकर भट्टाचार्यने प्रभुकी चरणवन्दना की,

---

* प्रभुके वियोग-दुःखको स्मरण करके सार्वभौम भट्टाचार्य कह रहे हैं—

हाय! मुझे पुत्रशोक प्राप्त क्यों नहीं हुआ? मेरा यह शरीर नष्ट क्यों नहीं हो गया? प्रभुके युगल पादपद्मोंका दर्शन करके अब इनके वियोगजन्य दुःखको सहन करनेकी मुझमें शक्ति नहीं है।

सभी भक्तोंको प्रेमाभिवाद किया और सभीके बैठनेके लिये यथायोग्य आसन देकर धूप, दीप, नैवेद्यादि पूजनकी सामग्रीसे उन्होंने प्रभुकी पूजा की।

कुछ समयतक तो भगवत्-सम्बन्धी कथा-वार्ता होती रही। अन्तमें प्रभुने कहा—'भट्टाचार्य महाशय! मेरे ये धर्मबन्धु मुझे शान्तिपुरसे यहाँतक ले आये और इन्हींकी कृपासे मुझे पुरुषोत्तम भगवान्के दर्शन हुए। सुनते हैं तीर्थोंका फल कहीं कालान्तरमें मिलता है, किन्तु मुझे तो जगन्नाथजीके दर्शनोंका फल दर्शन करते ही प्राप्त हो गया। आप-जैसे महानुभावोंसे प्रेम होना कोटि तीर्थोंके फलस्वरूप ही है। आपसे साक्षात्कार होना मैं भगवान् पुरुषोत्तमके दर्शनोंका ही महाफल समझता हूँ। आपके सत्संगसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मेरा इतना समय खूब आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ। सम्भवतया आपको पता होगा कि मेरे एक ज्येष्ठ भ्राता विश्वरूप १६ वर्षकी ही अवस्थामें गृह-त्यागकर संन्यासी हो गये थे। ऐसा सुना जाता है कि वे दक्षिणकी ओर गये थे। मेरी इच्छा है कि मैं भी उनके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करके दक्षिण-देशकी यात्रा करूँ। इससे एक पन्थ दो काज होंगे। इसी बहानेसे दक्षिणके सभी तीर्थोंके दर्शन हो जायँगे और सम्भवतया विश्वरूपजीसे भी किसी-न-किसी तीर्थमें भेंट हो जायगी। अब आप मुझे दक्षिण जानेकी अनुमति प्रदान कीजिये।'

इतना सुनते ही भट्टाचार्य सार्वभौम तो मर्माहत होकर कटे वृक्षकी भाँति बेहोश होकर भूमिपर गिर पड़े। उनकी दोनों आँखोंसे अश्रु बहने लगे। कुछ क्षणके पश्चात् सम्हलकर वे बड़े ही करुणस्वरमें कहने लगे—'प्रभो! मैं समझता था कि मेरा सौभाग्यसूर्य अब उदय हो गया। अब मैं बड़भागी बन चुका। अब मुझे प्रभुकी संगतिका निरन्तर

ही सौभाग्य प्राप्त होता रहेगा, किन्तु हृदयको बेधनेवाली इस विचित्र बातको सुनकर तो मेरे दुःखका पारावार नहीं रहा। अत्यन्त दरिद्रावस्थासे जिस प्रकार कोई राजा बन गया हो और थोड़े ही दिनोंमें उसे राज्य-सिंहासनसे गिराकर फिर दीनहीन कंगाल बना दिया जाय। ठीक वही दशा आज मेरी हो गयी। प्रभो! आप मुझे छोड़कर कहीं अन्यत्र न जायँ। यदि कहीं जाना ही हो, तो मुझे भी साथ लेते चलें। मैं आपके पीछे, अपने कुटुम्ब, परिवार तथा पदप्रतिष्ठा सभीको छोड़नेके लिये तैयार हूँ।'

प्रभुने सार्वभौमको धैर्य बँधाते हुए कहा—'भट्टाचार्य महाशय! जब आप इतने विद्वान् और समझदार होकर इस प्रकारकी भूली-भूली-सी बातें करेंगे, तो फिर अन्य लोगोंकी तो बात ही क्या है? आप धैर्य धारण करें। मैं शीघ्र ही यात्रा समाप्त करके यहीं लौटकर आ जाऊँगा।'

भट्टाचार्यने कहा—'प्रभो! आपके लौटनेतक क्या हो, इस बातका किसे पता है। यह जीवन क्षणभंगुर है। आप मुझे निराश्रित छोड़कर अकेले न जाइये।'

प्रभुने प्रेमपूर्वक कहा—'ये भक्त मेरी अनुपस्थितिमें यहीं रहेंगे। आप सब मिलकर कृष्णकीर्तन करते रहिये। मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा। आप प्रसन्न होकर मुझे अनुमति प्रदान कीजिये।'

कुछ विवशता प्रकट करते हुए शोकके स्वरमें भट्टाचार्यने कहा—'आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, आपकी इच्छाके विरुद्ध बर्ताव करनेकी शक्ति ही किसमें है? आप दक्षिण-देशके तीर्थोंकी यात्रा करनेके निमित्त अवश्य ही जायँगे, किन्तु मेरी हार्दिक इच्छा है कि कुछ काल यहाँ और रहकर मेरी सेवा स्वीकार कीजिये।'

भक्तवत्सल गौराङ्ग अपने परमप्रिय कृपापात्र सार्वभौम भट्टाचार्यके इस अनुरोधकी उपेक्षा न कर सके। वे पाँच दिनोंतक भट्टाचार्यकी सेवाको स्वीकार करके पुरीमें ही रहे और नित्यप्रति भट्टाचार्यके ही घर उनकी प्रसन्नताके निमित्त भिक्षा करते रहे। भट्टाचार्यकी पत्नी भाँति-भाँतिके सुस्वादु पदार्थ बना-बनाकर प्रभुको भिक्षा कराती थीं। इस प्रकार पाँच दिनोंतक भट्टाचार्यके घर भिक्षा करके और उनके चित्तको सन्तुष्ट बनाकर प्रभुने दक्षिण-यात्राकी तैयारियाँ कीं।

प्रातःकाल प्रभु भक्तोंके सहित उठकर नित्य-कर्मसे निवृत्त हुए। उसी समय अपने दो-चार प्रधान शिष्योंके सहित सार्वभौम भट्टाचार्य प्रभुके स्थानपर आ पहुँचे। प्रभु उन अपने सभी भक्तोंके सहित श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये गये। मन्दिरमें जाकर प्रभुने श्रद्धा-भक्तिके सहित भगवान्‌के चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनसे दक्षिण-यात्राकी अनुमति माँगी। उसी समय पुजारीने भगवान्‌की प्रसाद-माला और प्रसादान्न लाकर प्रभुको दिया। प्रभुने इसे ही भगवत्-आज्ञा समझकर प्रसादको शिरोधार्य किया और मन्दिरकी प्रदक्षिणा करते हुए प्रभु सभी भक्तोंके सहित समुद्र-तटपर पहुँचे। प्रभु भट्टाचार्यसे बार-बार लौट जानेका आग्रह कर रहे थे, किन्तु भट्टाचार्य लौटते ही नहीं थे। तब तो प्रभु अत्यन्त ही दुःखित होकर वहाँ बैठ गये और सार्वभौमको भाँति-भाँतिसे समझाने लगे। सार्वभौम चुपचाप बैठे प्रभुकी बातें सुन रहे थे।

रोते-रोते भट्टाचार्यने कहा—'प्रभो! आप दक्षिणकी ओर तो जा ही रहे हैं। रास्तेमें गोदावरीके तटपर विद्यानगर नामकी एक बड़ी राजधानी पड़ेगी। वह राज्य उत्कल-राज्यके ही अन्तर्गत है। वहाँका राज्यशासन यहींके राजा रामानन्दराय करते हैं। वे वैसे जातिके तो

कायस्थ हैं, किन्तु हैं बड़े भगवत्-भक्त। उनकी वैष्णवता श्लाघनीय ही नहीं, साधारण लोगोंके लिये अनुकरणीय भी है। उन्हें आप अपने दर्शन देकर अवश्य कृतार्थ करते जायँ। सांसारिक विषयी पुरुष समझकर उनकी उपेक्षा न करें।'

प्रभुने गद्गद कण्ठसे स्नेहके स्वरमें कहा—'भट्टाचार्य महाशय! भला, जिनके लिये आपके हृदयमें इतना स्थान है, वे महाभाग चाहे चाण्डाल ही क्यों न हों, मेरे वन्दनीय हैं। आपकी जिनके ऊपर इतनी कृपा है वे अवश्य ही कोई परमभागवत भगवद्भक्त वैष्णव होंगे। मैं उनके दर्शन करके अपनेको अवश्य ही कृतार्थ करूँगा। अब आप अपने घरको लौट जायँ।'

लौटनेका नाम सुनते ही फिर भट्टाचार्य विकल हो गये, उन्होंने रोते-रोते प्रभुके पैर पकड़ लिये और अपने मस्तकको उनसे रगड़ते हुए कहने लगे—'पता नहीं, अब कब इन अरुण चरणोंके दर्शन होंगे।' प्रभुने दुःखित मनसे भट्टाचार्यका आलिङ्गन किया। प्रभुके कमलनयन भी सजल बने हुए थे। भट्टाचार्य प्रभुका प्रेमालिङ्गन पाते ही मूर्छित हो गये, प्रभु उन्हें ऐसी ही अवस्थामें छोड़कर जल्दीसे आगे चले गये और भट्टाचार्य दुःखित मनसे सर्वस्व गँवाये हुए व्यापारीकी भाँति अपने घर लौट आये।

इधर प्रभु जल्दी-जल्दी समुद्रके किनारे-किनारे आगेकी ओर बढ़ रहे थे, वे भक्तोंसे बार-बार लौटनेका आग्रह कर रहे थे, किन्तु भक्त लौटते ही नहीं थे, इसी प्रकार 'अब लौटेंगे, अब लौटेंगे' कहते हुए नित्यानन्द प्रभृति भक्तोंके सहित प्रभु अलालनाथ पहुँचे।

अलालनाथ पहुँचनेपर बहुत-से लोग प्रभुके दर्शनोंके लिये वहाँ आकर एकत्रित हो गये। इतनेमें ही गोपीनाथाचार्य प्रभुके लिये चार

कौपीन, एक काषाय रंगका बहिर्वास (ओढ़नेका वस्त्र) और भगवान्‌का महाप्रसाद लेकर अलालनाथमें आ पहुँचे। नित्यानन्दजी प्रभुको लोगोंसे दूर हटाकर समुद्र-किनारे ले गये और वहाँसे स्नान कराकर मन्दिरमें ले आये। मन्दिरमें आकर भक्तोंने प्रभुको प्रसादान्नका भोजन कराया। प्रभुने बड़े ही स्नेहके साथ गोपीनाथाचार्यके लाये हुए महाप्रसादान्नका भोजन किया। प्रभुके भोजन कर लेनेके अनन्तर सब भक्तोंने भी भोजन किया और वह रात्रि प्रभुने वहीं कथा-कीर्तन और भगवत्-चिन्तन करते हुए भक्तोंके साथ बितायी।

प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त होकर प्रभुने आगे चलनेका विचार किया। भक्तोंसे अब प्रभुने आग्रहपूर्वक लौट जानेके लिये कहा। प्रभुके वियोगका स्मरण करके सभीका हृदय फटने लगा। सभी प्रेममें बेसुध होकर रुदन करने लगे। प्रभुने उन रोते हुए भक्तोंको एक-एक करके आलिङ्गन किया। सभी मूर्छित होकर प्रभुके पैरोंमें लोटने लगे। प्रभु उन-सबको रोते ही छोड़कर आगेको चले गये। पीछे-पीछे काला कृष्णदास प्रभुके कमण्डलु तथा वस्त्रोंको लेकर चल रहे थे। आगे-आगे भक्त गजेन्द्रकी भाँति श्रीकृष्ण-प्रेममें छके हुए प्रभु निर्भयभावसे चले जा रहे थे। रास्तेमें वे भगवान्‌के इन नामोंका कीर्तन करते जाते थे—

कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! हे।
कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! हे॥
कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! रक्ष माम्।
कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! पाहि माम्॥
राम राघव! राम राघव! राम राघव! रक्ष माम्।
कृष्ण केशव! कृष्ण केशव! कृष्ण केशव! पाहि माम्॥

वासुदेव कुष्ठीका उद्धार

धन्यं तं नौमि चैतन्यं वासुदेवं दयार्द्रधीः।
नष्टकुष्ठं रूपपुष्टं भक्तितुष्टं चकार यः॥*

(श्रीचैत० चरिता० म० ली० ७ । १)

जीवनमें मस्ती हो, संसारी लोगोंके मानापमानकी परवा न हो, किसी नियत स्थानमें नियत समयपर पहुँचनेका दृढ़ संकल्प न हो और किसी विशेष स्थानमें ममत्व न हो; बस, तभी तो यात्रामें मजा मिलता है। ऐसे यात्रीका जीवन स्वाभाविक ही तपोमय जीवन होगा

---

* जिन्होंने दयार्द्र होकर वासुदेव नामक भक्तके गलित कुष्ठको नष्ट करके उसे सुन्दर रूप प्रदान किया और भगवद्भक्तिसे तुष्ट बना दिया ऐसे स्वनामधन्य श्रीचैतन्यदेवको हम प्रणाम करते हैं।

और प्राणिमात्रके प्रति उसके हृदयमें प्रेम तथा ममताके भाव होंगे। असलमें तो ऐसे ही लोगोंकी यात्रा सफल-यात्रा कही जा सकती है। ऐसे यात्री नरदेहधारी नारायण हैं, उनकी पदधूलिसे देश पावन बन जाते हैं। पृथिवी पवित्र हो जाती है। तीर्थोंकी कालिमा धुल जाती है और रास्तेके किनारेके नगरवासी स्त्री-पुरुष कृतार्थ हो जाते हैं। माँ वसुन्धरे! अनेक रत्नोंको दबाये रहनेसे तुझे इतना सुख कभी न मिलता होगा जितना कि इन सर्वसमर्थ ईश्वरोंके पदाघातसे। तीर्थोंका तीर्थत्व जो अभी-तक ज्यों-का-त्यों ही अक्षुण्ण बना हुआ है, इसका सर्वप्रधान कारण यही है कि ऐसे महानुभाव तीर्थोंमें आकर अपने पादस्पर्शसे तीर्थोंमें एकत्रित हुए पापोंको भस्म कर देते हैं, जिससे तीर्थ फिर ज्यों-के-त्यों ही निर्मल हो जाते हैं।

महाप्रभु चैतन्यदेव दक्षिणकी ओर यात्रा कर रहे थे। वे जिस ग्राममें होकर निकलते उसीमें उच्च स्वरसे भगवन्नामोंका घोष करते। उन हृदयग्राही सुमधुर भगवन्नामोंको प्रभुकी चित्ताकर्षक मनोहर वाणी-द्वारा सुनकर ग्रामोंके झुण्ड-के-झुण्ड स्त्री-पुरुष आ-आकर प्रभुको घेर लेते। महाप्रभु उनके बीचमें खड़े होकर कहते—

हरि हरि बोल, बोल हरि बोल।
मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

प्रभुके स्वरमें स्वर मिलाकर छोटे-छोटे बच्चे ताली बजा-बजाकर जोरोंके साथ नाचते हुए कहने लगते—

हरि हरि बोल, बोल हरि बोल।
मुकुन्द माधव गोविन्द बोल॥

बच्चोंके साथ बड़े भी गाने लगते और बहुत-से तो पागलोंकी तरह नृत्य ही करने लगते। इस प्रकार प्रभु जिधर होकर निकलते उधर

ही श्रीहरिनामकी गूँज होने लगती। इस प्रकार पथके असंख्य स्त्री-पुरुषोंको पावन करते हुए प्रभु कूर्माचल या कूर्मम् स्थानमें पहुँचे। यह तीर्थस्थान आन्ध्रदेशके अन्तर्गत गञ्जाम-जिलेमें अवस्थित है। कहते हैं कि पूर्वकालमें जगन्नाथजी जाते हुए भगवान् रामानुजाचार्य यहाँ ठहरे थे। पहले तो उन्हें कूर्मभगवान्की मूर्ति शिवरूपसे प्रतीत हुई और पीछे उन्होंने विष्णुरूप समझकर कूर्मभगवान्की सेवा की। पीछेसे यह स्थान माध्वसम्प्रदायवाले महात्माओंके अधिकारमें आ गया। दक्षिण-देशमें इस तीर्थकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा है। प्रभुने मन्दिरमें पहुँचकर कूर्मभगवान्के दर्शन किये और वे आनन्दमें विह्वल होकर नृत्य करने लगे। प्रभुके अलौकिक नृत्यको देखकर कूर्मनिवासी बहुत-से नर-नारी वहाँ एकत्रित होकर प्रभुके देवदुर्लभ दर्शनोंसे अपने नेत्रोंको सार्थक करने लगे। प्रभु बहुत देरतक भावावेशमें आकर नृत्य और कीर्तन करते रहे।

जब बहुत देरके अनन्तर प्रभु वहीं नृत्य करते-करते बैठ गये तब उन दर्शकोंमेंसे 'कूर्म'नामका एक सदाचारी वैष्णव ब्राह्मण प्रभुके समीप आया और प्रभुको प्रणाम करके उसने दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए निवेदन किया—'भगवन्! आपके दर्शनोंसे आज हम सभी पुरवासी कृतार्थ हुए। आप-जैसे महापुरुष यदा-कदा ही ऐसे तीर्थोंको अपनी पदधूलिसे पावन बनानेके लिये पधारते हैं। लोकके कल्याणके ही निमित्त आप-जैसे सन्त-महात्माओंका देशाटन होता है। गृहस्थियोंके घरोंको पावन करना ही आपकी यात्राका प्रधान उद्देश्य है। मैं अत्यन्त ही निर्धन, दीन-हीन-कंगाल ब्राह्मण बन्धु हूँ। भगवन्! यदि अपनी चरणरजसे मेरे घरको पावन बना सकें, तो मेरे ऊपर अत्यन्त ही अनुग्रह हो! नाथ! मैं आपके चरणोंमें सिरसे प्रणाम करता हुआ प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरी इस प्रार्थनाको अवश्य ही स्वीकार करें।'

प्रभुने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'विप्रवर ! आप कैसी बातें कह रहे हैं। ब्राह्मण तो साक्षात् श्रीहरिके मुख हैं, आप-जैसे विनयी वैष्णव ब्राह्मणका आतिथ्य ग्रहण करनेमें तो मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ। जो भगवत्-भक्त हैं, साधु-सन्तोंमें श्रद्धा रखते हैं, जिन्हें अतिथियोंकी सेवा करनेमें सुख प्रतीत होता है, ऐसे भक्तोंके घरका प्रसादान्न ग्रहण करनेसे अतिथि भी पवित्र बन जाता है। ऐसे आतिथ्यसे अतिथि और आतिथ्य करनेवाला दोनों ही धन्य हो जाते हैं। इसलिये मैं आपका आतिथ्य अवश्य ही ग्रहण करूँगा।'

प्रभुके मुखसे निमन्त्रणकी स्वीकृति सुनकर वह ब्राह्मण आनन्दके कारण व्याकुल-सा हो उठा। वह उसी समय अस्तव्यस्तभावसे अपने घर गया और अपनी ब्राह्मणीसे कहकर उसने महाप्रभुके लिये भाँति-भाँतिके उत्तमोत्तम पदार्थ बनवाये। पतिप्राणा सती-साध्वी ब्राह्मणीने बात-की-बातमें नाना भाँतिके व्यञ्जन बनाकर पतिसे प्रभुको बुला लानेका अनुरोध किया। भोजनोंको तैयार देखकर ब्राह्मण जल्दीसे प्रभुको बुला लाया। घरपर आते ही उसने अपने हाथोंसे प्रभुके पादपद्मोंको पखारा और उस पादोदकको स्वयं पान किया तथा परिवारभरको पिलाया। इसके अनन्तर सुन्दर-से आसनपर प्रभुको बिठाकर धीरे-धीरे भगवान्‌का प्रसाद ला-लाकर प्रभुके सामने रखने लगा। उन प्रेममें पगे हुए भाँति-भाँतिके सुन्दर, सुस्वादु पदार्थोंको देखकर और उनके ऊपर सुन्दर तुलसीमञ्जरीको अवलोकन करके प्रभु अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और श्रीहरिका स्मरण करते हुए उन्होंने प्रसाद पाया।

प्रभुके प्रसाद पा लेनेपर ब्राह्मणने दूसरी ओर प्रभुके विश्रामकी व्यवस्था कर दी और प्रभुके अवशेष अन्नको प्रसाद समझकर ब्राह्मणने अपने सम्पूर्ण परिवारके सहित उस अन्नको ग्रहण किया। महाप्रभु एक

ओर विश्राम कर रहे थे, कूर्म ब्राह्मण धीरे-धीरे प्रभुके पैरोंको दबाने लगा। पैरोंको दबाते-दबाते उसने कहा—'प्रभो! यह गृहस्थका जंजाल तो बड़ा ही बुरा है। इसमें रहकर भगवत्-चिन्तन हो ही नहीं सकता। अब तो मैं इस मायाजालसे बहुत ही ऊब गया हूँ। अब मेरा जैसे भी समझें, उद्धार कीजिये और अपने चरणोंकी शरण प्रदान कीजिये, यही श्रीचरणोंमें विनम्र प्रार्थना है।'

प्रभुने ब्राह्मणके प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हुए कहा—'विप्रवर! भगवत्-सेवा समझकर ही तुम घरके सभी कामोंको करते रहो। घरमें रहकर ही कृष्णकीर्तन करो और अन्य लोगोंको भी इसका उपदेश करो। मैं दक्षिणकी यात्रा समाप्त करके जबतक पुरीकी ओर लौटकर न आऊँ, तबतक तुम यहीं रहकर भगवन्नामोंका संकीर्तन और प्रचार करते रहो।'

प्रभुकी इन बातोंसे ब्राह्मणको कुछ-कुछ सन्तोष हुआ और उसने उसी समय भगवन्नामसंकीर्तन करनेका निश्चय कर लिया। उस रात्रि प्रभु उस महाभाग कूर्म ब्राह्मणके ही घरमें रहे। प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त होकर प्रभुने आगेके लिये प्रस्थान किया। कूर्म बहुत दूरतक प्रभुको पहुँचानेके लिये उनके साथ-ही-साथ ग्रामसे बाहरतक गया। जब प्रभुने बार-बार उससे लौट जानेका आग्रह किया, तब वह अत्यन्त ही दुःखित-चित्तसे रुदन करता हुआ ग्रामकी ओर लौट आया।

उसी ग्राममें वासुदेव नामक एक परम वैष्णव ब्राह्मण रहता था। उसकी साधु-महात्माओंके चरणोंमें अत्यधिक प्रीति थी। जहाँ भी किसी साधु-महात्माके आगमनका समाचार पाता, वहीं आकर वह उनकी दूरसे चरणवन्दना करता। प्रारब्ध-कर्मोंसे उस परमभागवत वैष्णवके सम्पूर्ण अंगमें गलित कुष्ठ हो गया था, इससे उसे तनिक भी क्लेश नहीं

होता था। वह इसे प्रारब्ध-कर्मोंका भोग समझकर प्रसन्नतापूर्वक सहन करता था। उसके सम्पूर्ण अंगोंमें घाव हो गये थे और उनमें कीड़े पड़ गये थे। वासुदेव उन कीड़ोंको निकालनेकी कोशिश नहीं करता। यही नहीं, किन्तु जो कीड़ा आप-से आप ही निकलकर पृथिवीपर गिर पड़ता, उसे उठाकर वह फिर ज्यों-का-त्यों ही अपने शरीरके घावोंमें रख लेता और पुचकारता हुआ कहता—'भैया, तुम पृथिवीपर कहाँ जाओगे, किसीके पैरोंके नीचे कुचल जाओगे, इसलिये यहीं रहो, यहाँ खानेको भी आहार मिलता रहेगा।' संसारी लोग उसके इस व्यवहारको देखकर हँसते और उसे पागल बताते, किन्तु उसे संसारी लोगोंकी परवा ही नहीं थी। वह तो अपने प्यारेको प्रसन्न करना चाहता था, संसार यदि बकता है तो उसे बकने दो। उसकी दृष्टिमें संसार पागल है और संसारकी दृष्टिमें वह पागल है।

उसने प्रातःकाल सुना कि 'कूर्मदेव ब्राह्मणके घरमें परम तेजस्वी अद्भुत रूप-लावण्ययुक्त नूतन अवस्थाके एक भगवद्भक्त विरक्त संन्यासी आये हैं, उनके दर्शनमात्रसे ही हृदयमें पवित्र भावोंका सञ्चार होने लगता है और जिह्वा आप-से-आप ही 'हरि हरि' पुकारने लगती है।' इतना सुनते ही वासुदेव उसी समय महाप्रभुके दर्शनोंके लिये कूर्म ब्राह्मणके घर दौड़ा आया। वहाँ आकर उसे पता चला कि प्रभु तो अभी थोड़ी ही देर पहले यहाँसे आगेके लिये चले गये हैं। इतना सुनते ही वह कुष्ठी ब्राह्मण भक्त मूर्छित होकर भूमिपर गिर पड़ा और करुण स्वरमें रुदन करते हुए विलाप करने लगा—'हाय! मैं ऐसा हतभागी निकला कि प्रभुके दर्शनोंसे भी वञ्चित रह गया। हे जगत्पते! मेरी रक्षा करो। हे अशरणशरण! इस लोकनिन्दित दीन-हीन कंगालके ऊपर कृपा करके अपने दर्शनोंसे इस अधमको कृतार्थ करो। हे अन्तर्यामिन्!
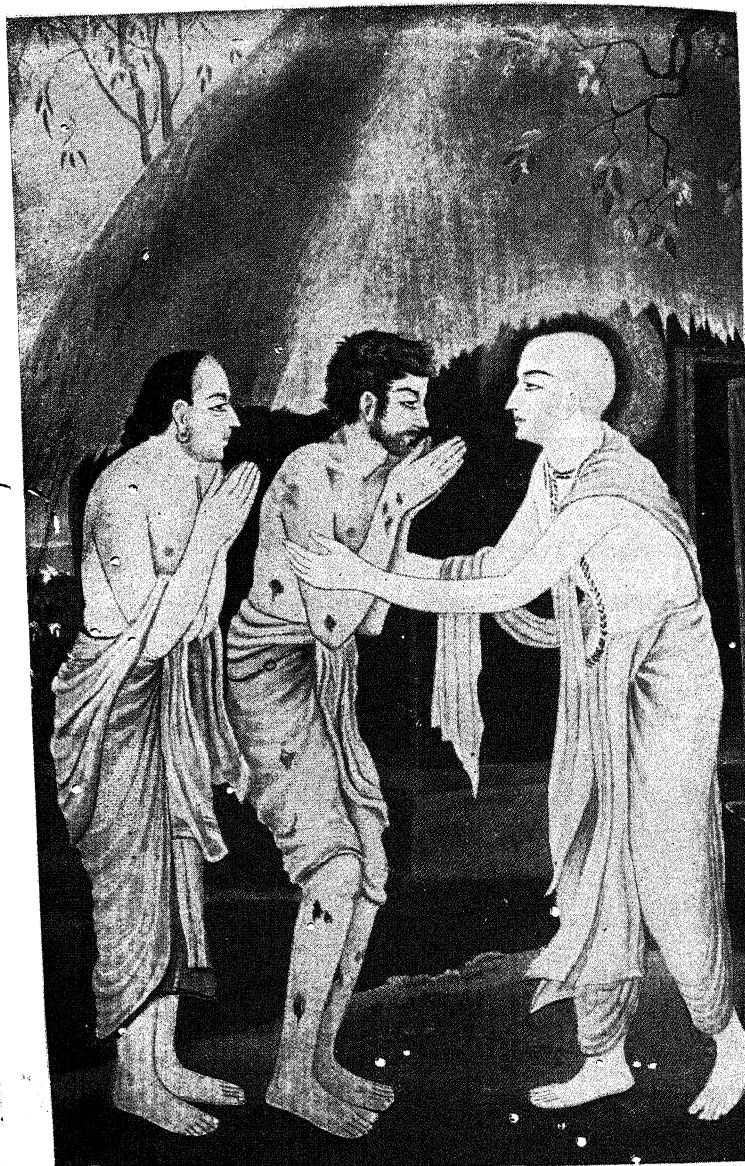
कुष्ठी-उद्धार

आप तो घट-घटकी जाननेवाले हैं। आप ही साधु, सन्त, भक्त और संन्यासी आदि वेशोंसे पृथिवीपर पर्यटन करते हुए संसारी कीचड़में सने निराश्रित जीवोंका उद्धार करते फिरते हैं। भगवन्! मेरा तो कोई दूसरा आश्रय ही नहीं। कुटुम्ब-परिवारवालोंने मेरा परित्याग कर दिया, समाजमें मैं अस्पृश्य समझा जाता हूँ, कोई भी मुझसे बात नहीं करता। बस, केवल आप ही मेरे आश्रयस्थान हैं। मुझे दर्शनोंसे वञ्चित रखकर आप आगे क्यों चले गये?'

मानो वासुदेवकी करुण-ध्वनि दूरसे ही प्रभुने सुन ली। वे सहसा रास्तेसे ही लौट पड़े और कूर्मके घर आकर रोते हुए वासुदेवको बड़े प्रेमसे उन्होंने हृदयसे लगा लिया। भयके कारण काँपता हुआ और जोरोंसे पीछेकी ओर हटता हुआ वासुदेव कहने लगा—'भगवन्! आप मेरा स्पर्श न करें। मेरे शरीरमें गलित कुष्ठ है। नाथ! आपके सुवर्ण-जैसे सुन्दर शरीरमें यह अपवित्र पीब लग जायगा। प्रभो! इस पापीका स्पर्श न कीजिये।' किन्तु प्रभु कब सुननेवाले थे, वे तो भक्तवत्सल हैं। उन्होंने वासुदेवका दृढ़ आलिंगन करते हुए कहा—'वासुदेव! तुम-जैसे भगवद्भक्तोंका स्पर्श करके मैं स्वयं अपनेको पावन करना चाहता हूँ।'

प्रभुका आलिंगन पाते ही, पता नहीं, वासुदेवके सम्पूर्ण शरीरका कुष्ठ कहाँ चला गया, वह बात-की-बातमें एकदम स्वस्थ हो गया और उसका सम्पूर्ण शरीर सुन्दर सुवर्णके समान चमकने लगा! प्रभुकी ऐसी कृपालुता देखकर आँखोंमेंसे प्रेमाश्रु बहाता हुआ गद्गद कण्ठसे वासुदेव कहने लगा—'प्रभो! मुझ-जैसे पापीका उद्धार करके आपने अपने पतित-पावन नामको ही सार्थक किया है। पतितोंको पावन करना तो आपका विरद ही है। मैं मायामोहमें फँसा हुआ अल्पज्ञ प्राणी आपकी स्तुति कर ही क्या सकता हूँ? आपकी विशद विरदावली-

का बखान करना मनुष्य-शक्तिके बाहरकी बात है। आप नररूप साक्षात् नारायण हैं, आप प्रच्छन्नवेषधारी श्रीहरि हैं। आपकी महिमा अपार है, शेषनागजी सहस्र फणोंसे सृष्टिके अन्ततक भी आपके गुणोंका बखान नहीं कर सकते।' इतना कहते-कहते उसका कण्ठ भर आया, आगे वह कुछ भी नहीं कह सका और मूर्च्छित होकर प्रभुके पैरोंके समीप गिर पड़ा। प्रभुने उसे अपने हाथसे उठाया और भगवन्नामका उपदेश करते हुए नित्यप्रति कृष्ण-कीर्तन करते रहनेकी शिक्षा दी। इस प्रकार दोनों ब्राह्मणोंको प्रेमसे आलिंगन करके प्रभु फिर वहाँसे आगेकी ओर चल दिये।

कूर्माचल-तीर्थसे चलकर प्रभु नाना ग्रामोंमें होते हुए 'जियड्नृसिंह' नामक तीर्थमें पहुँचे। वहाँ नृसिंहभगवान्की स्तुति-प्रार्थना करके बहुत देरतक संकीर्तन करते रहे और पूर्वकी ही भाँति रास्तेके सभी लोगोंको भगवन्नामका उपदेश करते हुए महाप्रभु पुण्यतोया गोदावरी नदीके तटपर पहुँचे। उस स्थानकी प्राकृतिक छटा देखकर प्रभुका मन नृत्य करने लगा। उन्हें एकदम वृन्दावनका भान होने लगा। वे सोचने लगे—सार्वभौम भट्टाचार्यने यहींपर रामानन्द रायसे मिलनेके लिये कहा था। वे यहाँके शासनकर्ता राजा हैं। उनसे किस प्रकार भेंट हो सकेगी। यही सोचते-विचारते प्रभु गोदावरीके बिल्कुल तटपर पहुँच गये और वहाँ आकर एक स्थानपर बैठ गये।

राजा रामानन्द राय

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले-
ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥*

(श्रीभर्तृ० श० नी० ६२)

यौवन, धन, सम्पत्ति और प्रभुत्व—इन चारोंको नीतिकारोंने अविवेकके संसर्गसे नाशका हेतु बताया है। सचमुच इन चारोंको पाकर मनुष्य पागल-सा हो जाता है। धन-मद, जन-मद, तप-मद, विद्या-मद, अधिकार-मद और यौवन-मद आदि अनेक प्रकारके मदोंमें अधिकार-मद और धन-मद—ये ही दो सर्वश्रेष्ठ मद माने गये हैं। जो अधिकार पाकर प्रमाद नहीं करता और धन पाकर जिसे अभिमान नहीं होता, वह साधारण मनुष्य नहीं है। वह तो कोई अलौकिक महापुरुष ही है। ऐसे महापुरुषकी चरणवन्दना करनेसे अक्षय सुखकी प्राप्ति हो सकती है। महाभागवत राय रामानन्दजी ऐसे ही वन्दनीय महानुभावोंमेंसे थे।

राय रामानन्दजीके पिताका नाम राजा भवानन्दजी था। राजा भवानन्दजी जगन्नाथपुरीसे तीन कोस दूर अलालनाथके समीप रहते थे। ये जातिके करणवंशी कायस्थ थे। इनके राय रामानन्द, गोपीनाथ पट्टनायक,

---

* सज्जनोंके संसर्गकी हृदयमें निरन्तर इच्छा, दूसरोंके गुणोंमें अनुराग होना, अपनेसे श्रेष्ठ और बड़े पुरुषोंके सम्मुख नम्रता, विद्यामें व्यसन, अपनी ही स्त्रीमें प्रीतिका होना, लोकनिन्दासे सदा सचेष्ट होकर भयभीत बने रहना, देवोंके भी देव महादेवके चरणोंमें भक्ति होना, अपने अन्तःकरणको दमन करनेकी शक्ति होना और दुष्टोंके संसर्गसे सदा दूर ही बने रहना—ये निर्मल गुण जिन महापुरुषों-में विद्यमान हैं, उन्हें हमारा प्रणाम है।

कलानिधि, सुधानिधि और वाणीनाथनायक—ये पाँच पुत्र थे। ये उड़ीसा-के महाराज प्रतापरुद्रके राजदरबारमें एक प्रधान कर्मचारी थे। इनके तीन लड़के भी महाराजके दरबारमें ही ऊँचे-ऊँचे अधिकारोंपर आसीन होकर राज-काज करते थे। गोपीनाथ कटक-दरबारकी ओरसे माल-जेठा-प्रदेशके शासक थे। वाणीनाथ दरबारमें ही किसी उच्च पदपर प्रतिष्ठित थे और राय रामानन्द उत्कल-देशके अन्तर्गत विद्यानगर-राज्यके शासक थे।

इस बातको हम पहले ही बता चुके हैं कि उस समय भारतवर्षमें छोटे-छोटे सैकड़ों स्वतन्त्र राज्य थे। उस अपने छोटे-से प्रदेशके शासक नृपतिगण सनातन-परिपाटीके अनुसार धर्मको प्रधान मानकर प्रजाका पालन करते थे और क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध भी करते थे। तैलंग-देशमें भी बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे। उनमेंसे 'कोट-देश' नामका एक छोटा-सा राज्य था, जिसकी राजधानी विद्यानगरमें थी। वर्तमान समयमें गोदावरीके उत्तर तटपर स्थित राजमहेन्द्रीको ही उस प्रदेशकी प्रधान नगरी समझना चाहिये, किन्तु पुराना विद्यानगर तो गोदावरीके दक्षिण तीरपर अवस्थित था और वह वर्तमान राजमहेन्द्रीसे दस-बारह कोस-की दूरीपर था। बहुत-से लोग विजयनगरको ही विद्यानगर समझते हैं, किन्तु नामके साम्य होनेके कारण केवल भ्रम ही है।

इसे तो पाठक पहले ही पढ़ चुके हैं कि उत्कल-देशके तत्कालीन महाराज पुरुषोत्तमदेवने विद्यानगरके राजाको युद्धमें परास्त करके उसके देशको अपने राज्यमें मिला लिया था। रामानन्द राय उत्कल-राज्यकी ही ओरसे उस राज्यके शासक होकर वहाँ रहते थे। महाराजकी ही ओरसे उन्हें 'राजा' और 'राय' की उपाधियाँ मिली हुई थीं।

राय महाशय राज-काजमें प्रवीण, देश-कालके जाननेवाले, विनयी, शूर तथा सदाचारी पुरुष थे। फारसीके पण्डित होनेके साथ-ही-साथ उन्हें संस्कृतका भी भलीभाँति ज्ञान था। संस्कृत-साहित्यका उन्होंने खूब अनुशीलन किया था, सभी शास्त्रोंमें उनकी प्रगति थी। विद्या-व्यासंगी होनेके कारण उनका सार्वभौम भट्टाचार्यसे अत्यधिक स्नेह था। ये जब भी राज-काजसे उड़ीसा जाते तभी पुरीमें जाकर सार्वभौमसे मिलते और उनके साथ शास्त्रालोचना किया करते। सार्वभौम भी इन्हें हृदयसे चाहते थे, दोनोंका हृदय कविताप्रिय था। दोनों ही सरस, सरल, विद्वान् और शास्त्राभ्यासी थे, इसीलिये इन दोनोंकी परस्पर खूब पटती थी। महाराज प्रतापरुद्रजी भी काव्य-रसिक थे, इसीलिये वे भी सार्वभौम भट्टाचार्य तथा रामानन्द राय—इन दोनोंहीका बहुत अधिक आदर करते थे। राय महाशयने अपने 'जगन्नाथवल्लभ' नामक नाटकमें महाराज प्रतापरुद्रकी बहुत अधिक प्रशंसा की है।

राय रामानन्द करणवंशी कायस्थ थे, फिर भी उनका आचार-विचार बड़ा ही शुद्ध तथा पवित्र था। वे देवता और ब्राह्मणोंके चरणोंमें अत्यधिक श्रद्धा रखते थे। वैदिक श्रौत-स्मार्त आदि कर्मोंका वे विधिवत् अनुष्ठान करते थे और धर्मपूर्वक शासनका कार्य करते हुए सदा श्री-कृष्णके चरणारविन्दोंमें अपने मनको लगाये रहते थे।

एक दिन वे प्रातःकाल बहुत-से वैदिक ब्राह्मणोंके सहित नित्यकी भाँति पतितपावनी पुण्यतोया गोदावरीमें स्नान करनेके निमित्त आये। बहुत-से वेदज्ञ ब्राह्मण उनके साथ-साथ स्तोत्रपाठ करते हुए आ रहे थे। आगे-आगे बहुत-से वाद्य बजानेवाले पुरुष भाँति-भाँतिके वाद्योंको बजाते हुए चल रहे थे। इस प्रकार बहुत-से आदमियोंसे घिरे हुए वे गोदावरीके तटपर पहुँचे। तटपर पहुँचते ही, वाद्यवालोंने अपने-अपने वाद्य बन्द

कर दिये। ब्राह्मणगण वस्त्र उतार-उतारकर गोदावरीके स्वच्छ, शीतल जलमें स्नान करने लगे। बहुत-से स्नानके समय पढ़े जानेवाले स्तोत्रोंको पढ़कर राय रामानन्दजीने स्नान किया और फिर देवता, ऋषि तथा पितरोंको जलसे सन्तुष्ट करके उन्होंने ब्राह्मणोंको यथेष्ट दक्षिणा दी और फिर वे अपनी राजधानीकी ओर चलने लगे।

उसी समय दूरहीसे उन्होंने अकेले वृक्षके नीचे बैठे हुए एक नवीन अवस्थावाले काषाय-वस्त्रधारी परमरूपलावण्ययुक्त युवक संन्यासीको देखा। पता नहीं, उस युवक संन्यासीकी चितवनमें क्या जादू भरा हुआ था, उसे देखते ही राय रामानन्द मन्त्रमुग्ध-से बन गये। उन्होंने देखा, संन्यासीके अंग-प्रत्यंगसे मधुरिमा निकल-निकलकर उस निर्जन प्रदेशको मधुमय, आनन्दमय और उल्लासमय बना रही है। गोदावरीका वह शान्त एकान्त स्थान उस नवीन संन्यासीकी प्रभासे प्रकाशित-सा हो रहा है, संन्यासी अपने एक पैरके ऊपर दूसरे पैरको रखे हुए एकटक-भावसे रामानन्द रायकी ओर ही निहार रहा है, उसके चेहरेपर प्रसन्नता है, उत्सुकता है, उन्मत्तता है और है किसीसे तन्मयता प्राप्त करनेकी उत्कट इच्छा। संन्यासी कुछ मुस्करा रहा है और उसके बिम्बा-फलके समान दोनों अरुण ओष्ठ अपने-आप ही हिल जाते हैं। पता नहीं, वह अपने-आप ही क्या कहने लग जाता है। राय महाशय अपनेको सम्हाल नहीं सके। उस संन्यासीने दूरसे ही ऐसा कोई मोहिनी मन्त्र पढ़ दिया कि उसके प्रभावसे वे राजापनके अभिमानको छोड़कर पालकीकी ओर जाते-जाते ही सीधे उस संन्यासीकी ओर जाने लगे। अपने प्रभुको संन्यासीकी ओर जाते देखकर सेवक भी उनके पीछे-पीछे हो लिये।

पाठक समझ ही गये होंगे कि ये नवीन संन्यासी हमारे प्रेम-पारस-मणि श्रीचैतन्य महाप्रभु ही हैं। महाप्रभु गोदावरीके किनारे

एकान्तमें स्नानादिसे निवृत्त होकर यही सोच रहे थे कि राय रामानन्दसे किस प्रकार भेंट हो, उसी समय उन्हें बजते हुए बाजोंकी ध्वनि सुनायी दी। महाप्रभु उन बाजेवालोंकी ही ओर देखने लगे। उन्होंने देखा कि बाजेवालोंके पीछे एक सुन्दर-सी पालकीमें एक परम तेजस्वी पुरुष बैठा हुआ आ रहा है। उसके चारों ओर बहुत-से आदमियोंकी भीड़ चल रही है। बस, उसे देखते ही महाप्रभु समझ गये कि हो न हो, ये ही राजा रामानन्द राय हैं। जब उन्होंने देखा वह ऐश्वर्यवान् महापुरुष पालकीपर न चढ़कर मेरी ही ओर आ रहा है, तब तो उनके हृदय-सागरमें प्रेमकी हिलोरें मारने लगीं, उन्हें निश्चय हो गया कि राय रामानन्द ये ही हैं। उनका हृदय राय महाशयको आलिंगन-दान देनेके लिये तड़फने लगा। उनकी बार-बार इच्छा होती थी कि जल्दीसे दौड़कर इस महापुरुषको गलेसे लगा लूँ, किन्तु कई कारणोंसे उन्होंने अपने इस भावको संवरण किया। इतनेमें ही उस समृद्धिशाली पुरुषने भूमिष्ठ होकर महाप्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया। उस पुरुषको प्रणाम करते देखकर प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहसे एक अपरिचित पुरुषकी भाँति पूछा—'क्या आपका ही नाम राजा रामानन्द राय है?'

दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधे हुए अत्यन्त ही विनीतभावसे राय महाशयने उत्तर दिया—'भगवन्! इस दीन-हीन, भक्ति-विहीन शूद्राधम-को ही रामानन्द कहते हैं?'

इतना सुनते ही प्रभुने उठकर रामानन्द रायका आलिंगन किया और बड़े ही स्नेहके साथ कहने लगे—'राय महाशय! मुझे सार्वभौम भट्टाचार्यने आपका परिचय दिया था, उन्हींकी आज्ञा शिरोधार्य करके, केवल आपके ही दर्शनोंकी इच्छासे मैं विद्यानगरमें आया हूँ। मैं सोच रहा था कि आपसे भेंट किस प्रकार हो सकेगी, सो कृपा-सागर

प्रभुका अनुग्रह तो देखिये, अकस्मात् ही आपके दर्शन हो गये। आज आपके दर्शनोंसे मैं कृतार्थ हो गया। मेरी सम्पूर्ण यात्रा सफल हो गयी। मेरा संन्यास लेना सार्थक हो गया, जो आप-जैसे परम भागवत भक्तके मुझे स्वतः ही दर्शन हो गये।'

हाथ जोड़े हुए दीनतापूर्वक रामानन्दजीने कहा—'भगवन्! मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आज मेरे अनन्त जन्मोंका पुण्योदय हुआ है, जो साक्षात् नारायणस्वरूप आप संन्यासीका वेष धारण करके मुझे पावन बनानेके लिये यहाँ पधारे हैं। भट्टाचार्य सार्वभौमकी मेरे ऊपर सदासे अहैतुकी कृपा रही है; वे पुत्रकी तरह, शिष्यकी तरह, सेवक और सम्बन्धीकी तरह सदा मेरे ऊपर अनुग्रह बनाये रखते हैं। प्रतीत होता है, उनके ऊपर आपकी असीम कृपा है, तभी तो उनके आग्रहको स्वीकार करके आपने मुझे अपने दर्शनोंसे कृतार्थ किया। वे एकान्तमें भी मेरे कल्याणकी ही बातें सोचा करते हैं, उसीके फल-स्वरूप आपके अपूर्व दर्शनोंका सौभाग्य मुझ-जैसे अधमको भी हो सका। मेरा जन्म छोटी जातिमें हुआ है, मैं दिन-रात्रि लोकनिन्दित राज-काजमें लगा रहता हूँ, विषयोंके सेवनमें ही मेरा समय व्यतीत होता है, ऐसे विषयी और परमार्थ-पथसे विमुख अधमको भी आपने आलिंगन प्रदान किया है, यह आपकी दीनवत्सलता ही है, इसमें मेरा अपना कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है। मुझसे बढ़कर भाग्यवान् आज संसारमें कौन होगा, अब मैं अपने भाग्यकी क्या प्रशंसा करूँ। प्रभुने इस अधमकी इतनी स्मृति रखी, इसे मैं किन पुण्योंका फल समझूँ।'

महाप्रभुने कहा—'राय महाशय! मैं आपके मुखसे श्रीकृष्ण-कथा सुननेके निमित्त ही यहाँ आया हूँ, कृपा करके मुझे श्रीकृष्ण-कथा सुनाकर कृतार्थ कीजिये।'

रामानन्दजीने कहा—'भगवन् ! संसारी कीचड़में फँसा हुआ मैं मायाबद्ध जीव भला श्रीकृष्ण-कथाका आपके सम्मुख कथन ही क्या कर सकता हूँ ? आप तो साक्षात् श्रीहरिके स्वरूप हैं।'

प्रभुने कहा—'संन्यासी समझकर आप मेरी प्रवञ्चना मत करें। सार्वभौम महाशयने मेरे शुष्क हृदयको सरस बनानेके निमित्त ही यहाँ भेजा है। आप मुझे भक्तितत्त्व बताकर मेरे मलिन मनको विशुद्ध बनाइये।'

महाप्रभु और रामानन्दके बीचमें इस प्रकारकी बातें हो ही रहीं थीं कि उसी समय एक वैदिक ब्राह्मणने आकर प्रभुको भोजनोंके लिये निमन्त्रित किया। राय महाशयने भी समझा कि यहाँ इतनी भीड़-भाड़में इन महापुरुषसे आन्तरिक बातें करना ठीक नहीं है। अतः 'फिर आकर दर्शन करूँगा' ऐसा कहकर रामानन्दजीने प्रभुसे अपने स्थानमें जानेकी आज्ञा माँगी। प्रभुने अत्यन्त ही स्नेहसे कहा—'भूलियेगा नहीं। अवश्य पधारियेगा। आपसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। आपके मुखसे श्रीकृष्ण-कथा सुननेकी बड़ी उत्कट इच्छा हो रही है। क्यों आवेंगे न ?'

रामानन्दजीने सिर नीचा करके धीरेसे कहा—'अवश्य आऊँगा, शीघ्र ही श्रीचरणोंके दर्शन करके अपनेको कृतार्थ बनाऊँगा। प्रभो ! जब आपने इस अधमपर इतना अपार अनुग्रह किया है, तब कुछ कालतक तो यहाँ निवास करके मुझे सङ्गति-सुख दीजिये ही। मैं इतना अधिक पापी हूँ कि आपके केवल दर्शनोंसे ही मेरा उद्धार न हो सकेगा।' इतना कहकर राय महाशयने प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया। और वे अपने सेवकोंके सहित राजधानीकी ओर चले गये। इधर महाप्रभु भी उस ब्राह्मणके साथ उसके घर भिक्षा करनेके लिये गये।

राय रामानन्दद्वारा साध्यतत्त्वप्रकाश

उदयन्नेव सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम्।
विभावयन् समृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रहम्॥*
(सु० र० भां० ९२। १५)

सन्ध्याका सुहावना समय है, सूर्यदेव अपनी समस्त रश्मियोंके सहित अस्ताचलकी लाल गुहामें घुस गये हैं। भगवान् अंशुमालीका अनुसरण करते हुए पक्षिवृन्द भी अपने-अपने कोटरोंमें घुसकर चुपचाप शयन कर रहे हैं। मधुर रतिके उपासक अपनी प्रिय वस्तुके मिलनके लिये उत्कण्ठित होकर भगवती निशादेवीके साथ आराधनामें लगे हुए हैं। संसारी लोग सो रहे हैं, विषयी लोग विषय-चिन्तनमें निमग्न हैं और संयमी जागरण करके उस अखण्ड ज्योतिका ध्यान कर रहे हैं, महाप्रभु भी एकान्तमें बैठे हुए राय महाशयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

प्रेममें कितना अधिक आकर्षण है, वह प्रेमपात्रके दूर रहनेपर भी उसे समीपमें ले आता है, बाहर रहनेपर भी भीतर खींच लाता है और बीचमें आये हुए अन्तरायोंको तोड़-फोड़ करके रास्तेको साफ भी कर देता है। राय महाशय शरीरसे तो चले आये थे, किन्तु उनका मन प्रभुके पादपद्मोंमें ही फँसा रह गया। वे शरीरसे यन्त्रकी भाँति बे-मन राजकाज करते रहे। सायंकाल होते ही उनका शरीर अपने मनकी खोजमें अपने-आप ही उधरकी ओर चलने लगा। वे राज-पाट, पद-प्रतिष्ठा तथा मान-सम्मान किसीकी भी परवा न करके एक साधारण सेवकको साथ लेकर

---

* अपने मित्रजनोंपर अनुग्रह करना ही समृद्धिका फल है—इस भावको व्यक्त करते हुए भगवान् भुवनभास्कर उदय होते ही अपनी श्रीको कमलके लिये समर्पित कर देते हैं।

दीनभावसे प्रभुके निवासस्थानकी ओर चले। दूरसे ही देखकर उन्होंने प्रभुके युगल चरणोंमें प्रणाम किया, प्रभुने भी उन्हें उठाकर गलेसे लगा लिया। इसके अनन्तर थोड़ी देरतक दोनों ही मौन बने रहे। कुछ कालके पश्चात् प्रभुने कहा—'राय महाशय! मैं आपके मुखसे कुछ श्रीकृष्ण-कथा सुनना चाहता हूँ। आप मुझे बताइये, कि इस संसारमें मनुष्यका मुख्य कर्तव्य क्या है? आप ज्ञानी हैं, भगवद्भक्त हैं, इसलिये मुझे साध्य-साधनका तत्त्व समझाइये?'

रामानन्दजीने विनीतभावसे कहा—'आप मेरेद्वारा अपने मनोगत भावोंको प्रकट कराना चाहते हैं। अच्छी बात है, जो मेरे अन्तःकरणमें प्रेरणा हो रही है, उसे मैं आपकी ही कृपासे आपके सामने प्रकट करता हूँ। पहले क्या कहूँ, सो बताइये?'

प्रभुने कहा—'मनुष्यका जो कर्तव्य है, उसका कथन करिये।'

राय महाशयने कहा—प्रभो! मैं समझता हूँ—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(गीता १८। ४५)

अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुकूल कर्म करते रहनेसे मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो सकते हैं अतः जो जिस वर्णमें हो वह उसीके कर्मोंको करता हुआ उन्हींके द्वारा विष्णुभगवान्‌की आराधना कर सकता है। वर्णाश्रमधर्मको छोड़कर भगवान्‌के प्रसन्न करनेका और तो मुझे कोई सरल, सुगम और सुकर उपाय सूझता नहीं।* शास्त्रोंमें भी

---

* **वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।**
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥

(वि० पु०)

स्थान-स्थानपर वर्णाश्रमधर्मपर ही अत्यधिक जोर दिया गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो स्थान-स्थानपर जोरोंके साथ वर्णाश्रमधर्मके अनुसार कर्म करनेके ही लिये आग्रह किया गया है और उसीके द्वारा सिद्धि मानी गयी है। (गीता १८। ४६)

महाप्रभु राय महाशयके मुखसे वर्णाश्रमधर्मकी बात सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—'राय महाशय! यह आपने बहुत सुन्दर बात कही। सचमुच संसारमें सभी मनुष्योंके लिये वर्णाश्रमधर्म-का पालन करना अत्यन्त ही श्रेयस्कर है। इसीलिये सभी शास्त्र जोरोंसे चिल्ला-चिल्लाकर वर्णाश्रमधर्मकी दुहाई दे रहे हैं। जीव पाप-पुण्य दोनोंके मिश्रणसे मनुष्य-शरीर पाता है, इसलिये जिनकी वासनाएँ विषयभोगोंमें फँसी हुई हैं उनके निमित्त धर्म, अर्थ और कामरूपी त्रिपुरुषार्थयुक्त धर्मका विधान है। यदि मनुष्य स्वेच्छासे विषय-भोगोंमें प्रवृत्त हो जाय तो पतित हो जायगा, इसीलिये धर्मकी आड़की आवश्यकता है। धर्म-पूर्वक बर्ताव करनेसे मनुष्यको स्वर्गसुखकी प्राप्ति होती है। किन्तु स्वर्ग-सुख अस्थायी होनेसे पुण्य क्षीण होनेपर फिर उसे गिरना पड़ता है, इसलिये कोई ऐसा उपाय बताइये कि कभी गिरना न पड़े।'

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर रामानन्दजीने कहा—'प्रभो! इसका तो यही उपाय है कि कर्मोंमें आसक्ति न रखी जाय। निष्कामभावसे कर्म किये जायँ। सकाम कर्म करनेसे तो वे फलको देनेवाले होते हैं, किन्तु भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करनेसे वे किसी प्रकारके भी फलको उत्पन्न नहीं करते।'

महाप्रभुने कहा—'यह आपने बड़ी सुन्दर बात बतायी! सचमुच यदि निष्काम भावसे कर्म किये जायँ तो वे त्रिलोकीके सुखसे ऊँचेकी ओर ले जाते हैं, किन्तु उनके द्वारा तो आत्मशुद्धि ही होती है, वे मुक्ति-

में प्रधान हेतु न होकर गौण हेतु हैं, उनका फल ज्ञान न होकर आत्मशुद्धि है।'* इससे भी बढ़कर कुछ और बताइये ?

रामानन्दजीने कहा—'प्रभो ! जब आप निष्काम कर्मको भी श्रेष्ठ नहीं समझते, तो सभी प्रकारके कर्मोंका स्वरूपतः परित्याग करके निरन्तर श्रीभगवान्‌का भजन ही करते रहना चाहिये। सचमुच कर्म कैसे भी किये जायँ उनसे त्रितापोंकी निवृत्ति नहीं होती, इसलिये तापोंसे सन्तप्त प्राणियोंके लिये सर्व धर्मोंका परित्याग करके प्रभुके पादपद्मोंकी शरण जाना ही मैं मनुष्यका मुख्य कर्तव्य समझता हूँ। भगवान्‌ने भी गीतामें अर्जुनको यही उपदेश दिया है कि 'हे अर्जुन ! तू सब धर्मोंको परित्याग करके मेरी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू सोच मत कर।"†

प्रभुने हँसते हुए कहा—'राय महाशय ! मालूम पड़ता है, आपसे कोई भी शास्त्र छूटा नहीं है। आपने शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन किया है। यह शरणापत्ति-धर्म जो आपने बताया है, सर्वश्रेष्ठ धर्म है, किन्तु यह तो संसारी तापोंसे तपे हुए साधकोंके लिये है, जो तापोंका अत्यन्ताभाव ही करनेके इच्छुक हैं। जो साधक इससे भी उच्च कोटिका है और उसे संसारी तापोंका भान ही नहीं होता, उसके लिये कोई और उपाय बताइये।'

तब तो रामानन्दजी कुछ सोचने लगे और थोड़ी देरके पश्चात् कहने लगे—'प्रभो ! मैं समझता हूँ समभावसे अवस्थित रहकर और

---

* योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।
(गीता ५। ११)

† सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

सत्-असत्का विचार करते हुए भगवान्की निरन्तर भक्ति करते रहना ही मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है।'

प्रभुने कहा—'यह तो बहुत ही सुन्दर है, किन्तु जिसे असली आनन्दकी इच्छा है, उससे दो चीजोंका विचार कैसे हो सकता है? द्वैधीभाव ही तो भयका कारण है। सत्-असत्का विचार बहुत उत्तम है, किन्तु इसमें मुझे सरसता नहीं दीखती। कोई सरस-सा उपाय बताइये।'

तब भक्ताग्रगण्य रामानन्दजीने गर्जकर कहा—'प्रभो! भगवान्की विशुद्ध भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ और मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है।' जैसा कि ब्रह्माजीने श्रीमद्भागवतमें भगवान्की स्तुति करते हुए कहा है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥

(१०।१४।३)

अर्थात् 'हे अजित! जो मनुष्य ज्ञानमें कुछ भी प्रयत्न न करके केवल साधु-सन्तोंके स्थानपर अवस्थित रहकर उनके मुखसे आपके गुणानुवादोंको ही श्रवण करते रहते हैं और मन, वचन तथा कर्मसे आपको नमस्कार करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं वे ही त्रिलोकीमें आपको प्राप्त हो सकते हैं।'

रामानन्दजीके मुखसे इस श्लोकको सुनकर प्रभु अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'सचमुच भट्टाचार्य सार्वभौमने आपके शास्त्रज्ञानकी मुझसे जैसी प्रशंसा की थी, यहाँ आकर मैंने आपको वैसा ही पाया। मनुष्यका परम पुरुषार्थ और सर्वश्रेष्ठ धर्म

भगवान् मधुसूदनकी अहैतुकी भक्ति करना ही है। इसलिये यह तो मैं स्वीकार करता हूँ; किन्तु भक्ति किस प्रकारसे की जाय, यह और बताइये ?'

रामानन्दजीने कहा—'प्रभो ! मैं समझता हूँ, प्रेमपूर्वक भक्ति करनेसे ही इष्टसिद्धि हो सकती है। भगवान् प्रेममय हैं, प्रेम ही उनका स्वरूप है, वे रसराज हैं, इसलिये जैसे भी हो सके उस रसार्णवमें घुसकर खूब गोते लगाना चाहिये, क्योंकि—

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः
क्रियतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यकेवलं
जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते ॥

(रामानन्द राय)

अर्थात् मनुष्यको श्रीकृष्ण-भक्ति-रससे भावित-मति होकर जैसे भी प्राप्त हो सके वैसे ही प्राप्त करनी चाहिये। उसे प्राप्त करनेका मूल्य क्या है ? उसके प्रति लोलुपता, लोभी भाव, सदा हृदयमें उसीकी इच्छा बनी रहना, उसे मनुष्य कोटि जन्मके सुकृतसे भी प्राप्त नहीं कर सकता।'

महाप्रभुने कहा—'धन्य है, सच्ची बात तो यह है कि 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (तैत्ति० उ०) अर्थात् वे भगवान् स्वयं रस-स्वरूप हैं। उस रसको प्राप्त करके जीव आनन्दमय हो जाता है। किन्तु एक बात अभी शेष रह गयी। उस रसका आस्वादन किसी-न-किसी प्रकारके सम्बन्धसे ही किया जा सकता है, इसलिये भगवान्के साथ किस सम्बन्धसे उस रसका आस्वादन किया जाय, इसे जाननेकी मेरी बड़ी इच्छा है, कृपा करके इसे और बताइये ?'

यह सुनकर राय महाशय कहने लगे—प्रभो ! मैं समझता हूँ, भगवान्के प्रति दास्य-भाव रखना ही सर्वश्रेष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि बिना

दास्य-भाव हुए प्रेम हो ही नहीं सकता। शान्त, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन सभी रसोंमें छिपा हुआ दास्य-भाव अवश्य रहता है। वह अत्यन्त पीड़ाके समयमें व्यक्त भी हो जाता है। नन्दजीका भगवान्‌के प्रति वात्सल्य-स्नेह था किन्तु मथुरासे जाकर जब भगवान्‌का सन्देश उद्धवजीने नन्दबाबा आदि गोपोंको सुनाया और कुछ दिन व्रजमें रहकर जब वे लौटने लगे तब अत्यन्त ही कातर-भावसे दुखी होकर नन्दबाबाने कहा था—'मनसो वृत्तयो न स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः' अर्थात् हे कृष्ण! हमारे मनकी वृत्ति सदा श्रीकृष्णके चरणोंका आश्रय करनेवाली हो। पुत्रकी तरह स्नेह करनेवाले पिताका दास्य-भाव घोर दुःखके समय अपने-आप ही उमड़ पड़ा। इसी प्रकार जब ब्रह्माजी गौओंके बछड़ोंको चुरा ले गये और भगवान्‌ने वैसे ही बछड़े बनाकर व्रजमें रख दिये और सालभरके पश्चात् जब उन बछड़ोंको ब्रह्माजीने छोड़ा तब बलरामजीको पता चला और छोटे भाईके प्रति विस्मयके कारण उनका दास्य-भाव व्यक्त हो उठा। वे भगवान्‌की महिमाको स्मरण करके कहने लगे—

प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी।

(श्रीमद्भा० १०। १३। ३७)

अर्थात् यह सब मेरे प्रभुकी लीला है।

राधिकाजीका भगवान्‌के प्रति कान्तभाव था। वे स्वाधीनपतिका थीं, किन्तु जब रासमें सहसा भगवान् अन्तर्धान हो गये तो उनका दास्य-भाव प्रस्फुटित हो उठा और वे रोती हुई कहने लगीं—'दास्यास्ते कृपणाया मे सखे! दर्शय सन्निधिम्' अर्थात् 'हे सखे! तुम हमें अपने दर्शन दो। हम तुम्हारी दासी हैं।' भला जो दिन-रात्रि प्यारेसे मान ही करती रहें, उनके मुख-से ऐसे दास्य-भावके वचन शोभा देते हैं? किन्तु करें क्या, दास्य-भाव तो स्नेहका स्वामी है। इसलिये प्रभो! दास्य-भावको मैं सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।

प्रभुने हँसकर कहा—'हाँ, ठीक है, होगा, मैं इसे अस्वीकार नहीं करता, किन्तु फिर भी दास्य-भावमें कुछ संकोच अवश्य रहता है। सेवकको अपने स्वामीके ऐश्वर्य, बड़प्पन और मान-सम्मानका सदा ध्यान रहता है। इसलिये निर्भय होकर आनन्द-रसका पान करनेमें कुछ संकोच होता है, ऐसा कोई सम्बन्ध बताइये जिसमें संकोचका लेश भी न हो।'

तब तो अत्यन्त ही उल्लासके साथ रामानन्द रायने कहा—'तब तो प्रभो ! मैं सख्य-सम्बन्धको सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। सख्य-प्रेममें ऐश्वर्य, धन, मान, सम्मान किसीकी भी परवा नहीं रहती। ग्वाल-बाल भगवान्‌से नाराज होते थे, उनसे गौओंको घिरवाकर लाते थे। उनके कन्धेपर चढ़कर चड्डी लेते थे। उन्हें अखिल विश्वके एकमात्र आधार भगवान् वासुदेवसे किसी प्रकारका संकोच नहीं था। यथार्थ रसास्वाद तो सख्य-प्रेममें ही होता है।'

महाप्रभुने कहा—'सख्य-प्रेमका क्या कहना है ? सख्य-प्रेम ही तो यथार्थमें प्रेम है। किन्तु सख्य-प्रेम सबको प्राप्त नहीं होता। उसमें दूसरेके प्रेमकी अपेक्षा रहती है, यदि अज्ञानवश भ्रम हो जाय कि हमारा प्रेमी हमसे उतना प्रेम नहीं करता, जितना हम उससे करते हैं तब स्वाभाविक ही हमारे प्रेममें कुछ न्यूनता आ जायगी। इसलिये प्रेमका ऐसा कोई सम्बन्ध बतलाइये जो निरपेक्ष और हर हालतमें एकरस बना रहे।'

इसपर जल्दीसे रामानन्दजीने कहा—'प्रभो ! यह बात तो वात्सल्य-प्रेममें नहीं है। 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' सन्तान चाहे प्रेम करे या न करे, माता-पिताका प्रेम उसपर वैसा ही बना रहता है। इसीलिये तो भगवान् व्यासदेवजीने कहा है—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ॥
(श्रीमद्भा० १०।९।२०)

अर्थात् 'प्रेमदाता श्रीहरिकी जैसी कृपा यशोदाजीपर हुई थी, वैसी कृपा ब्रह्मा, शिवकी तो बात ही क्या, भगवान्‌के सदा हृदयमें निवास करनेवाली लक्ष्मीपर भी नहीं हुई ।' इसलिये वात्सल्य-भाव ही सर्वोत्तम ठहरता है ।

प्रभुने अत्यन्त ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'राय महाशय, आप तो रसराज हैं, आपसे कोई बात अविदित नहीं है, वात्सल्य-रसकी तो भगवान् व्यासदेवने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। फिर भी वात्सल्य-रसमें मुझे पूर्ण निर्भरता प्रतीत नहीं होती। उसमें छोटे और बड़ेपनका कुछ अंशोंमें तो भाव रहता ही है। इससे आगे भी आप कोई ऐसा भाव बता सकें जिसमें इन विचारोंका अत्यन्ताभाव हो, तो उसे मुझसे कहिये ?'

राय महाशयने कहा—'प्रभो ! इससे आगे और क्या कहूँ, वह तो कहनेका विषय नहीं। सचमुचमें एक ही भाव अवशेष है और उसे ही अन्तिम कहा जा सकता है—वह है 'कान्ताभाव' बस, इसीमें जाकर सभी रसोंकी, सभी भावोंकी और सभी सम्बन्धोंकी परिसमाप्ति हो जाती है ।'

राय रामानन्दके मुखसे इस बातको सुनकर प्रभुने उनका गाढ़ालिंगन किया और प्रेममें विह्वल होकर गद्‌गद कण्ठसे कहने लगे—'राय महाशय, आप धन्य हैं, आपका कुल धन्य है, आपकी ही जननी वास्तवमें जननी कही जा सकती हैं, आपका शास्त्रीय ज्ञान सार्थक है। इतने बड़े रहस्य-ज्ञानको मुझे बताकर आपने मेरा उद्धार कर दिया, किन्तु इससे भी ऊँचा कोई भाव जानते हों तो कहिये !'

महाप्रभुके इससे भी आगे पूछनेपर राय चकित होकर प्रभुकी ओर देखने लगे और बहुत देरके अनन्तर धीरे-धीरे कहने लगे—'प्रभो! इससे आगे मैं और कुछ नहीं जानता।'

प्रभुने मधुर स्वरमें कहा—'राय महाशय! आपसे कोई बात छिपी नहीं है। आप मुझे शुष्कहृदय, गृहत्यागी वनवासी संन्यासी समझकर भुलावा देना चाहते हैं। अन्तिम साध्यतत्त्वका अनधिकारी समझकर आप मेरी उपेक्षा कर रहे हैं। आप तो सब कुछ जानते हैं। कान्तास्नेहसे भी बढ़कर जो कुछ हो उसे कृपया बता दीजिये।'

रायने प्रभुके पादपद्मोंको पकड़े हुए कहा—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥*

(श्रीमद्भा० १०। ३०। २८)

'बस, प्रभो! इससे आगे स्पष्ट नहीं कह सकता। क्योंकि यह विषय अत्यन्त ही गोप्य है। भगवान् व्यासदेवने भी इसे परम गुह्य समझकर अप्रकट ही रखा है। केवल संकेतसे बहुत ही थोड़ा-सा लक्ष्य किया है—बस, इससे आगे मैं और कुछ न कह सकूँगा।'

इतना सुनते ही प्रभु एकदम उठकर खड़े हो गये और राय महाशय-

---

* रासमें सहसा भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर गोपिकाएँ श्रीमती राधिकाजीके भाग्यकी सराहना करती हुई कह रही हैं—

निश्चय ही इन्हीं (श्रीराधिकाजी) ने भगवान् श्रीहरिका आराधन किया है, क्योंकि जिनके प्रेमके पीछे भगवान् हम सबको परित्याग करके उनके संग एकान्तमें चले गये।

का गाढ़ आलिंगन करते हुए कहा—'धन्य है, धन्य है। आपने तो प्रेमकी पराकाष्ठा ही कर डाली। आपने तो साध्यतत्त्वको परिसीमापर पहुँचा दिया। भला, श्रीराधिकाजीके प्रेमकी प्रशंसा कर ही कौन सकता है? उनका ही प्रेम तो सर्वश्रेष्ठ है।

अब आप मुझे उन दोनोंके विलासकी पूर्ण महिमा सुनाइये।'

इतना सुनते ही राय महाशय अपने कोकिलकूजित कमनीय कण्ठसे इस श्लोकको बड़ी ही लयके साथ पढ़ने लगे।

वाचासूचितशर्वरीरतिकलाप्रागल्भिया राधिकां
व्रीडाकुञ्चितलोचनां विरचयन्नग्रे सखीमानसौ।
तद्वक्षोरुहचित्रकेलिमकरीपाण्डित्यपारङ्गतः
कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः॥

बस, यही रास-विलासकी पराकाष्ठा है।

प्रभु इसको सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए। प्रभुने राय महाशयका जोरसे आलिंगन किया और दोनों प्रेममें प्रमत्त होकर पृथिवीपर गिर पड़े।
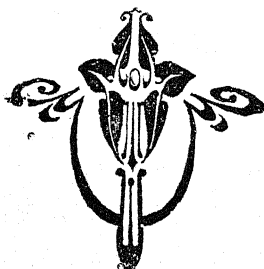
राय रामानन्दसे साधन-सम्बन्धी प्रश्न

सञ्चार्य रामाभिधभक्तमेघे
स्वभक्तिसिद्धान्तचयामृतानि ।
गौराब्धिरेतैरमुना वितीर्णै-
स्तज्ज्ञत्वरत्नालयतां प्रयाति ॥*

(चैत० चरिता० म० ली० ८ । १)

दोनों ही पागल हों, दोनोंकी दृष्टिमें संसारी पदार्थ निस्सार हों, दोनों ही किसी एक ही मार्गके पथिक हों और फिर उन दोनोंका एकान्तमें समागम हो, तो फिर उस आनन्दका तो कहना ही क्या ? उसे ही अनिर्वचनीय आनन्द कहते हैं । उस आनन्द-रसका आस्वादन करना सब किसीके भाग्यमें नहीं बदा है, जिसके ऊपर उनकी कृपा हो, वही इस आनन्दका अधिकारी हो सकता है ।

राय रामानन्दजीके मुखसे परम साध्यतत्त्वकी बात सुनकर प्रभु कहने लगे—'राय महाशय, आपकी असीम अनुकम्पासे मैंने परम साध्यतत्त्व जान लिया । अब यह बताइये कि उसकी उपलब्धि कैसे हो ? बिना साधन जाने हुए साध्यका ज्ञान व्यर्थ है, इसलिये जिस प्रकार इस महाभावकी प्राप्ति हो सके कृपा करके उस उपायको और बताइये ?'

राय महाशयने अत्यन्त ही अधीरताके साथ कहा—'प्रभो ! आप सर्वसमर्थ हैं । मैं संसारी पङ्कमें फँसा हुआ विषयी जीव भला साध्य-

---

* समुद्र-समान गौर महाप्रभु अपने भक्तिसिद्धान्तरूप जलराशिको भक्तवर रामानन्दरूप मेघमें सञ्चारित करके पुनः उनसे उस सिद्धान्त-सलिलको विभाजित कराकर स्वयं ही उसके ज्ञानरत्नका आकर बन उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं अर्थात् स्वयं ही तो रामानन्दके हृदयमें स्फुरणा कराते हैं और स्वयं ही उसका फिर रसास्वादन करते हैं ।

साधन-तत्त्वको समझ ही क्या सकता हूँ ? किन्तु आप अपने भावोंको मेरे ही द्वारा प्रकट कराना चाहते हैं, तो आपकी इच्छाके विरुद्ध कर ही कौन सकता है। इसलिये आप मेरे हृदयमें जो प्रेरणा करते जायँगे मैं वही कहता जाऊँगा।'

प्रभो ! श्रीराधिकाजीका प्रेम सामान्य नहीं है। संसारी सुखोंमें आनन्दका अनुभव करनेवाले पुरुष तो इसके श्रवणके भी अधिकारी नहीं हैं, इसीलिये इसे परम गोप्य कहा गया है। इसे तो व्रजकी गोपिकाएँ ही जान सकती हैं। गोपिकाओंके अतिरिक्त किसी दूसरेका इस रसमें प्रवेश नहीं। गोपिकाएँ इन्द्रिय-सुखकी अभिलाषिणी नहीं, उन्हें तो श्रीराधिका-के साथ कुञ्जोंमें केलि करते हुए श्रीकृष्णकी वह कमनीय प्रेमलीला ही अत्यन्त प्रिय है। अपने लिये वे कुछ नहीं चाहतीं, उनकी सम्पूर्ण इच्छाएँ, सम्पूर्ण भावनाएँ, सम्पूर्ण चेष्टाएँ और मन, वाणी तथा इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाएँ उन प्यारी-प्यारेके विहारके ही निमित्त होती हैं। जो उस अनिर्वचनीय रसका आस्वादन करना चाहते हैं, उन्हें अपनी सम्पूर्ण भावनाएँ इसी प्रकार त्यागमय और निःस्वार्थ बना लेनी चाहिये। गोपीभावको धारण किये बिना कोई उस आनन्दामृतका पान ही नहीं कर सकता। गोपियोंके प्रेममें सांसारिकता नहीं है। वह विशुद्ध है, निर्मल है, वासनारहित और इच्छारहित है। गोपियोंके विशुद्ध प्रेमका ही नाम 'काम' है। इस संसारी 'काम' को काम नहीं कहते। उस दिव्य प्रेमभावका ही नाम यथार्थमें काम है जिसकी इच्छा उद्धव आदि भक्त-गण भी निरन्तररूपसे किया करते हैं।*

---

* प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥
(गौतमीतन्त्र)

कोई चाहे कि जपसे, तपसे, वेदाभ्यास अथवा यज्ञ-यागद्वारा हम उस रस-सागरमें प्रविष्ट होनेके अधिकारी बन जायँगे तो यह उनकी भूल है। उस अमृतरूपी महारससागरके समीप पहुँचनेके लिये तो भक्ति ही एकमात्र साधन है, जैसा कि भगवान् व्यासदेवने कहा है—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २१)

अर्थात् 'नन्दनन्दन भगवान् वासुदेव जिस प्रकार भक्तको भक्तिसे सहजमें प्राप्त हो सकते हैं, उस प्रकार देहाभिमानी कर्मकाण्डी तथा ज्ञानाभिमानी पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकते।' इसीलिये तो गोपियोंके प्रेम-को सर्वोत्तम कहा है—

यदपि जसोदा नन्द अरु ग्वालबाल सब धन्य।
पै या रसकूँ चाखिके गोपी भईं अनन्य॥

गोपियोंके प्रेमकी बराबरी कौन कर सकता है। रास-विलासके समय जिनके भुजदण्डोंका आश्रय ग्रहण करके जो गोपिकाएँ धन्य बन चुकी हैं, उनकी पदधूलिके बिना कोई प्रेमका अधिकारी बन ही नहीं सकता।'

प्रभुने राय महाशयकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसी प्रकार रातभर दोनोंमें बातें होती रहीं। रोज प्रातःकाल रात्रि समझकर चकवा-चकवीकी भाँति दोनों ही पृथक् हो जाते थे और रात्रिको दिन मानकर दोनों ही फिर उस प्रेम-सरोवरके समीप एकत्रित हो जाते थे। इस प्रकार कई दिनों-तक सत्संग और साध्य-साधन-निर्णय होता रहा। एक दिन प्रभुने राय महाशयसे कुछ अत्यन्त ही रहस्यमय गूढ़ प्रश्न पूछे। जिनका उत्तर रायने भगवत्-प्रेरणासे जैसा मनमें उठा वैसा यथातथ्य दिया। प्रभुने पूछा—'राय

महाशय ! मुझे सम्पूर्ण विद्याओंमें श्रेष्ठ पराविद्या बताइये, जिससे बढ़कर दूसरी कोई विद्या ही न हो ?'

रायने कुछ लज्जित-भावसे कहा—'प्रभो ! मैं क्या बताऊँ, श्रीकृष्ण-भक्तिके अतिरिक्त और सर्वोत्तम विद्या हो ही कौन सकती है ? उसीके लिये परिश्रम करना सार्थक है, शेष सभी व्यर्थ है।'

'श्रीकृष्णेति रसायनं रस परं शून्यैः किमन्यैः श्रमैः'

प्रभुने पूछा—'सर्वश्रेष्ठ कीर्ति कौन-सी कही जा सकती है ?'

रायने कहा—'प्रभो ! श्रीकृष्णके सम्बन्धसे लोगोंमें परिचय होना यही सर्वोत्तम कीर्ति है।'

प्रभुने पूछा—'अच्छा, ऐसी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति कौन-सी है, जिसके सामने सभी सम्पत्तियाँ तुच्छ समझी जा सकें ?'

रायने उत्तर दिया—श्रीनिकुञ्जविहारी राधावल्लभकी अविरल भक्ति, जिसके हृदयमें विद्यमान है वही सर्वश्रेष्ठ सम्पत्तिशाली पुरुष है। उसकी समताका पुरुष त्रिभुवनमें कोई नहीं हो सकता।'

प्रभुने पूछा—'मुझे यह बताइये कि सबसे बड़ा दुःख कौन-सा है ?'

रुँधे हुए कण्ठसे अश्रु विमोचन करते हुए राय महाशयने कहा—'प्रभो ! जिस क्षण श्रीहरिका हृदयमें स्मरण न रहे, जिस समय विषय-भोगोंकी बातें सूझने लगें, वही सबसे बड़ा दुःख है।* इसके अतिरिक्त भगवत्-भक्तोंसे वियोग होना भी एक दारुण दुःख है।'

प्रभुने पूछा—'आप मुक्त जीवोंमें सर्वश्रेष्ठ किसे समझते हैं ?'

---

* सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्धजडमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिन्तयेत्॥

(महाभारत)

रायने कहा—'प्रभो ! जिसकी सम्पूर्ण चेष्टाएँ श्रीकृष्णके प्रेम-प्राप्तिके ही निमित्त हों, जो सतत श्रीकृष्णके ही मधुर नामोंका उच्चारण करता हुआ उन्हें ही पानेका प्रयत्न करता रहता है, वही सर्वश्रेष्ठ मुक्त पुरुष है ।'

प्रभुने पूछा—'आप किस गानको सर्वश्रेष्ठ गान समझते हैं ?'

रायने कहा—

'श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !'

'इन सुमधुर नामोंके गानको ही मैं सर्वश्रेष्ठ गायन समझता हूँ ।'

प्रभुने पूछा—'आप जीवोंके कल्याणके निमित्त सर्वश्रेष्ठ कार्य किसे समझते हैं ?'

रायने कहा—'प्रभो ! महत् पुरुषोंके पादपद्मोंकी पावन परागसे अपने मस्तकको अलंकृत बनाये रहना और उनके मुख-निःसृत अमृत-वचनोंका कर्णरन्ध्रोंसे निरन्तर पान करते रहना—इसे ही मैं जीवोंके कल्याणका मुख्य हेतु समझता हूँ ।'

प्रभुने पूछा—'प्राणिमात्रके लिये सर्वश्रेष्ठ स्मरणीय क्या वस्तु है ?'

रायने कहा—

'श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! हरे ! मुरारे !
हे नाथ ! नारायण ! वासुदेव !'

बस 'यही सर्वश्रेष्ठ स्मरणीय है ।'

प्रभुने पूछा—'आप ध्यानोंमें सर्वश्रेष्ठ ध्यान किसे समझते हैं ?'

रायने कहा—'श्रीवृन्दावनविहारीकी बाँकी झाँकीका ही निरन्तर ध्यान बना रहे—बस, यही सर्वश्रेष्ठ ध्यान है ।'

प्रभुने पूछा—'आप जीवोंके लिये ऐसा सर्वोत्तम निवास-स्थान कौन-सा समझते हैं, जहाँ सर्वस्वके मुखमें धूलि देकर निवास किया जाय?'

रायने कहा—'प्रभो!

'सरबसुके मुख धूरि दै सरबसु कै ब्रज-धूरि'

बस, सब कुछ छोड़कर वृन्दावन वास करना ही जीवका अन्तिम निवासस्थान है। वृन्दावनको परित्याग करके एक पैर भी कहीं अन्यत्र न जाना चाहिये'—

'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।'

—बस, राधा-मुरलीधरका ध्यान करते रहना चाहिये और वृन्दावनको न छोड़ना चाहिये—

'श्रीराधामुरलीधरौ भज सखे! वृन्दावनं मा त्यज।'

प्रभुने पूछा—'आप श्रवणोंमें सर्वश्रेष्ठ श्रवणीय क्या समझते हैं?'

रायने कहा—

'श्रीकृष्ण! गोविन्द! हरे! मुरारे!
हे नाथ! नारायण! वासुदेव!'

—'यह सम्पूर्ण श्रवणोंका सार है। जिसने इसे यथावत् रीतिसे सुन लिया फिर उसके लिये कुछ श्रवण करना शेष नहीं रह जाता।'

प्रभुने पूछा—'आप उपासनाओंमें सर्वश्रेष्ठ उपासना किसे समझते हैं?'

रायने कहा—'युगल सरकारके सिवा और उपासना की ही किसकी जा सकती है। असलमें तो वृन्दावनविहारी ही परम उपास्य हैं। शक्तिसे वे पृथक् हो ही नहीं सकते।'

प्रभुने पूछा—'आप भक्ति और मुक्तिमें किसे अधिक पसन्द करते हैं?'

रायने कहा—'प्रभो! मुक्तिके नीरस फलको तो कोई विचारप्रधान दार्शनिक पुरुष ही पसन्द करेगा। मुझे तो प्रभुके पाद-पद्मोंमें निरन्तर

लोट लगाते रहना ही सबसे अधिक पसन्द है। मैं अमृतके सागरमें जाकर अमृत बनना नहीं चाहता। मैं तो उसके समीप बैठकर उसकी मधुरिमा-के रसास्वादन करनेको ही सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।'

इस प्रकारके प्रश्नोत्तरोंमें ही वह रात शेष हो गयी और दोनों फिर एक दूसरेसे पृथक् हो गये।

राय महाशयका अनुराग प्रभुके पाद-पद्मोंमें उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता था। वे उनमें साक्षात् श्रीकृष्णके रूपका अनुभव करने लगे। उनके नेत्रोंके सामनेसे प्रभुका वह प्राकृत रूप एकदम ओझल हो गया और वे अपने इष्टदेव श्रीराधा-कृष्णके स्वरूपका दर्शन करने लगे। इसीलिये उन्होंने एक दिन प्रभुसे पूछा—'प्रभो! मैं आपके श्रीविग्रहमें अपने इष्टदेव-के दर्शन करता हूँ। मुझे ऐसा भान होने लगा है कि आप साक्षात् श्रीमन्नारायण ही हैं। लोगोंको भ्रममें डालनेके लिये आपने यह छद्म-वेष धारण कर लिया है।'

हँसते हुए प्रभुने उत्तर दिया—'राय महाशय! आपको भी मेरे शरीरमें अपने इष्टदेवके दर्शन न होंगे, तो और किसे होंगे? आपकी दृष्टिमें तो जितने संसारके दृश्य पदार्थ हैं सब-के-सब इष्टमय ही होने चाहिये। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि 'सर्वश्रेष्ठ भगवत्-भक्त सम्पूर्ण चराचर प्राणियों-में भगवान्के ही दर्शन करता है, उसकी दृष्टिमें भगवान्से पृथक् कोई वस्तु है ही नहीं।'* आप सर्वश्रेष्ठ भागवतोत्तम हैं, फिर आपको मेरे शरीरमें अपने इष्टदेवके दर्शन होते हैं, तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है?'

---

* सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४५)

प्रभुके ऐसे उत्तरको सुनकर राय कहने लगे—'प्रभो ! आप मेरी प्रवञ्चना न कीजिये। मुझे अपने यथार्थ रूपके दर्शन दीजिये। मुझे शूद्राधम समझकर अपने यथार्थ स्वरूपसे वञ्चित न कीजिये।' यह कहते-कहते राय महाशय प्रेमके आवेशमें आकर मूर्छित होकर प्रभुके पैरोंमें गिर पड़े। उसी समय उन्हें प्रभुके शरीरमें श्रीराधा और श्रीकृष्णके सम्मिलित दर्शन हुए। प्रभुके शरीरमें उस अद्भुत रूपके दर्शन करके राय महाशयने अपनेको कृतकृत्य समझा और वे अपने भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

सावधान होनेपर प्रभुने राय रामानन्दजीका दृढ़ आलिङ्गन किया और उनसे कहने लगे—'राय महाशय, मेरे ये दस दिन आपके साथ श्रीकृष्णकथा सुनते-सुनते बहुत ही आनन्दपूर्वक व्यतीत हुए। इतना अपूर्व रस पहले मुझे कभी भी प्राप्त नहीं हुआ था। आपकी कृपासे इस अत्यन्त ही दुर्लभ प्रेमरसका मैं यह किञ्चित् रसास्वादन कर सका। अब मेरी इच्छा है कि आप शीघ्र ही इस राज-काजको छोड़कर पुरी आ जाइये। वहाँ हम दोनों साथ रहकर निरन्तर इस आनन्द-रसका पान करते रहेंगे, आपकी संगतिसे मेरा भी कल्याण हो जायगा।'

हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही विनीतभावसे राय रामानन्दने कहा—'प्रभो ! यह तो सब आपके ही हाथमें है। जब इस भव-जञ्जालसे छुड़ाकर अपने चरणोंकी शरण प्रदान करेंगे, तभी चरणोंके समीप रहनेका सुयोग प्राप्त हो सकेगा। मेरे सामर्थ्यके बाहरकी बात है। आप ही अनुग्रह करके मुझे ऐसा धन्य-जीवन दान कर सकते हैं।'

प्रभुने कहा—'अच्छा, अब जाइये। दक्षिणसे लौटकर एक बार मैं आपसे फिर मिलूँगा। तभी आप मेरे साथ पुरी चलियेगा।'

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके राय रामानन्दजी अपने स्थानको चले गये और प्रभुने भी प्रातःकाल आगेकी यात्राका विचार किया।

दक्षिणके तीर्थोंका भ्रमण

भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥*

(श्रीमद्भा० १ । १३ । ९)

महापुरुषोंका तीर्थ-भ्रमण लोक-कल्याणके ही निमित्त होता है। उनके लिये स्वयं कोई कर्तव्य नहीं होता, किन्तु फिर भी लोकशिक्षणके लिये, गृहस्थियोंको पावन बनानेके लिये, भक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये, तीर्थोंको निष्पाप बनानेके लिये तथा पृथिवीको पवित्र करनेके लिये वे नाना तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए देखे गये हैं। इसीसे अबतक ये तीर्थ अपनी पावनताकी रक्षा करते हुए संसारी लोगोंके पाप-तापोंको शमन करनेमें समर्थ बने हुए हैं।

महाप्रभु प्रातःकाल गोदावरीमें स्नान करके विद्यानगरसे आगेके लिये चल दिये। वे गौतमी गङ्गा, मल्लिकार्जुन, अहोबलनृसिंह, सिद्धवट,

---

* हे प्रभो ! आप-जैसे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थस्वरूप होते हैं और अपने चित्तमें विराजमान गदाधारी श्रीकृष्णके प्रभावसे सकल तीर्थोंको भी [पातकी पुरुषोंके संसर्गके कारण लगे हुए पापोंको दूर करके] पवित्र तीर्थ कर देते हैं।

स्कन्धक्षेत्र, त्रिपठ, वृद्धकाशी, बौद्धस्थान, त्रिपती, त्रिमल्ल, पानानृसिंह, शिवकाञ्ची, विष्णुकाञ्ची, त्रिकालहस्ती, वृद्धकोल, शियालीभैरवी, कावेरीतीर, कुम्भकर्ण-कपाल आदि पुण्य-तीर्थोंमें दर्शन-स्नान आदि करते हुए और अपने दर्शनोंसे नर-नारियोंको कृतार्थ करते हुए श्रीरङ्गक्षेत्रपर्यन्त पहुँचे। रास्तेमें महाप्रभु सर्वत्र श्रीहरिनामोंका प्रचार करते जाते थे। लाखों मनुष्य प्रभुके दर्शनमात्रसे ही भगवत्-भक्त बन गये। प्रभु रास्तेमें चलते-चलते इस मन्त्रको उच्चारण करते जाते थे—

राम राघव ! राम राघव ! राम राघव ! रक्ष माम् ।
कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! कृष्ण केशव ! पाहि माम् ॥

महाप्रभुके मुखसे निःसृत इस मन्त्रको सुनते ही चारों ओरसे स्त्री-पुरुष इन्हें घेरकर खड़े हो जाते और फिर ये उनके बीचमें खड़े होकर नृत्य करने लगते। इसी प्रकार अपने संकीर्तन, नृत्य और दर्शनोंसे लोगोंको सुख पहुँचाते हुए आषाढ़ मासमें ये श्रीरङ्गक्षेत्रमें पहुँचे। वहाँ परम भाग्यवान् श्रीवेङ्कट भट्ट नामक एक वैष्णव ब्राह्मणके अनुरोधसे प्रभुने चातुर्मास व्यतीत किया। वेङ्कट भट्टके पुत्र श्रीगोपाल भट्टने महाप्रभुकी रूप-माधुरीसे विमुग्ध होकर उन्हें आत्मसमर्पण कर दिया। वेङ्कट भट्टका सम्पूर्ण परिवार श्रीकृष्ण-भक्त बन गया। सभीको महाप्रभुकी संगतिसे अत्यधिक आनन्द हुआ।

महाप्रभु सायंकालके समय जङ्गलोंमें घूमने जाया करते थे। एक दिन वे एक बगीचेमें गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा, एक ब्राह्मण आसन लगाये बड़े ही प्रेमके साथ गद्गद कण्ठसे गीताका पाठ कर रहा है। यद्यपि वह श्लोकोंका उच्चारण अशुद्ध कर रहा था किन्तु पाठ करते समय वह ध्यानमें ऐसा तन्मय था कि उसे बाह्य संसारका पता ही नहीं रहा। वह भावमें मग्न होकर श्लोकोंको बोलता था, उसका सम्पूर्ण शरीर

रोमाञ्चित हो रहा था, नेत्रोंसे जल बह रहा था। महाप्रभु बहुत देरतक खड़े-खड़े उसका पाठ सुनते रहे। जब वह पाठ करके उठा तब महाप्रभुने उससे अत्यन्त ही स्नेहके साथ पूछा—'क्यों भाई, तुम्हें इस पाठमें ऐसा क्या आनन्द मिलता है, जिसके कारण तुम्हारी ऐसी अद्भुत दशा हो जाती है। इतने ऊँचे प्रेमके भाव तो अच्छे-अच्छे भक्तोंके शरीरमें प्रकट नहीं होते, तुम अपनी प्रसन्नताका मुझसे ठीक-ठीक कारण बताओ ?'

उस पुरुषने कहा—'भगवन् ! मैं एक अपठित बुद्धिहीन ब्राह्मणवंशमें उत्पन्न हुआ निरक्षर और मूर्ख ब्राह्मणबन्धु हूँ। मुझे शुद्धाशुद्धका कुछ भी बोध नहीं है। मेरे गुरुदेवने मुझे आदेश दिया था कि तू गीताका नित्यप्रति पाठ किया कर। भगवन् ! मैं गीताका अर्थ क्या जानूँ। मैं तो पाठ करते समय इसी बातका ध्यान करता हूँ कि सफेद रंगके चार घोड़ोंसे जुता हुआ एक बहुत सुन्दर रथ खड़ा हुआ है। उसकी विशाल ध्वजापर हनुमान्‌जी विराजमान हैं, खुले हुए रथमें अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित अर्जुन कुछ शोकके भावसे धनुषको नीचे रखे हुए बैठा है। भगवान् अच्युत सारथीके स्थानपर बैठे हुए कुछ मन्द मुसुकानके साथ अर्जुनको गीताका उपदेश कर रहे हैं। बस, भगवान्‌की इसी रूप-माधुरीका पान करते-करते मैं अपने आपेको भूल जाता हूँ। भगवान्‌की वह त्रिलोकपावनी मूर्ति मेरे नेत्रोंके सामने नृत्य करने लगती है, उसीके दर्शनोंसे मैं पागल-सा बन जाता हूँ। लोग मेरे पाठको सुनकर पहले बहुत हँसते थे। बहुत-से तो मुझे बुरा-भला भी कहते थे। अब कहते हैं या नहीं—इस बातका तो मुझे पता नहीं है, किन्तु मैंने किसीकी हँसीकी कुछ परवा नहीं की। मैं इसी भावसे पाठ करता ही रहा। अब मुझे इस पाठमें इतना रस आने लगा है कि मैं एकदम संसारको भूल-सा जाता हूँ। आज ही आकर आपने मुझसे दो मीठी बातें की हैं, नहीं तो

लोग सदा मेरी हँसी ही उड़ाते रहते हैं। मालूम पड़ता है, आप साक्षात् श्रीनारायण हैं, जो मेरे पाठका फल देनेके लिये यहाँ पधारे हैं। आप चाहे कोई भी क्यों न हों, हैं तो कोई अलौकिक दिव्य पुरुष। आपके चरणकमलोंमें मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है।' इतना कहकर वह प्रभुके चरणोंमें गिर पड़ा।

प्रभुने उसे बड़े स्नेहसे उठाकर छातीसे लगाया और बड़े ही मीठे स्वरसे कहने लगे, 'विप्रवर ! तुम धन्य हो, यथार्थमें गीताका असली अर्थ तो तुमने ही समझा है। भगवान् शुद्ध अथवा अशुद्ध पाठसे प्रसन्न या असन्तुष्ट नहीं होते। वे तो भावके भूखे हैं। भावग्राही भगवान्से किसीके घटकी बात छिपी नहीं है। लाखों शुद्ध पाठ करो और भाव अशुद्ध हैं, तो उनका फल अशुद्ध ही होगा। यदि भाव शुद्ध हैं और अक्षर चाहे अशुद्ध भी उच्चारण हो जायँ तो उसका फल शुद्ध ही होगा। भावोंकी शुद्धिकी ही अत्यन्त आवश्यकता है। भाव शुद्ध होनेपर पाठ शुद्ध हो तब तो बहुत ही अच्छा है। सोनेमें सुगन्ध है और यदि पाठ शुद्ध न भी हो तो भी कोई हानि नहीं। जैसा कि कहा है—

मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे।
तयोः फलं तु तुल्यं हि भावग्राही जनार्दनः॥

अर्थात् 'मूर्ख कहता है 'विष्णाय नमः' और पण्डित कहता है 'विष्णवे नमः' भाव शुद्ध होनेसे इन दोनोंका फल समान ही होगा। कारण कि भगवान् जनार्दन भावग्राही हैं।'

महाप्रभुके मुखसे इस बातको सुनकर उस ब्राह्मणको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने उसी समय प्रभुको आत्मसमर्पण कर दिया। जबतक प्रभु श्रीरङ्गक्षेत्रमें रहे, तबतक वह महाप्रभुके साथ ही रहा।
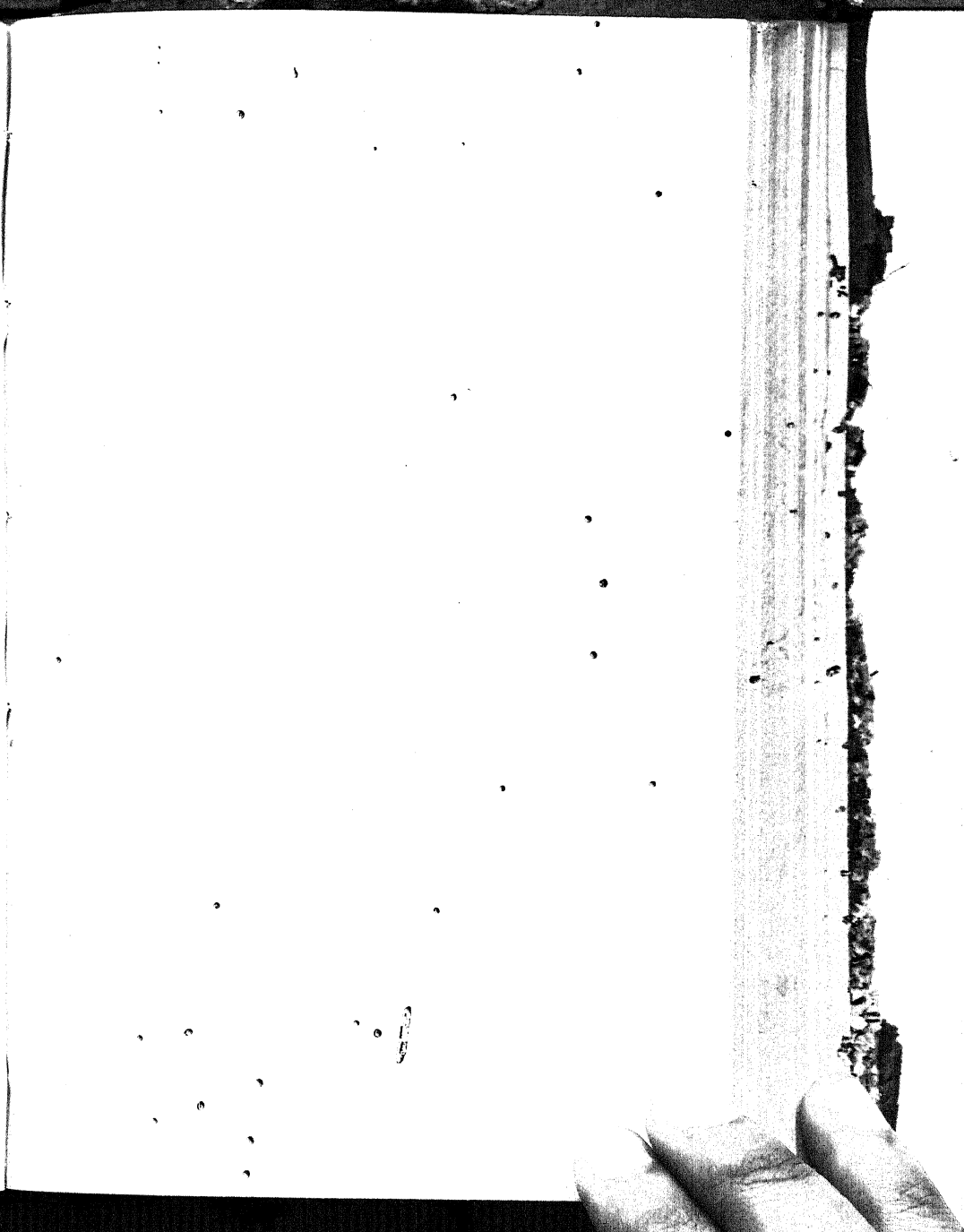
धनी तीर्थरामको प्रेमदान और वेश्याओंका उद्धार

रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारितैः
रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि।
मुग्धे स्निग्धविदग्धमुग्धमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं
चेतश्चुम्बितचन्द्रचूडचरणध्यानामृतं वर्तते ॥*

(भर्तृ० वै० श० ९८)

जिसने प्रेमासवका पान कर लिया है, जो उसकी मस्तीमें ससारके सभी पदार्थोंको भूला हुआ है, उसके सामने, ये संसारके सभी सुन्दर,

---

* ओ कामदेव ! धनुषकी टङ्कारोंसे तू अपने हाथोंको क्यों कष्ट दे रहा है ! अरी कोयल ! तू भी अपने कोमल कलनादोंसे क्यों व्यर्थ कोलाहल मचा रही है ? ऐ भोली-भाली रानी ! तुम्हारे इन स्नेहयुक्त, चतुर, मोहन, मधुर एवं चञ्चल कटाक्षोंसे भी अब कुछ नहीं हो सकता। मेरे चित्तने तो चन्द्रचूडके चरणोंका ध्यानरूपी अमृत-पान कर लिया है।

सुखद और चमकीले पदार्थ तुच्छ हैं। वह उन पदार्थोंकी ओर दृष्टितक नहीं डालता, जिनके लिये विषयी मनुष्य अपना सर्वस्व अर्पण करनेके लिये तत्पर रहते हैं। जिस हृदयमें कामारिके भी पूजनीय प्रभु निवास करते हैं, उस हृदयमें कामके लिये स्थान कहाँ ? क्या रवि और रजनी एक स्थानपर रह सकते हैं। दीपक लेकर यदि आप अन्धकारको खोजने चलें तो उसका पता कहीं मिल सकता है ? इसीलिये कहा है—'जहाँ काम है, वहाँ राम नहीं। और जहाँ राम है वहाँ काम नहीं।'

जो जाड़ेसे ठिठुरा हो उसके सम्मुख उसकी इच्छाके विरुद्ध भी धधकती हुई अग्नि पहुँच जाय तो उद्योग न करनेपर भी उसका जाड़ा छूट जायगा। साँभरकी झीलमें कंकड़ी, पत्थर, हड्डी जो भी वस्तु गिर जायगी वह नमक बन जायगी। प्रेमीसे चाहे प्रेमसे सम्बन्ध करो या ईर्ष्या-द्वेषसे, कल्याण आपका अवश्य ही होगा। भूलसे भी, लोहा पारस-से छुआ दिया जाय तो उसके सुवर्ण होनेमें कोई सन्देह नहीं।

महाप्रभु जब दक्षिणके समस्त तीर्थोंमें भ्रमण करते-करते श्रीरङ्गम् आ रहे थे, तब रास्तेमें अक्षयवट नामक तीर्थमें ठहरे। रास्तेमें महाप्रभुका जीवन-निर्वाह भिक्षापर ही होता था। किसी दिन भिक्षा मिल जाती थी, किसी दिन नहीं भी मिलती थी, कृष्णदास भट्टाचार्य प्रभुको भिक्षा बनाकर खिलाते थे। एक दिन भिक्षाका कहीं संयोग ही न लगा। तीर्थमें उपोषणका भी विधान है, अतः उस दिन महाप्रभुने कुछ भी नहीं लिया, एक निर्जन स्थानमें शिवजीके समीप वे कीर्तनानन्दमें मग्न हुए—

कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे॥
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण रक्ष माम्।
कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण कृष्ण पाहि माम्॥

—इस महामन्त्रको जोर-जोरसे उच्चारण कर रहे थे। रास्तेके श्रमसे उनके श्रीमुखपर कुछ श्रमजन्य थकावटके चिह्न प्रतीत होते थे। उनके समस्त अंगोंसे एक प्रकारका तेज-सा निकल रहा था। वे प्रेमानन्दमें मग्न हुए उच्चस्वरसे नाम-संकीर्तनमें मग्न थे। इतनेमें ही तीर्थराम नामका एक बहुत बड़ा धनी वहाँ सहसा आ पहुँचा। उसे अपने धनका गर्व था, युवावस्थाने उसे कर्तव्यशून्य बना दिया था, यौवनके मदमें वह अपने धर्मको तिलाञ्जलि दे चुका था। खाना-पीना और मौज उड़ाना यही उसने अपने जीवनका ध्येय बना रखा था। सुन्दर-से-सुन्दर भोज्य पदार्थोंको खाना और मनोरम-से-मनोरम ललनाओंके साथ समय बिताना यही उसने जीवनका चरम सुख समझ लिया था। उसके साथ दो अत्यन्त सुन्दरी वेश्याएँ थीं। उनमेंसे एकका नाम सत्याबाई और दूसरीका नाम लक्ष्मीबाई था। उनके साथ हास-परिहास करते-करते वह शिवालयके समीप आ पहुँचा। वहाँ उसने अपनी कान्तिसे दिशाओंको आलोकित करते हुए प्रेमावतार श्रीचैतन्यको देखा। सुवर्णके समान शरीरका रंग था, कमलके समान विकसित मुखारविन्दपर हठात् चित्तको अपनी ओर आकर्षित करनेवाली दो बड़ी-बड़ी आँखें थीं। उसकी समझमें ही नहीं आया कि इतनी अतुलनीय रूपराशिसे युक्त यह पुरुष यहाँ जङ्गलमें अकेला एक कपड़ा ओढ़े क्यों पड़ा है ? अपने सन्देहको मिटानेके लिये उसने धीरेसे कहा—'कौन है ?'

किन्तु महाप्रभु तो अपने कीर्तनानन्दमें मग्न थे, उन्हें किसीका क्या पता, वे पूर्ववत् जोरोंसे कीर्तन करते रहे। उसकी उत्सुकता और भी बढ़ी। उसने अबके जरा जोरसे कहा—'आप कौन हैं और यहाँ एकान्तमें क्यों पड़े हैं ?'

कृपामय श्रीचैतन्यने अबके उसकी बातका उत्तर दिया—'भाई! हम गृहत्यागी संन्यासी हैं, अपने प्यारेकी तलाशमें घरसे निकले हैं। एकान्त ही हमारा आश्रय है, वैराग्य ही हमारा बन्धु है, संकीर्तन ही हमारा एकमात्र कर्तव्य है, इसीलिये हम यहाँ एकान्तमें पड़े अपने प्यारेके नामोंका उच्चारण कर रहे हैं।' इतना कहकर महाप्रभु फिर पूर्ववत् कीर्तन करने लगे।

इस उत्तरको पाकर तीर्थरामको सन्तुष्ट हो जाना चाहिये था और महाप्रभुको छोड़कर वेश्याओंके साथ अन्यत्र चले जाना चाहिये था, किन्तु उसका तो प्रभुके द्वारा उद्धार होना था, उसके मनमें ईर्ष्याका अङ्कुर उत्पन्न हुआ, वह सोचने लगा—'यह भी कोई अजीब आदमी है, विधाताने इसे इतना सौन्दर्य दिया है, चढ़ती जवानी है, किसी उच्च कुलका प्रतीत होता है, फिर भी ऐसी वैराग्यकी बातें कर रहा है। मालूम होता है, इसे सत्याबाई और लक्ष्मीबाईके समान रूपलावण्ययुक्त कोई ललना नहीं मिली है, यदि एक बार भी इसने ऐसी अनुपम सुन्दरीके दर्शन किये होते तो यह संन्यास और वैराग्य सभीको भूल जाता।'

इन बातोंको सोचते-सोचते वह अपनी दोनों संगिनियोंसे बोला—'मालूम होता है, इसने अभी संसारका सुख नहीं भोगा है, तभी यह ऐसी बढ़-बढ़कर बातें करता है?'

एक साथ ही दोनों जल्दीसे बोल उठीं—'अजी, चलो भी, किसकी बातें करने लगे। ये सब कामदेवके दण्डित व्यक्ति हैं, जहाँ इन्होंने ललनाओंके रूपकी निन्दा की, वहीं कामदेवने खप्पर हाथमें देकर इन्हें द्वार-द्वारका भिखारी बना दिया।'

तीर्थरामने कहा—'नहीं, ऐसी बात नहीं। इसके चेहरेमें आकर्षण है। कोई वैराग्यवान् साधु मालूम पड़ता है।'

इसपर उसकी बातका प्रतिवाद करती हुई लक्ष्मीबाई बोली—'हाँ, बिना मिलेके तो सभी त्यागी-वैरागी हैं। खानेको न मिला तो कह दिया एकादशी व्रत हैं। 'नारि मुई घर-संपति नासी। मूँड़ मुड़ाइ भये संन्यासी ॥' मुझ-जैसी कोई इनके पल्ले पड़ जाय तब हम देखें कि कैसे त्यागी बने रहते हैं!'

तीर्थरामने उन दोनोंको उत्तेजना देते हुए कहा—'अच्छा, देखें तुम्हारी बात। यदि इसे अपने चंगुलमें फँसा लो तो जो चाहो वह इनाम तुम्हें दें।'

उन दोनोंको अपने रूप-लावण्यका गर्व था। वे मत्त सिंहिनीकी भाँति महाप्रभुकी ओर चलीं। तीर्थराम पास ही छिपकर उनकी सब बातोंको देखता रहा।

महाप्रभु एक करवटसे लेटे हुए श्रीकृष्ण-कीर्तन कर रहे थे। गोविन्द और कृष्णदास कुछ दूरीपर थे। वे वेश्याएँ वहाँ जाकर बैठ गयीं और अपने हाव-भाव-कटाक्षोंसे प्रभुकी अनन्यताको भङ्ग करनेकी चेष्टा करने लगीं। किन्तु प्रभुको पता भी नहीं कि कौन आया है, वे अपने नशेमें चूर थे, उन्हें दीन-दुनिया किसीका भी होश नहीं था। उन्हें वहाँ बैठे जब बहुत देर हो गयी तब लक्ष्मीबाईने सम्पूर्ण साहसको इकट्ठा करके कहा—'साधुबाबा! मैं आपसे कुछ पूछना चाहती हूँ।'

पतित-पावन प्रभु तो इसके लिये तैयार ही बैठे थे। वे जल्दीसे उठ बैठे और उनपर करुणाभरी विकार-नाशिनी दृष्टि डालकर बड़े ही मधुर स्वरसे प्रेमके साथ बोले—'माताजी, इस दीन-हीन सन्तानके लिये क्या आज्ञा है, मैं आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ?' उनकी दृष्टिमें और उनके इन शब्दोंमें पता नहीं क्या जादू था, वे दोनों अवाक् रह गयीं। काटो तो बदनमें लोहू नहीं। उनकी वाणी बन्द हो गयी, धैर्य छूट गया, और पश्चात्तापकी

अग्निने उनके हृदयमें एक प्रकारकी ज्वाला पैदा कर दी। वे आत्मग्लानिसे अभिभूत होकर जल्दीसे वहाँसे उठ खड़ी हुईं। तीर्थराम इन बातोंको सुन रहा था। प्रभुके संकीर्तनके श्रवणमात्रसे ही उसका धैर्य टूट गया था। अब रहा-सहा धैर्य इस असम्भव घटनाने तोड़ दिया। परमसुन्दरी दो युवती एकान्तमें जिससे प्रेमालाप करनेकी प्रार्थना करें और वह उन्हें माता कहकर सम्बोधन करे, यह कोई मनुष्य नहीं, ईश्वर है। यह संसारी प्राणीका काम नहीं, ये तो देवताओंके भी देवताओंका काम है। यह सोचते-सोचते वह महाप्रभुके पादपद्मोंमें जाकर गिर पड़ा और बड़े ही जोरसे चीत्कार मारकर कहने लगा—'हा प्रभो! मुझ पापीका भी उद्धार करो, प्रभो! मुझे अपने चरणोंकी शरण दो।'

महाप्रभुने उसे उठाकर छातीसे लगाया और प्रेममें विह्वल होकर जोर-जोरसे नृत्य करते हुए संकीर्तन करने लगे। वे अविरलभावसे प्रेमाश्रु विमोचन करते हुए नृत्य करने लगे। भावावेशमें उनके शरीरका वस्त्र जमीनपर गिर पड़ा। इससे उनके दीप्तिमान् श्रीअंगोंसे तेजकी किरणें फूट-फूटकर उस नीरव स्थानको आलोकित करने लगीं। वे वेश्याएँ भी इस अद्भुत चमत्कारको देखकर भावावेशमें अपनेको भूल गयीं और भगवान्‌के नामका कीर्तन करती हुई नृत्य करने लगीं।

तीर्थरामने प्रभुके श्रीचरणोंको जोरसे पकड़ लिया और बार-बार चिल्ला-चिल्लाकर वह कहने लगा—'प्रभो! मुझ पापीका भी किसी प्रकार उद्धार हो सकेगा? दयामय! मेरे पापोंका प्रायश्चित्त किसी तरह हो सकता है क्या?'

पतितपावन प्रभुने उसे उठाकर अपने गलेसे लगाया और कहा—'तीर्थराम! तुम पापी नहीं, पुण्यात्मा हो, तुम्हारे श्रीअङ्गके स्पर्शसे मैं पावन हुआ। तुम भाग्यवान् हो, प्रभुके कृपापात्र हो, अपने मनसे ग्लानि निकाल दो। करुणामय श्रीहरि सबका भला करते हैं। जो उनकी शरणमें

पहुँच जाता है, उसके पाप रहते ही नहीं। रुईके ढेरमें जैसे अग्नि पड़नेसे भस्म हो जाती है उसी प्रकार वे भस्म हो जाते हैं।'

महाप्रभुके इन आदेशमय वाक्योंको सुनकर तीर्थरामको कुछ धैर्य हुआ। उसने अपनेको महाप्रभुके श्रीचरणोंमें सर्वतोभावेन समर्पित कर दिया। महाप्रभुने उसे हरि-नाम-मन्त्रका उपदेश दिया और वह भी तिलक-कण्ठी धारण करके शुद्ध वैष्णव बन गया। दोनों वेश्याओंने भी अपने पापोंका प्रायश्चित्त किया और वे निरन्तर हरि-नाम-स्मरण करने लगीं।

तीर्थरामकी स्त्रीका नाम कमलकुमारीदेवी था, अपने पतिकी ऐसी दशा देखकर उसे परमानन्द हुआ। वह सती-साध्वी पतिव्रता पत्नी अपने पति-चरणोंका अनुगमन करनेवाली थी। उसने अत्यन्त ही दीन-भावसे प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम किया और गद्गद कण्ठसे प्रार्थना की—'प्रभो! इस पापिनीका भी उद्धार कीजिये। मुझे भी अपने चरणोंकी शरण प्रदान कीजिये जिससे संसारसागरसे मैं भी पतिके चरणोंका अनुगमन कर सकूँ!'

महाप्रभुकी आज्ञासे तीर्थरामने अपनी पत्नीको हरि-नाम-मन्त्रका उपदेश दिया। वह भी अपना सारा धन कङ्गालोंको बाँटकर तीर्थरामके साथ हरि-नाम-संकीर्तन करने लगी।

महाप्रभु सात दिनतक वटेश्वरमें ठहरे। वहाँ रहकर वे धनीरामको उपदेश देते थे। प्रभुने उससे कहा—'बहुत ग्रन्थोंके मायाजालमें मत पड़ना। भगवान् केवल विश्वाससे ही प्राप्त हो सकते हैं। सम्पूर्ण जगत्के वैभवको तृणसमान समझना और निरन्तर भगवन्नाम-संकीर्तनमें लगे रहना। यही वेदशास्त्रोंका सार है।' इस प्रकार तीर्थराम और उन दो सुन्दरी वेश्याओंको प्रेम-दान करके महाप्रभु श्रीरंगम् चले गये थे और श्रीरंगम्में ही चतुर्मास किया। जब वर्षा समाप्त हो गयी, तब प्रभुने श्रीरंगम्से आगे चलनेका विचार किया।
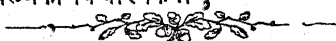
दक्षिणके तीर्थोंका भ्रमण (२)

परोपकृतिकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः ।
गुर्वीमुपकृतिं मत्वा ह्यवतारान् दशाग्रहीत् ॥*

साधारण मनुष्य जिन कामोंको करते हैं, उन्हींको महापुरुष भी किया करते हैं । किन्तु साधारण लोगोंके कार्य अपने सुखके लिये होते हैं और महापुरुषोंके काम समस्त जीवोंके कल्याणके निमित्त होते हैं । महात्मा तो स्वयं तीर्थस्वरूप हैं, उन्हें तीर्थ-यात्राकी आवश्यकता ही क्या ? उन्हें न तो स्वर्गकी ही इच्छा है और न पवित्र होनेकी । करोड़ों स्वर्ग उनके संकल्पसे उत्पन्न हो सकते हैं । और जगत्को पवित्र करनेकी शक्ति उनमें स्वयं ही मौजूद है । ऐसी स्थितिमें उनका तीर्थ-भ्रमण केवल-मात्र परोपकार और जीवोंके उद्धारके ही निमित्त होता है, इसीलिये महाप्रभु श्रीनीलाचलको छोड़कर सुदूर दक्षिण-प्रान्तके तीर्थोंमें भ्रमण करते रहे । वे जहाँ भी पधारें, वही तीर्थ धन्य हो गये और वहाँके नर-नारी कृतकृत्य हो गये ।

---

* जनार्दन भगवान्ने परोपकार और मोक्षको लेकर तराजूमें तोला । इससे परोपकारका पलड़ा भारी जानकर ही उन्होंने परोपकार करनेके निमित्त (अजन्मा होकर भी) दश अवतार धारण किये ।

चातुर्मास बिताकर महाप्रभु वेङ्कट भट्टसे विदा लेकर श्रीरङ्गम् होते हुए ऋषभ-पर्वतपर गये। वहाँपर उन्होंने सुना कि स्वामी परमानन्द-पुरीमहाराज यहीं ठहरे हुए हैं। इस संवादको सुनकर प्रभु पुरी-महाराजके दर्शनोंके लिये उनके निवास-स्थानपर गये और वहाँ जाकर उनकी चरण-वन्दना की। पुरीमहाराजने प्रभुको प्रेमपूर्वक आलिङ्गन किया और तीन दिनतक दोनों साथ ही रहकर कृष्ण-कथा, कृष्ण-कीर्तन करते रहे। पुरीमहाराजने कहा—'मेरी इच्छा है कि मैं श्रीपुरुषोत्तम भगवान्के दर्शन करके गङ्गा-स्नानके निमित्त नवद्वीप जाऊँ।'

महाप्रभुजीने कहा—'आप तबतक चलें, नवद्वीपसे लौटकर आप फिर पुरी ही आवें। मैं भी सेतुबन्ध रामेश्वरके दर्शन करता हुआ शीघ्र ही पुरी आनेका विचार कर रहा हूँ, यदि भगवत्-कृपा हुई तो हम दोनों साथ-ही-साथ नीलाचलमें रहेंगे।' यह कहकर प्रभु तो सेतुबन्ध रामेश्वरकी ओर चले और पुरीमहाराजने जगन्नाथपुरीका रास्ता पकड़ा।

महाप्रभु अनेक वन, पर्वत और ग्रामोंमें होते हुए शैलपर्वतपर पहुँचे। वहाँ ब्राह्मण-ब्राह्मणीका वेष धारण किये हुए शिव-पार्वतीजीका प्रभुने आतिथ्य ग्रहण किया, वहाँसे कामकोष्ठीपुरी होते हुए वे दक्षिण मथुरा पहुँचे।

वहाँपर एक ब्राह्मणने प्रभुको निमन्त्रित किया। वह ब्राह्मण प्रतिक्षण रोता-रोता 'सीताराम, सीताराम' रटता रहता था। प्रभुने उसका निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार किया और मध्याह्न-स्नान करके उसके घर भिक्षा करने पहुँचे। महाप्रभुने जाकर देखा उसने कुछ भी भोजन नहीं बनाया है। उदासभावसे चुपचाप बैठा है।

महाप्रभुने हँसकर पूछा—'विप्रवर! आपने अभीतक भोजन क्यों नहीं बनाया है?'

अत्यन्त ही सरलताके साथ ब्राह्मणने कहा—'प्रभो! यहाँ अयोध्या-पुरीकी तरह वैभव थोड़ा ही है, जो दास-दासी सब काम क्षणभरमें कर दें। यहाँ तो अरण्यवास है, लक्ष्मणजी जंगलोंसे फल-फूल लावेंगे, तब कहीं सीता माता रन्धन करेंगी, तब मेरे सरकार प्रसाद पावेंगे।'

महाप्रभु उस भक्त ब्राह्मणके ऐसे विशुद्ध भावको देखकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए प्रेममें उन्मत्त होकर नृत्य करने लगे। अब वह ब्राह्मण उठा और अस्त-व्यस्त भावसे भोजन बनाने लगा। तीसरे पहर जाकर कहीं भोजन बना। उसने बड़ी श्रद्धा-भक्तिके सहित प्रभुको भिक्षा करायी। प्रभुको भिक्षा कराके वह निराहार ही बना रहा। उसने कुछ भी प्रसाद नहीं पाया।

तब प्रभुने पूछा—'विप्रवर! आपने प्रसाद नहीं पाया, यह क्या बात है? आप इतने दुःखी क्यों हैं? अपने दुखका मुझे ठीक-ठीक कारण बताइये?'

उस ब्राह्मणने रोते-रोते कहा—'प्रभो! जगज्जननी सीतामाताको दुष्ट रावण अपने पापी हाथोंसे पकड़ ले गया। उस दुष्ट राक्षसने माताका स्पर्श किया, इससे बढ़कर मेरे लिये और दुःख हो ही क्या सकता है, मैं अब जीवन धारण न करूँगा। जब मुझे यह बात स्मरण होती है तभी मेरा कलेजा फटने लगता है।'

महाप्रभु उसके ऐसे दृढ़ अनुरागको देखकर मुग्ध हो गये। ओहो! कितना ऊँचा भाव है, इसे महापुरुषके सिवा और कोई समझ ही क्या सकते हैं? प्रभुने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा—'विप्रवर! आप इतने भारी विद्वान् होकर भी ऐसी भूली-भूली बातें करते हैं। भला, जगज्जननी सीतामाताको चुरा ले जानेकी शक्ति किसीमें हो ही कैसे सकती है!

यह तो भगवान्‌की एक लीला थी। आप भोजन करें और इस बातको मनमेंसे निकाल दें।'

महाप्रभुके आग्रहसे उसने थोड़ा-बहुत प्रसाद पा लिया, किन्तु उसे पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें तो स्पष्ट सीता-माताका हरण लिखा हुआ है। इसीलिये वह ब्राह्मण चिन्तित ही बना रहा। महाप्रभु भी दूसरे दिन आगेको चल दिये।

दक्षिण मथुरासे चलकर महाप्रभुने कृतमाला-तीर्थमें स्नान किया और महेन्द्र-पर्वतपर जाकर परशुराम भगवान्‌के दर्शन किये। वहाँसे सेतुबन्ध रामेश्वरके दर्शन करते हुए वे धनुस्तीर्थमें पहुँचे और उस तीर्थमें स्नान करके श्रीरामेश्वरमें पहुँचे। वहाँ शिवजीके दर्शन करके प्रभु लौट ही रहे थे कि कुछ ब्राह्मणोंको वहाँ बैठे हुए देखा। वहाँपर कूर्मपुराणकी कथा हो रही थी। प्रभु भी कथा सुननेके लिये बैठ गये। दैवयोगसे उस समय सीताजीके हरणका ही प्रसंग हो रहा था। प्रभुने कूर्मपुराणमें सुना—'जिस समय जनकनन्दिनी सीताजीने दशग्रीव रावणको देखा, तब उन्होंने अग्निकी आराधना की। उसी समय अग्निने सीताको अपने पुरमें रख लिया और उसकी छायाको बाहर रहने दिया। राक्षसराज रावण सीताजीकी उस छायाको ही हरकर ले गया था। जब रावणको मारकर भगवान्‌ने सीताजीकी अग्नि-परीक्षा की तब अग्निने असली सीताजीको निकालकर दे दिया। वास्तवमें रावण सीताजीकी छायाको ही हरकर ले गया था। असली सीताजीका तो उसने स्पर्शतक नहीं किया।'

भक्तवत्सल महाप्रभु इस प्रसंगको सुनकर अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा—'इसकी प्रतिलिपि करके उस परमभक्त रामदासको दिखानी चाहिये।' फिर प्रभुने सोचा—'यदि मैं नवीन पत्रपर

प्रतिलिपि करके ले गया तो बहुत सम्भव है, नूतन श्लोक समझकर उसे विश्वास न हो।' इसलिये प्रभुने उस कथा कहनेवाले ब्राह्मणसे कहा—'हम इस पृष्ठकी नकल करके आपको दे देंगे। इस पुराने पृष्ठको आप हमें दे दें।' कथावाचकने प्रभुकी इस बातको स्वीकार कर लिया और प्रभुने उसकी नूतन प्रतिलिपि करके तो उस कथावाचकको दे दी और वह पुराना पृष्ठ अपने पास रख लिया।

उस पृष्ठको लेकर दयालु गौराङ्ग फिर दक्षिण मथुरामें रामभक्त ब्राह्मणके घर आये और उसे कूर्मपुराणके पुराने पृष्ठको दिखाते हुए प्रभुने कहा—'लीजिये, अब तो आपका सन्तोष होगा। यह तो कूर्म-पुराणमें ही लिखा है कि रावण सीताजीकी छायाको हरकर ले गया था।'

महाप्रभुकी दयालुताको देखकर वह ब्राह्मण प्रेममें व्याकुल होकर रुदन करने लगा। प्रभुके पैरोंको पकड़कर उसने रोते-रोते कहा—'आज आपने मेरे दुःखको दूर किया। आप मेरे इष्टदेव श्रीरघुनाथजी ही हैं। मेरे इष्टदेवके सिवा ऐसी असीम कृपा दूसरा कोई कर ही नहीं सकता। आज आपके अमोघ दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया। आपने अनुग्रह करके शोकसागरमें डूबते हुए मुझ निराश्रयका उद्धार कर दिया। प्रभो! मैं आपकी स्तुति ही क्या कर सकता हूँ?'

उस ब्राह्मणकी ऐसी स्तुति सुनकर प्रभुने कहा—'विप्रवर! मैं आपकी भक्ति देखकर बहुत ही अधिक सन्तुष्ट हुआ हूँ। ऐसा सच्चा भक्त मुझे और कहीं नहीं मिला।' इस प्रकार उस ब्राह्मणको सन्तुष्ट और कृतार्थ करके महाप्रभु आगेके तीर्थोंमें जानेका विचार करने लगे।

दक्षिणके शेष तीर्थोंमें भ्रमण

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित्॥*

(श्रीमद्भा० १०।८।४)

दक्षिण मथुरासे चलकर महाप्रभु पाण्डुदेशमें ताम्रपर्णी, नयत्रिपदी, चियड़तला, तिलकाञ्ची, गजेन्द्रमोक्षण, पानागड़ि, चामतापुर, श्रीवैकुण्ठ, मलयपर्वत, धनुस्तीर्थ, कन्याकुमारी आदि तीर्थोंमें होते हुए और अपने अमोघ-दर्शनोंसे लोगोंको कृतार्थ करते हुए मल्लारदेशमें पहुँचे। उधर भट्टथारी नामसे साधुवेषधारी लोगोंका एक दल होता है। वे लोग एक स्थानपर नहीं रहते हैं। उनका वेष साधुओंका-सा होता है, किन्तु उनका व्यवहार अच्छा नहीं होता। जिस प्रकार भूमरिया या बंजारे अपने डेरा-तम्बू लादकर घूमते रहते हैं, उसी प्रकार वे लोग भी एक स्थानसे दूसरे स्थानोंमें घूमा करते हैं। उनमेंसे बहुत-से तो रात्रिमें चोरी भी कर लेते हैं। भूली-भटकी स्त्रियोंको वे बहकाकर अपने साथ रख लेते हैं। इस प्रकार वे अपने दलको बढ़ाया करते हैं। महाप्रभु रात्रिमें उनके समीप ही ठहरे थे। उन लोगोंने महाप्रभुके सेवक कृष्णदासको बहका लिया। उसे सुन्दर स्त्री और धनका लोभ दिया। उन्होंने उसे भाँति-भाँतिसे समझाया—'तू इस विरक्त साधुके पीछे-पीछे क्यों मारा-मारा फिरता है, न भोजनका ठिकाना और न रहनेकी ही सुविधा। हमारा चेला बन जा। हमारे यहाँ अनेकों सुन्दर-सुन्दर त्रियाँ हैं, जिसे

---

* हे भगवन्! आप-जैसे महानुभावोंका जाना यदि कहीं होता भी है, तो केवल दीन-हीन गृहस्थियोंके कल्याणके ही निमित्त होता है, इसके सिवा आप-जैसे महापुरुष अपने स्वार्थके निमित्त कदापि कहीं नहीं जाते।

चाहे रखना, खाने-पीनेकी हमारे यहाँ कमी ही नहीं। रोज हलुआ, मोहन-भोग घुटता है।' बेचारा अनपढ़ सीधा-सादा गरीब ब्राह्मण उनकी बातोंमें आ गया। वह महाप्रभुको छोड़कर धीरेसे उठकर उन लोगोंके साथ चला गया। जब महाप्रभुको यह बात मालूम हुई तो वे उन लोगों-के पास गये और उनसे सरलतापूर्वक कहने लगे—'भाइयो ! आपने यह अच्छा काम नहीं किया है। मेरे साथीको आपने बहकाकर अपने यहाँ रख लिया है, ऐसा करना आपलोगोंके लिये उचित नहीं है, आप भी संन्यासी हैं और मैं भी संन्यासी हूँ। आपके साथ बहुत-से आदमी हैं, मेरे पास तो यह अकेला ही है, इसलिये मेरे आदमीको कृपा करके आप दे दें नहीं तो इसका परिणाम अच्छा न होगा।'

महाप्रभुकी ऐसी बात सुनकर वे वेषधारी संन्यासी प्रभुके ऊपर प्रहार करनेको उद्यत हो गये, किन्तु प्रभुके प्रभावसे प्रभावान्वित होकर वे भाग गये और महाप्रभु कृष्णदासको उन लोगोंसे छुड़ाकर आगेके लिये चले। वहाँसे चलकर महाप्रभु पयस्विनी नामक नदीके तटपर पहुँचे। वहाँ उन्हें प्राचीन लिखी हुई ब्रह्मसंहिता मिल गयी, उस अद्भुत ग्रन्थको लेकर प्रभु शृंगेरीमठमें पहुँचे। यह भगवान् शंकराचार्यका दक्षिण दिशाका प्रधान मठ है। भगवान् शंकराचार्यने वेद-शास्त्रोंकी रक्षा और धर्म-प्रचारके निमित्त भारतवर्षकी चारों दिशाओंमें चार मठ स्थापित किये। उत्तर दिशामें बदरिकाश्रमके समीप जोशीमठ, पूर्वमें जगन्नाथ-पुरीमें गोवर्द्धनमठ, द्वारकापुरीमें शारदामठ और दक्षिणमें शृंगेरीमठ। इनमेंसे जोशीमठको छोड़कर शेष तीनों मठोंके मठाधीश आजतक शंकराचार्यके ही नामसे पुकारे जाते हैं। महाप्रभुका सम्बन्ध भी दशनामी सम्प्रदायके संन्यासियोंसे ही था।

शृंगेरीमठसे चलकर महाप्रभु मत्स्यतीर्थ होते हुए उडूपी नामक स्थानमें मध्वाचार्यके मठपर पहुँचे और वहाँ गोपाल भगवान्‌के दर्शन

किये। वहाँके तत्त्ववादियोंके साथ प्रभु शास्त्रविचार करते हुए दो-तीन दिनतक रहे। वहाँसे फल्गुतीर्थ, त्रिकूप, पम्पापुर, सूर्पारक, कोल्हापुर आदि तीर्थ-स्थानोंमें होते हुए पण्ढरपुरमें आये। यहाँपर एक ब्राह्मणने महाप्रभुका निमन्त्रण किया। महाप्रभु उसका निमन्त्रण स्वीकार करके उसके यहाँ भिक्षा करने गये। उसने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे प्रभुको भिक्षा करायी। बातों-ही-बातोंमें उसने कहा—'यहाँपर एक बड़े ही योग्य और भगवद्भक्त महात्मा ठहरे हुए हैं। सम्भवतया आपने श्रीमन्माधवेन्द्र-पुरीमहाराजका नाम तो सुना ही होगा, वे महात्मा उन्हींके शिष्य हैं, उनका नाम श्रीरङ्गपुरी है।' इतना सुनते ही प्रभु प्रेममें विभोर हो गये। उन्होंने जल्दीसे कहा—'विप्रवर! आप मुझे जल्दीसे श्रीरङ्गपुरी महाराजके समीप ले चलें।'

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके वह ब्राह्मण प्रभुको साथ लेकर रङ्गपुरीमहाराजके समीप पहुँचा। प्रभुने दूरसे ही पुरीमहाराजको देखकर उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। पुरीमहाराजने प्रणत हुए प्रभुको उठाकर गलेसे लगाया और उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'आपकी आकृतिसे ही प्रतीत हो रहा है कि आप कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। संन्यासी होकर भी इतनी नम्रता, यह तो महान् आश्चर्यकी बात है। इतनी सरलता, इतनी भक्ति और ऐसे प्रेमके सात्त्विक विकार मेरे गुरुदेवके कृपापात्र संन्यासियोंको छोड़कर और किसी संन्यासीमें नहीं पाये जाते। आप अपना परिचय मुझे दीजिये।'

प्रभुने अत्यन्त ही विनीत भावसे कहा—'संन्यासियोंमें भक्तिभावके प्रवर्तक भगवान् माधवेन्द्रपुरीके प्रधान शिष्य श्रीमत् ईश्वरपुरीमहाराज मेरे मन्त्र-दीक्षा-गुरु हैं। संन्यासके गुरु मेरे श्रीमत् केशव भारती महाराज हैं।'

श्रीरङ्गपुरीमहाराजने पूछा—'आपकी पूर्वाश्रमकी जन्म-भूमि कहाँ है?'

प्रभुने सरलताके साथ कहा—'इस शरीरका जन्म गौड़देशमें भगवती भागीरथीके तटपर नवद्वीप नामक नगरमें हुआ है।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए पुरीमहाराज कहने लगे—'ओहो! तब तो आप अपने बड़े ही निकट सम्बन्धी हैं। श्रीअद्वैताचार्यको तो आप जानते ही होंगे, मैं अपने गुरुदेवके साथ पहले नवद्वीप गया था। वहाँपर जगन्नाथ मिश्र नामके एक बड़े श्रद्धालु ब्राह्मण हैं, उनकी पत्नी तो साक्षात् अन्नपूर्णादेवी ही हैं। मैंने एक दिन उनके घर भिक्षा की थी। उस ब्राह्मणीने मुझे बड़ी ही श्रद्धाके सहित भिक्षा करायी थी। उनका एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्र संन्यासी हो गया था। वह तो बड़ा ही होनहार था। किन्तु दैवकी गति बड़ी विचित्र होती है, संन्यास लेनेके दो वर्ष बाद, उसने यहींपर शरीर त्याग दिया। उसका संन्यासका नाम शंकरारण्य था।'

इस बातको सुनकर प्रभु कुछ विस्मित-से हो गये। उनके दोनों स्वच्छ और बड़े-बड़े कमलके समान नेत्रोंमें आप-से-आप ही जल भर आया। रुँधे हुए कण्ठसे उन्होंने कहा—'भगवन्! वे महाभाग शङ्करारण्य स्वामी मेरे पूर्वाश्रमके अग्रज थे।'

इस बातको सुनते ही पुरीमहाराजने प्रभुका फिर आलिंगन किया और कहने लगे—'क्या आप सब-के-सब संन्यासी ही हो गये या घरपर कोई और भी भाई है?'

प्रभुने नीचेको सिर करके धीरेसे कहा—'घरपर तो वे ही श्रीहरि हैं, जिनका आपने पहले नाम लिया। मेरे पूर्वाश्रमके पिता तो परलोकवासी हो गये। हम दो ही भाई थे, सो दोनों ही आपके चरणोंकी शरणमें आ गये। अब घरपर वृद्धा माता ही हैं।'

पुरीने कहा—'भाई ! आपका ही कुल धन्य है, आपके ही माता-पिताका पुत्र उत्पन्न करना सार्थक हुआ ।' इस प्रकार दोनोंमें और भी परमार्थ-सम्बन्धी बहुत-सी बातें होती रहीं । दो-तीन दिनतक दोनों ही साथ-साथ रहे । अन्तमें पुरीमहाराज तो द्वारकाके लिये चले गये और महाप्रभु श्रीविट्ठलनाथजीके दर्शन करके आगे बढ़े ।

पण्ढरपुरमें भीमानदीमें स्नान करके महाप्रभु कृष्णवीणा-नदीके किनारे आये । वहाँ ब्राह्मणोंके समीपसे प्रभुने श्रीबिल्वमङ्गलकृत 'कृष्णकर्णामृत' नामक अपूर्व रसमय ग्रन्थका संग्रह किया । ब्रह्मसंहिता और कृष्णकर्णामृत—इन दोनों पुस्तकोंको यत्नपूर्वक साथ लिये हुए प्रभु ताप्तीनदीके निकट आये । वहाँ पुण्यतोया ताप्तीनदीमें स्नान करके माहिष्मतीपुर होते हुए वे नर्मदाजीके किनारे आये, वहाँ ऋष्यमूक-पर्वतको देखते हुए, दण्डकारण्यके समस्त तीर्थोंको पावन करते हुए सप्तताल-तीर्थका उद्धार किया । महाप्रभुने नीलगिरि-प्रदेशमें भ्रमण करते समय असंख्य लोगोंको श्रीकृष्ण-प्रेममें उन्मत्त बनाया । इसी प्रकार भ्रमण करते हुए गुर्जरी नगरमें आकर उपस्थित हुए । यहाँपर एक अर्जुन नामके शुष्क वेदान्ती पण्डितको प्रभुने श्रीकृष्ण-तत्त्व समझाया और उसे प्रेम-प्रदान किया ।

गुर्जरी नगरसे महाप्रभु बीजापुरके पार्वत्य-प्रदेशमें भ्रमण करते हुए और अनेक पुण्य-तीर्थोंमें दर्शन, स्नान, मार्जन और आचमन करते हुए पूर्ण-नगरमें पहुँचे । वहाँ एक सरोवरके निकट प्रभुने वास किया । वह नगर बड़ा ही समृद्धिशाली था, उसमें संस्कृतके बहुत-से विद्वान् पण्डित थे और अनेक पाठशालाएँ थीं । महाप्रभुको उन दिनों श्रीकृष्ण-विरहका अत्यन्त ही प्राबल्य था, वे सरोवरके तीरपर बैठे हुए बड़े जोरोंसे रोते हुए चिल्ला रहे थे 'हा प्राणनाथ ! हा हृदयेश्वर !' तुम कहाँ हो, नाथ ! दर्शन दो । प्राण-वल्लभ शीघ्र आओ, तुम कहाँ छिपे हो ।' प्रभुके करुण-क्रन्दनको सुनकर बहुत-से नर-नारी वहाँ एकत्रित हो गये । उनमें कुछ अपनेको

तत्त्वज्ञानी माननेवाले शुष्क तार्किक भी थे। प्रभु अत्यन्त ही दीनभावसे उनसे पूछने लगे—'आप कृपा करके मेरे प्राणनाथका पता जानते हों, तो बताइये। वे कहाँ हैं, मुझे छोड़कर वे कहाँ छिप गये ?'

उन पण्डितोंमेंसे एक अत्यन्त ही शुष्क हृदयवाला पण्डित बोल उठा—'तेरे कृष्ण इस जलमें छिपे हैं।' बस, इतना सुनना था कि महाप्रभु उसी क्षण छलाँग मारकर जलमें कूद पड़े। लोगोंके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। सर्वत्र हाहाकार मच गया। बहुत-से पुरुष उसी क्षण सरोवरमें कूद पड़े और प्रभुको जलसे बाहर निकाला। इसपर सभी लोग उस पण्डितको धिक्कार देने लगे। वह भी अपना-सा मुँह लेकर मारे शर्मके उसी क्षण चला गया।

यहाँसे चलकर प्रभु भोलेश्वर होते हुए जिजूरी-नगरमें पहुँचे। यहाँपर खाण्डवादेवका बड़ा भारी मन्दिर है। यहाँ एक बड़ी ही बुरी प्रथा है। जिस कन्याका विवाह नहीं होता उसे माता-पिता देवताके अर्पण कर देते हैं और उसे 'देव-दासी' कहते हैं। उनमें अधिकांश दुश्चरित्रा और व्यभिचारिणी होती हैं। महाप्रभुने जब यह बात सुनी तब वे स्वयं इन अभागी पतिता नारियोंको देखनेके लिये खाण्डवादेवके मन्दिरमें गये। प्रभुने अपनी आँखोंसे उन अभागिनियोंकी दुर्दशा देखी। उनकी दयनीय दशा देखकर दयामय श्रीचैतन्य उनसे बोले—'देवियो! तुम धन्य हो, तुम्हारा ही जीवन सार्थक है, अन्य स्त्रियोंके पति तो हाड़-मांसके पुतले नश्वर शरीरवाले मनुष्य होते हैं, किन्तु तुम्हारे पति तो साक्षात् श्रीहरि हैं। गोपिकाओंने श्रीहरिको पति बनानेके लिये असंख्यों वर्ष तप किया था। असलमें सच्चे पति तो वे ही नन्द-नन्दन हैं, इसलिये तुम सब प्रकारसे मन लगाकर श्रीकृष्ण-नामका ही कीर्तन किया करो। श्रीहरिके ही नामका सदा स्मरण किया करो। उनका नाम

पतितपावन हैं, सच्चे हृदयसे जो एक बार भी यह कह देता है, कि मैं तुम्हारी शरण हूँ, तो वे सभी पापोंको क्षमा कर देते हैं। श्रीभगवन्नाम-संकीर्तनमें अनन्त शक्ति है।' यह कहकर महाप्रभु स्वयं अपने दोनों बाहुओंको उठाकर उच्चस्वरसे हरि-नाम-संकीर्तन करने लगे। उस समय प्रेमके भावावेशमें उनके दोनों नेत्रोंसे अश्रुओंकी धारा बह रही थी, शरीरके रोम खड़े हुए थे, रोम-कूपोंमेंसे पसीना फब्बारेकी तरह निकल रहा था। उनकी ऐसी दशा देखकर सभी देव-दासियाँ अपने नारी सुलभ कमनीय कण्ठसे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस महामन्त्रका उच्चस्वरसे कीर्तन करने लगीं। सम्पूर्ण देवालय महामन्त्रकी ध्वनिसे गूँजने लगा। उस संकीर्तनकी बाढ़में उन देव-दासियोंके समस्त पाप धुलकर बह गये, वे भगवन्नामके प्रभावसे निष्पाप बन गयीं। उनमेंसे जो प्रधान देव-दासी थी, उसका नाम इन्दिरा था, वह आकर प्रभुके चरणोंमें गिर पड़ी और अत्यन्त ही दीन-भावसे कहने लगी—'प्रभो! व्यभिचार करते-करते मेरी यह अवस्था हो गयी। अब ऐसी कृपा कीजिये कि श्रीहरिके चरणोंमें भक्ति हो।' प्रभुने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा—'देवि! श्रीकृष्ण दयामय हैं, वे दीनोंपर अत्यन्त ही शीघ्र कृपा करते हैं। तुम उनका ही भजन करो, उन्हींकी शरणमें जाओ तुम्हारा कल्याण होगा।'

प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके उसने अपना सर्वस्व दीन-हीन-गरीबोंको बाँट दिया और स्वयं भिखारिणीका वेष बनाकर मन्दिरके द्वारपर भिक्षान्नसे निर्वाह करती हुई, अहर्निश श्रीकृष्ण-कीर्तनमें मग्न रहने लगी। और भी कई देव-दासियोंने उसके पथका अनुसरण किया।

नौरोजी डाकूका उद्धार

संसारसिन्धुतरणे हृदयं यदि स्यात्
सङ्कीर्तनामृतरसे रमते मनश्चेत् ।
प्रेमाम्बुधौ विहरणे यदि चित्तवृत्ति-
श्चैतन्यचन्द्रचरणं शरणं प्रयातु ॥*

(प्रबोधानन्द सरस्वती)

प्रेममें न भय है, न द्वेष । जिसने प्रेमका प्याला पी लिया है, उसे संसारमें सर्वत्र उसी एक परम प्रेमास्पद प्रभुका ही रूप दिखायी देता है, जब सभी अपने प्रेमास्पद हैं तो भय किसका । भय तो दूसरेसे होता है ।

---

* संसार-सागरको पार करनेकी यदि तुम्हारे हृदयमें प्रबल इच्छा है, यदि संकीर्तनामृतरसपान करनेके लिये तुम्हारा मन चाहता है, यदि प्रेम-पयोधिमें प्रेमपूर्वक विहार करनेके लिये तुम्हारे चित्तकी वृत्तियाँ छटपटाती हैं तो तुम श्रीचैतन्य-चरणोंकी शरणं लो' (तुम्हारा मङ्गल होगा) ।

नौरोजी डाकूको प्रेमदान

अपने आपसे किसीको भय नहीं। द्वेष गैरसे किया जाता है, जब सभी श्यामसुन्दरके हैं तब द्वेष किससे करें और क्यों करें?

महाप्रभु गौराङ्गदेव इस प्रकार खाण्डवादेवमें देव-दासियोंको श्रीकृष्ण-कीर्तनका उपदेश देकर आगेको चले। वहाँसे थोड़ी दूरपर एक चोरानन्दी वन था, इस वनमें बहुत-से डाकू बसते थे। उन सब डाकुओं-का दलपति नौरोजी डाकू था, वह बड़ा ही क्रूर और हिंसक था। सभी लोग उसके नामसे थर्राते थे, उस प्रदेशमें उसके नामका आतंक था। जब प्रभुने उस वनमें प्रवेश करनेका विचार किया तो लोगोंने उन्हें वहाँ जानेसे मना किया और कहा कि 'वे डाकू बड़े हिंसक हैं, आपका उधरसे जाना ठीक नहीं है।' किन्तु महाप्रभु उनकी बातको क्यों मानने लगे। उन्होंने कहा—'भाई, डाकू लोग तो रुपये-पैसेके लिये लोगोंको मारते हैं। हम घर-घरके भिखारी-संन्यासी हैं, हमें मारकर वे क्या लेंगे? वे यदि हमारी जान ही लेना चाहते हों तो भले ही ले लें। इस शरीरसे यदि किसीका भी काम चल जाय तो बड़ा उत्तम है।' ऐसा कहकर प्रभु उस वनमें घुस गये। वहाँ एक वृक्षके नीचे प्रभु पड़ रहे और शनैः शनैः सुमधुर हरि-नाम-संकीर्तन करने लगे। दलपति नौरोजीने सुना कि कोई संन्यासी यहाँ हमारे जङ्गलमें आया है, वह अपने दलके अनेक पुरुषोंके साथ प्रभुके पास आया और प्रभुको भोजनके लिये निमन्त्रित किया तथा अपने स्थानपर चलनेका आग्रह किया। प्रभुने कहा—'हम तो संन्यासी हैं, वृक्षतले ही हमारा आसन ठीक है, रही भोजनकी बात, सो भिक्षा ही हमारा एकमात्र आधार है, आप जो भिक्षा ले आवेंगे उसे हम सहर्ष स्वीकार करेंगे।'

प्रभुकी ऐसी आज्ञा पाकर उसने अपने दलके आदमियोंको आज्ञा दी; वे बात-की-बातमें भाँति-भाँतिकी खानेकी सामग्री ले आये। महाप्रभु श्रीकृष्ण-प्रेममें विभोर थे, उन्हें शरीरका ज्ञान ही नहीं था, वे प्रेममें

गद्गद कण्ठसे उन्मत्तकी तरह कीर्तन कर रहे थे, कभी-कभी नाचने भी लगते थे। नौरोजी अपने दल-बल-सहित प्रभुको घेरे बैठा था। महाप्रभुके इस अभूतपूर्व अलौकिक प्रभु-प्रेमको देखकर उसका भी पत्थर-जैसा हृदय पसीज गया। उसने जीवनभर लोगोंकी हिंसा की थी और डाके ही डाले थे। इस समय उसकी अवस्था साठ वर्षके लगभग थी। महाप्रभुके अलौकिक प्रेमने उस साठ वर्षके बूढ़े डाकूके ऊपर भी अपना जादू डाल दिया। वह धीरे-धीरे प्रभुके पाद-पद्मोंको पकड़कर कहने लगा—'स्वामीजी! आप यह कौन-सा मन्त्र उच्चारण कर रहे हैं, मुझे भी इस मन्त्रका उपदेश दीजिये। पता नहीं आपने मेरे ऊपर क्या जादू डाल दिया है कि अब मेरा मन हिंसा और डकैतीसे बिल्कुल हट गया है। अब मैं भी आपके चरणोंकी शरणमें रहकर निरन्तर श्रीकृष्ण-कीर्तन करना चाहता हूँ। आप मुझे इस मन्त्रका उपदेश दीजिये। भगवन्! मेरा जन्म वैसे तो ब्राह्मण-वंशमें ही हुआ है, किन्तु बाल्यकालसे ही मैंने हिंसा और डकैतीका काम किया है, आजतक कभी भी मेरे मनमें इन कामोंसे वैराग्य नहीं हुआ, किन्तु न जाने आज आपके दर्शनसे मुझे क्या हो गया कि अब कुछ अच्छा ही नहीं लगता। अब मैं आपके चरणोंको नहीं छोड़ूँगा। आप मुझे अपनी पदधूलि प्रदान करके कृतार्थ कीजिये और जिस मन्त्रके संकीर्तनसे आप इतने आनन्दमग्न हो रहे हैं, उसका उपदेश मुझे भी कीजिये।'

प्रभुने उसकी ऐसी आर्तवाणी सुनकर कहा—'नौरोजी! तुम बड़े ही भाग्यशाली हो, जो इस वृद्धावस्थामें तुमको ऐसा निर्वेद हुआ। श्रीकृष्ण-कीर्तन ही संसारमें सार है। ये धन-रत्न तो सभी नश्वर और क्षणभङ्गुर हैं। तुम घबड़ाओ मत, भगवान् तो प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि चाहे कोई कितना भी बड़ा दुराचारी क्यों न हो, यदि वह अनन्यभावसे मुझे भजता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिये। दयालु श्रीहरिने तुम्हारे

ऊपर परम कृपा की जो तुम्हें सद्बुद्धि प्रदान की, अब तुम निरन्तर हरि-नाम-कीर्तन ही किया करो।' ऐसा उपदेश करके प्रभुने उसे महामन्त्रकी दीक्षा दी।

प्रातःकाल उठकर प्रभु चलनेको तैयार हुए तो नौरोजीने भी अपने सभी अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये और अपने दलके सब आदमियोंको बुलाकर वह गद्गद कण्ठसे कहने लगा—'भाइयो! हम सब इतने दिन साथ रहे, तुम्हें मैं समय-समयपर उचित-अनुचित आज्ञा देता रहा और तुमने भी प्राणोंकी कुछ भी परवा न करके मेरी समस्त आज्ञाओंका पालन किया। साथमें रहनेसे और नित्यके व्यवहारोंसे गलती और अपराधोंका होना स्वाभाविक ही है; इसलिये भाई! मुझसे जिसका भी कोई अपकार हुआ हो, वह मुझे सच्चे हृदयसे क्षमा कर दे। अब मैं अपने भगवान्‌की शरणमें जा रहा हूँ जिनकी शरणमें जानेसे पापी-से-पापी भी सुखी और निर्भय हो जाता है। अब मैं किसी जीवकी हिंसा न करूँगा। आजसे मेरे लिये सभी प्राणी उस परमपिता परमात्माके पुत्र हैं। जान-बूझकर अब मैं एक चींटीकी भी हिंसा न करूँगा। बाल्यकालसे अबतक मैंने धनके लिये न जाने कितने पाप किये हैं, कितनी हिंसाएँ की हैं। अरबों-करोड़ों रुपये इन हाथोंसे लूटे हैं और खर्च किये हैं। अब मैं द्रव्यको अपने हाथोंसे स्पर्श भी न करूँगा। अबतक हजारों आदमियोंका मेरे द्वारा प्रतिपालन होता था, आजसे मैं स्वयं भिखारी बन गया हूँ, अब पेटकी ज्वालाको बुझानेके लिये मैं द्वार-द्वारपर मधुकरी भिक्षा करूँगा। तुम लोग मुझे क्षमा करो और ऐसा आशीर्वाद दो कि मैं अपने शेष जीवनको इसी प्रकार श्रीकृष्ण-प्रेममें पागल बनकर बिताऊँ।'

नौरोजीकी ऐसी बात सुनकर उसके दलके सभी डाकू रोने लगे। उसका दल छिन्न-भिन्न हो गया, बहुतोंने डाका डालनेका काम छोड़ दिया। नौरोजी प्रभुके साथ चल दिया।

आजतक बहुत-से आदमियोंने प्रभुसे साथ चलनेकी प्रार्थना की थी, किन्तु प्रभुने किसीको भी साथ नहीं लिया। परम भाग्यवान् नौरोजीके भाग्यकी कोई कहाँतक प्रशंसा करे, जिसे प्रभुने प्रसन्नतापूर्वक साथ चलनेकी अनुमति दे दी।

आगे-आगे महाप्रभु उनके पीछे गोविन्ददास और सबसे पीछे नौरोजी संन्यासी चलते थे। इस प्रकार चलते-चलते खण्डलामें पहुँचे। वहाँपर लोगोंने महाप्रभुका खूब सत्कार किया, वहाँसे चलकर प्रभु नासिक आये और वहाँ पञ्चवटीमें नृत्य-कीर्तन करते हुए आनन्दमें मग्न हो गये। नौरोजी महाप्रभुके श्रीअङ्गके पसीनेको बार-बार पोंछते रहते थे। उस समयके बड़ौदाके महाराजा बड़े ही भक्त थे। उन्होंने बहुत द्रव्य लगाकर भगवान्का एक मन्दिर बनवाया था, उसमें स्वयं ही भगवान्की पूजा तथा साधु-महात्माओंका सत्कार करते थे। महाप्रभु श्रीकृष्णकी मूर्तिके दर्शन करके प्रेमानन्दमें मग्न होकर नृत्य करने लगे। महाराज उनके अद्भुत नृत्य और अलौकिक प्रेमके भावोंको देखकर मुग्ध हो गये। उन्होंने महाप्रभुका बहुत सत्कार किया। बहुत-कुछ भेंट करनेकी इच्छा की, किन्तु महाप्रभुने संन्यास-धर्मके अनुसार मुष्टि-भिक्षाके अतिरिक्त कुछ भी ग्रहण नहीं किया। बड़ौदामें ही आकर नौरोजीने महाप्रभुके सामने अपने इस नश्वर शरीरका त्याग किया। महाप्रभुने रोते-रोते आत्मीय पुरुषकी तरह एक भक्त वैष्णवकी भाँति उसे अपने करकमलोंसे समाधिमें सुला दिया। इस प्रकार जन्मसे हिंसा और धन-अपहरण करनेवाला एक डाकू महाप्रभुकी शरण आनेसे अमर हो गया।

नीलाचलमें प्रभुका प्रत्यागमन

उद्दामदामनकदम्बगणाभिराम-
मारामराममविरामगृहीतनाम ।
कारुण्यधाम कनकोज्ज्वलगौरधाम
चैतन्यनाम परमं कलयाम धाम ॥*

बड़ौदासे चलकर महाप्रभु अहमदाबाद आये, वहाँपर दो बंगाली वैष्णवोंसे प्रभुकी भेंट हुई । उनसे नवद्वीपका समाचार पाकर प्रभुकी पूर्वस्मृति पुनः जाग्रत हो उठी । उनसे कुशलक्षेम पूछकर प्रभुने द्वारकाके लिये प्रस्थान किया । द्वारकाजीके मन्दिरमें जाकर प्रभु आनन्दमें मग्न होकर नृत्य-कीर्तन करने लगे । वहाँसे समुद्र-किनारे होते हुए सोमनाथ शिवजीके दर्शनोंके लिये प्रभासक्षेत्रमें आये, जहाँपर प्रची सरस्वती हैं । इस प्रकार समस्त तीर्थोंमें भ्रमण करके अब प्रभुकी इच्छा पुनः नीलाचल लौटनेकी हुई । इसलिये गोदावरीनदीके किनारे-किनारे होते हुए पुनः विद्यानगरमें पहुँच गये ।

महाप्रभुके आनेका समाचार पाते ही राय रामानन्दजी उसी समय प्रभुके दर्शनोंके निमित्त दौड़े आये । प्रभुने उनका गाढ़ालिंगन किया । रायने विनीतभावसे कहा—'प्रभो ! इस अधमको आप भूले नहीं हैं और इसकी स्मृति अभीतक आपके हृदयमें बनी हुई है, इस बातको स्मरण करके मैं प्रसन्नताके कारण अपने अंगोंमें फूला नहीं समाता । आज आपने पुनः दर्शन देकर मुझे अपनी परम कृपाका यथार्थमें ही पात्र बना लिया ।'

प्रभुने कहा—'राय महाशय, यथार्थमें तो आपके ही दर्शनसे मेरे

---

* श्रीकृष्ण-कीर्तनमें उन्मत्त हुए भक्तोंके समूहसे जो शोभित है और निरन्तर जिसके श्रीमुखसे राम-राम ऐसा शब्द उच्चारण होता रहता है, जो करुणाका धाम तथा सुवर्णके समान निर्मल एवं गौर कान्तिवाला है उस चैतन्य नामक परम धामका हम आश्रय लेते हैं ।

सब तीर्थ सफल हो गये थे। फिर भी मैं और तीर्थोंमें वैसे ही चला गया। जितना सुख मुझे यहाँ आपके साथ मिला था, उतना अन्यत्र कहीं भी नहीं मिला। अब फिर मैं उसी आनन्दको प्राप्त करने आपके पास आया हूँ। कहावत है—'लाभाल्लोभः प्रजायते।' अर्थात् जितना ही लाभ होता है, उतना ही अधिक लोभ बढ़ता जाता है। इसलिये अब तो यही सोचकर आया हूँ कि आपके ही साथ निरन्तर वास करके उस आनन्द-रसका आस्वादन करता रहूँ।'

रामानन्दजीने अत्यन्त ही संकोचके साथ कहा—'प्रभो! मैंने आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके महाराजको राज-काजसे अवकाश देनेकी प्रार्थना की थी। उन्होंने मेरी प्रार्थनाको स्वीकार करके बुलाया है। अब तो आपके चरणोंमें रहनेका सम्भवतया सौभाग्य प्राप्त हो सके।'

प्रभुने कहा—'इसीलिये तो मैं आया ही हूँ; अब आपको साथ लेकर ही पुरी चलूँगा।'

राय महाशयने कुछ विवशता-सी दिखाते हुए कहा—'प्रभो! मेरे साथ चलनेमें आपको कष्ट होगा। अभी मुझे बहुत-से राजकाज करने शेष हैं, फिर मेरे साथ हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर बहुत-से चलेंगे। उन सबके साथ आपको कष्ट होगा। इसलिये आप पहले अकेले ही पुरी पधारें, फिर मैं भी पीछेसे आ जाऊँगा।'

प्रभुने राय रामानन्दजीकी इस बातको स्वीकार किया और वे तीन-चार दिन विद्यानगरमें रहकर जिस रास्तेसे आये थे, उसीसे अलालनाथ पहुँच गये। अलालनाथ पहुँचनेपर प्रभुने कृष्णदासके द्वारा नित्यानन्द आदिके समीप अपने आनेका समाचार भेजा। ये लोग प्रभुकी प्रतीक्षामें उसी प्रकार बैठे हुए थे जिस प्रकार अङ्गदादि वानर समुद्रको पार करके सीताजीकी खोजके लिये गये हुए हनुमान्‌जीकी प्रतीक्षामें समुद्रके किनारे बैठे थे। प्रभुका समाचार पाते ही नित्यानन्दादि सभी भक्त प्रभुसे मिलनेके लिये दौड़े आये। रास्तेमें दूरसे ही आते हुए

उन्होंने प्रभुको देखा। प्रभुको देखते ही सभीने भूमिपर लोटकर प्रभुके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रभुने उन सबको क्रमशः अपने हाथोंसे उठा-उठाकर प्रेमालिङ्गन दान दिया। आज दो वर्षोंके पश्चात् प्रभुका प्रेमालिङ्गन पाकर सभी प्रेममें बेसुध हो गये और प्रेमके अश्रु बहाते हुए प्रभुके पीछे-पीछे चले।

इतनेमें ही सामनेसे सार्वभौम भट्टाचार्य तथा गोपीनाथाचार्य प्रभुको आते हुए दिखायी दिये। प्रभुने अस्त-व्यस्तभावसे दौड़कर उनका जल्दीसे आलिङ्गन करना चाहा, किन्तु वे इससे पहले ही प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े। प्रभुने उनको स्वयं उठाया, उनका आलिङ्गन किया और उनके वस्त्रोंमें लगी हुई धूलिको अपने हाथोंसे पोंछा। सभी लोग प्रभुके पीछे-पीछे चले। सबसे पहले महाप्रभु जगन्नाथजीके दर्शनके लिये गये। वहाँके कर्मचारी प्रभुकी प्रतीक्षामें सदा चिन्तित-से बने रहते थे। सहसा प्रभुके आगमनका समाचार सुनकर सभी आनन्दके सहित नृत्य करने लगे। प्रभुने भगवान्‌को साष्टाङ्ग प्रणाम किया और भाँति-भाँतिसे स्तुति करने लगे। पुजारीने आकर माला और प्रसाद प्रभुकी भेंट किया। बहुत दिनोंके पश्चात् पुरुषोत्तम भगवान्‌का महाप्रसाद पाकर प्रभु परम प्रसन्न हुए और प्रसादको उसी समय उन्होंने पा लिया। फिर भक्तोंके सहित मन्दिरकी प्रदक्षिणा करते हुए प्रभु भट्टाचार्य सार्वभौमके घर आये। सार्वभौमने प्रभुको भिक्षाके लिये निमन्त्रित किया और सभी भक्तोंके सहित उन्होंने प्रभुको भिक्षा करायी।

प्रभुके रहनेके लिये भट्टाचार्यने महाराज प्रतापरुद्रजीसे परामर्श करके महाराजके पुरोहित काशी मिश्रके एकान्त-निर्जन स्थानमें पहलेसे ही प्रबन्ध कर रक्खा था। प्रभुको वह स्थान बहुत पसन्द आया और प्रभु उसीमें रहने लगे।

प्रेम-रस-लोलुप भ्रमर-भक्तोंका आगमन

क्वचित् क्वचिदयं यातु स्थातुं प्रेमवशंवदः।
न विस्मरति तत्रापि राजीवं भ्रमरो हृदि ॥*
(सु० र० भां० २३२। ४४)

कस्तूरीको कितना भी छिपाकर रखो, उसकी गन्ध फैल ही जाती है और उसके प्रभावको जाननेवाले पुरुष दूरसे ही जान जाते हैं कि यहाँपर कीमती कस्तूरी विद्यमान है। प्रेम छिपानेसे नहीं छिपता। प्रेमको विज्ञापनकी आवश्यकता नहीं। कमलके खिलते ही मधु-लोलुप भ्रमर अपने-आप ही उसके ऊपर टूट पड़ते हैं। रस होना चाहिये। भ्रमरोंकी क्या कमी। सर्दीके दिनोंमें आग जलाकर स्वतन्त्र स्थानमें बैठ जाओ, तापनेवाले अपने-आप ही एकत्रित हो जायँगे—उन्हें बुलानेकी आवश्यकता न पड़ेगी।

प्रेमार्णव गौराङ्गदेवके संसर्गमें रहकर जो पहले प्रेम-रसका पान कर चुके थे, उन्हें भला उनके सिवा दूसरी जगह वह रस कहाँ मिल सकता था? जिनके कर्णोंमें उस अद्वितीय रसकी प्रशंसा भी पड़ गयी थी वे उस रसराज महासागरके दर्शनके ही लिये लालायित बने हुए थे। सार्वभौम भट्टाचार्यके मुखसे प्रभुकी प्रशंसा सुनकर कटकाधिपति महाराज प्रतापरुद्रदेवजी भी प्रभुके दर्शनोंके लिये अत्यन्त ही उत्कण्ठित बने हुए थे। श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरके सभी कर्मचारी, पुरीके बहुत-से गण्यमान पुरुष तथा अनेक साधु-सन्त प्रभुके दर्शनकी इच्छा रखते थे। प्रभुके

---

* प्रेम-परतन्त्र भ्रमर चाहे कहीं भी रहनेके लिये क्यों न चला जाय, किन्तु वहाँ भी वह हृदयसे कमलको नहीं भूल सकता।

पुरी पधारनेका समाचार सुनकर भट्टाचार्य सार्वभौमके सहित बहुत-से प्रेमी पुरुष प्रभुसे मिलनेके लिये आये। प्रभुने सभीको प्रेमपूर्वक बैठनेके लिये कहा। सभी प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करके बैठ गये। सार्वभौम भट्टाचार्य प्रभुको सबका पृथक्-पृथक् परिचय कराने लगे। सबसे पहले उन्होंने काशी मिश्रका परिचय दिया—'ये महाराजके कुलगुरु और राज्यपुरोहित श्रीकाशी मिश्र हैं। प्रभुके चरणोंमें इनका दृढ़ अनुराग है। आपके चले जानेपर ये दर्शनके लिये बड़े ही उत्कण्ठित-से बने रहे। यह घर जिसमें प्रभु ठहरे हुए हैं, इन्हींका है।'

प्रभुने मिश्रजीकी ओर प्रेमभरी चितवनसे देखते हुए कहा—'मिश्रजी, मैं आज आपके दर्शनोंसे कृतार्थ हुआ। आप तो मेरे पिताके समान हैं। आपके घरमें रहकर मैं भक्तोंके सहित कृष्ण-कीर्तन करता हुआ कालयापन करूँगा। और नित्य आपके दर्शन पाता रहूँगा। इससे बढ़कर मेरे लिये और कौन-सी सौभाग्यकी बात हो सकती है?'

हाथ जोड़े हुए अत्यन्त ही विनीत-भावसे काशी मिश्रने कहा—'प्रभो! यह घर आपका ही है और सेवा करनेके लिये यह दास भी सदा आपके चरणोंके समीप ही बना रहेगा। आप इसे अपना निजी सेवक समझकर जो भी आज्ञा हो, निःसंकोचभावसे कर दिया करें।'

इसके अनन्तर सार्वभौम भट्टाचार्यने जगन्नाथजीके अन्तरङ्ग-सेवक जनार्दन भगवान्‌के स्वर्णबेंतधारी कृष्णदास, प्रधान लिखिया शिखी माइती, उनके भाई मुरारी तथा बहिन माध्वी और महापात्र प्रहरिराज, प्रद्युम्न मिश्र आदि जगन्नाथजीके सेवकोंका प्रभुको परिचय कराया। प्रभु इन सबका परिचय पाकर इनकी बड़ाई करने लगे—'आपलोग ही धन्य हैं, जो निरन्तर श्रीभगवान्‌की सेवापूजामें लगे रहते हैं। मनुष्यका

मुख्य कर्तव्य यही है कि वह भगवत्सेवा-पूजाके अतिरिक्त मनसे भी किसी दूसरे संसारी कामोंका चिन्तन न करे।'

सभी भक्तोंने प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया और महाप्रभुकी आज्ञा पाकर वे अपने-अपने स्थानोंके लिये चले गये। इसके अनन्तर महाप्रभुने अपने साथ जानेवाले सेवक कृष्णदासको बुलाया। उसके आ जानेपर उसे लक्ष्य करके प्रभु भट्टाचार्य सार्वभौमसे कहने लगे—'भट्टाचार्य, आपलोगोंने इसे मेरे साथ इसलिये भेजा था कि अचेतनावस्थामें यह मेरे शरीरकी देख-रेख करे, इसने यथाशक्ति मेरी खूब सेवा-शुश्रूषा की किन्तु यह एक स्थानमें कुछ दम्भी साधुओंके बहकानेसे कामिनी-काञ्चनके लोभमें फँस गया। यह मुझे छोड़कर उनके साथ चला गया। जिसे कामिनी-काञ्चनका लोभ है, जो अपनी इन्द्रियोंपर इतना भी निग्रह नहीं कर सकता, उसे अपने पास रखना मैं उचित नहीं समझता। इसलिये आप इससे कह दें कि जहाँ इसकी इच्छा हो चला जावे। अब यह मेरे साथ नहीं रह सकता।'

प्रभुकी ऐसी बात सुनकर (काला) कृष्णदास बड़े ही ज़ोरोंके साथ रुदन करने लगा। किन्तु प्रभुने उसे फिर किसी भी प्रकार अपने साथ रखना स्वीकार नहीं किया। तब तो वह निराश होकर नित्यानन्दजीकी शरणमें गया और उनके चरण पकड़कर रोने लगा। नित्यानन्द आदि सभी भक्त इस बातको सोच रहे थे कि 'नवद्वीपमें प्रभुके प्रत्यागमनका समाचार किस प्रकार पहुँचे। नवद्वीपके सभी भक्त प्रभुके वियोगदुःखमें व्याकुल बने हुए हैं, शचीमाता अपने प्यारे पुत्रका कुछ भी समाचार न पानेके कारण अधीर हो रही होगी, विष्णुप्रियाजीका तो एक-एक दिन युगकी भाँति कटता होगा, इसलिये कृष्णदासको ही नवद्वीप क्यों न भेज दें। इससे प्रभुकी आज्ञाका भी पालन हो जायगा

और शोकसागरमें डूबे हुए सभी भक्तोंको भी परम आनन्द हो जायगा।' यह सोचकर उन्होंने अपने मनोगत भावोंको प्रभुके सम्मुख प्रकट किया। प्रभुने उत्तर दिया—'श्रीपाद ! मैं तो आपका नर्तक हूँ, जैसे नचायँगे वैसे ही नाचूँगा। आपकी इच्छाके विरुद्ध मैं कुछ नहीं कर सकता। जो आपको अच्छा लगे वही कीजिये।'

नित्यानन्दजीने दीनभावसे कहा—'प्रभो ! हम आपकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करना चाहते। आप जिस प्रकारकी आज्ञा करेंगे, उसीका हम सहर्ष पालन करेंगे। आपकी अनुमति हो, तभी हम इसे नवद्वीप भेज सकते हैं अन्यथा नहीं।'

प्रभुने कहा—'जब आपकी इच्छा है तब मेरी अनुमति ही समझें। आपकी इच्छाके विरुद्ध मेरी अनुमति हो ही नहीं सकती।'

प्रभुकी आज्ञा पाकर नित्यानन्दजीने कृष्णदासको जगन्नाथजीका प्रसाद देकर नवद्वीपके लिये भेज दिया। कृष्णदास नित्यानन्दजीकी आज्ञा पाकर और प्रभुके पादपद्मोंमें प्रणाम करके नवद्वीपके लिये चल दिया। इधर महाप्रभु पुरीमें भक्तोंके साथ रहकर नियमितरूपसे भजन-कीर्तन करने लगे। बहुत-से पुरीके भक्त आ-आकर प्रभुके दर्शनोंसे अपनेको कृतार्थ करने लगे। राय रामानन्दजीके पिता राजा भवानन्दजीने जब प्रभुके आगमनका समाचार सुना तब वे अपने चारों पुत्रोंके सहित महाप्रभुके दर्शनके लिये आये। प्रभु उनका परिचय पाकर अत्यन्त ही आनन्दित हुए और प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—'जिनके रामानन्द-जैसे भगवद्भक्त पुत्र हों, वे महापुरुष तो देवताओंके भी वन्दनीय हैं, सचमुच आप धन्य हैं, आप तो साक्षात् महाराज पाण्डुके समान हैं, पाँचों पुत्र ही आपके पाँचों पाण्डव हैं। राय रामानन्द युधिष्ठिरके समान सत्यप्रतिज्ञ, धर्मात्मा और भगवत्-भक्त हैं। आपकी गृहिणी

साक्षात् कुन्ती देवीके समान हैं । आपसे मिलकर मुझे बड़ी भारी प्रसन्नता हुई । आप मुझे रामानन्दजीकी ही भाँति अपना पुत्र समझें ।'

हाथ जोड़े हुए भवानन्दजीने कहा—'मैं शूद्राधम, प्रभुकी इस असीम कृपाका अपनेको कभी भी अधिकारी नहीं समझता । आप भक्त-वत्सल हैं, पतितपावन आपका प्रसिद्ध नाम है, उसी अपने नामको सार्थक कर दिखानेके लिये आप मुझ-जैसे संसारी विषयी पुरुषपर अपनी अहैतुकी कृपा कर रहे हैं । प्रभो ! आपके श्रीचरणोंमें मेरी यही बारम्बार प्रार्थना है कि इस अधमको अपने चरणोंकी शरण प्रदान कीजिये । मैं अपने परिवारके सहित आपके चरणोंका दास हूँ । जिस समय जो भी आज्ञा हो उसे निःसङ्कोचभावसे कह दें ।' यह कहकर राजा भवानन्दजीने अपने कनिष्ठ पुत्र श्रीवाणीनाथजीको सदा प्रभुकी सेवा करनेके लिये नियुक्त किया । प्रभुने वाणीनाथको स्वीकार कर लिया और वाणीनाथजी अधिकतर प्रभुकी ही सेवामें रहने लगे ।

इधर महाप्रसादके साथ (काला) कृष्णदास नवद्वीपमें शची-माताके समीप पहुँचा । पुत्रका ही सदा चिन्तन करती रहनेवाली माता अपने प्यारे दुलारे सुतका समाचार पाकर आनन्दमें विभोर होकर अश्रुविमोचन करने लगी । विष्णुप्रियाजी भी अपनी सासके समीप आ बैठीं । माता एक-एक करके पुत्रकी सभी बातोंको पूछने लगी । यह समाचार क्षणभरमें ही सम्पूर्ण नगरमें फैल गया । चारों ओरसे भक्त आ-आकर शचीमाताके आँगनमें संकीर्तन करने लगे । बात-की-बातमें ही शचीमाताका घर आनन्द-भवन बन गया । हजारों भक्त 'हरि हरि' की गगनभेदी आनन्द-ध्वनिसे दिशा-विदिशाओंको गुँजाने लगे । कृष्णदाससे कोई प्रभुके शरीरका समाचार पूछता, कोई यात्राका वृत्तान्त सुनना चाहता, कोई नवद्वीप कब पधारेंगे, इसी बातको बीसों बार दुहराने

लगता। इस प्रकार कृष्णदाससे सभी लोग विविध भाँतिके एक साथ ही प्रश्न पूछने लगे। कृष्णदास यथाशक्ति सबका उत्तर देता। प्रभुके कुशल-समाचार सुनाता, उनकी यात्राकी दो-चार बातें बताकर कह देता—'अब सब बातें फुरसतमें सुना दूँगा।' सभी भक्त बड़े ही मनोयोगके साथ कृष्णदासकी बातोंको सुनते। इस प्रकार वह दिन बात-की-बातमें ही प्रभुका समाचार पूछते-पूछते ही व्यतीत हो गया।

दूसरे दिन श्रीवास आदि भक्तवृन्द कृष्णदासको साथ लेकर शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर गये और उन्होंने बड़े ही उल्लासके सहित प्रभुके पुरीमें लौट आनेका समाचार सुनाया और प्रभुका भेजा हुआ महाप्रसाद भी उन्हें दिया। प्रभुके समाचार और महाप्रसादको पाते ही बूढ़े आचार्यके सभी अंग-प्रत्यंग मारे प्रेमके फड़कने लगे, वे लम्बी-लम्बी साँसें खींचते हुए हा गौर! हा गौर! कहकर प्रेममें निमग्न हो गये और उठकर जोरोंसे संकीर्तन करने लगे। कुछ समयके पश्चात् प्रेमका तूफान समाप्त हुआ, तब अद्वैताचार्य अन्य सभी भक्तोंके साथ पुरी चलकर प्रभुके दर्शन करनेके सम्बन्धमें परामर्श करने लगे। सभीने निश्चय किया कि शीघ्र ही प्रभुके दर्शनोंके लिये चलना चाहिये।

पाठक! श्रीपरमानन्द पुरी महाराजका नाम न भूले होंगे। ये महाप्रभुको दक्षिण-यात्राके समय मिले थे और गंगास्नानकी इच्छासे प्रभुसे विदा होकर नवद्वीपकी ओर आये थे। प्रभुने इनसे पुरीमें आकर एक साथ रहनेकी प्रार्थना की थी और इन्होंने इसे सहर्ष स्वीकार भी कर लिया था। प्रभुसे विदा होकर वे गंगाजीके दक्षिण किनारे-किनारे नवद्वीप आये थे और यहाँ आकर उन्होंने शचीमाताको प्रभुका संवाद सुनाया। संन्यासीके मुखसे प्रभुका समाचार सुनकर माताको अत्यधिक आनन्द हुआ और उसने पुरीमहाराजका यथोचित खूब सत्कार किया।

पुरीमहाराज भक्तोंके आग्रहसे कुछ काल नवद्वीपमें ठहर गये थे। जब कृष्णदास प्रभुका समाचार लेकर नवद्वीप आया, तब आप वहीं थे, दूतके मुखसे प्रभुके पुरी पधारनेका समाचार पाकर परमानन्दपुरी सचमुच परमानन्दमें निमग्न हो गये और जल्दी-से-जल्दी वे प्रभुके समीप पहुँचनेका उद्योग करने लगे। उन्होंने सोचा 'हमें भक्तोंके चलनेकी प्रतीक्षा न करनी चाहिये। ये सब घर-गृहस्थीके काम करनेवाले हैं। तैयारियाँ करते-करते इन्हें महीनों लग जायँगे। इसलिये हमें इनसे पहले ही पहुँचकर प्रभुके दर्शन करने चाहिये।' यह सोचकर वे कमलाकान्त नामक महाप्रभुके एक ब्राह्मण भक्तको साथ लेकर पुरीके लिये चल दिये और रास्तेके सभी तीर्थोंके दर्शन करते हुए पुरी पहुँच गये।

पुरी पहुँचकर परमानन्दजी महाराज प्रभुकी खोज करने लगे। फिर उन्होंने सोचा 'पहले जगन्नाथजीके मन्दिरमें चलकर भगवान्के दर्शन कर लें, वहीं प्रभुका पता भी मिल जायगा।' यह सोचकर वे सीधे श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरकी ओर चले। मन्दिरमें प्रवेश करते ही उन्हें अनेक लोगोंसे घिरे हुए प्रभु दिखायी दिये। पुरीमहाराज उसी ओर बढ़े। दूरसे ही पुरीको आते देखकर प्रभुने उठकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और पुरीने उन्हें प्रेमपूर्वक गलेसे लगाया। दोनों ही महापुरुष एक दूसरेसे मिलकर परम प्रसन्न हुए और आनन्दमें विभोर होकर एक दूसरेकी स्तुति करने लगे। प्रभुने कहा—'भगवन्! अब आपको यहीं रहकर हमें अपनी संगतिसे आनन्दित करते रहना चाहिये।'

पुरीमहाराजने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'यहाँ आनेका हमारा और प्रयोजन ही क्या है; हम तो यहाँ केवल आपकी संगतिसे लाभ उठानेके ही निमित्त आये हैं।' यह सुनकर महाप्रभु पुरीमहाराजको साथ लिये हुए भीतर मन्दिरमें श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंके लिये गये और

दर्शन करके प्रदक्षिणा करते हुए अपने निवास-स्थानपर आये। वहाँ आकर प्रभुने अपने समीप ही एक स्वतन्त्र कुटिया श्रीपरमानन्दजी महाराजके रहनेके लिये दी और उनकी सेवा-शुश्रूषाके लिये एक स्वतन्त्र सेवक भी दिया।

प्रभुके आगमनका समाचार काशीतक पहुँच गया था। प्रभुके जो अत्यन्त ही अन्तरंग भक्त थे, वे प्रभुका समाचार पाते ही उनकी सेवामें उपस्थित होनेके लिये पुरी आने लगे। नवद्वीपके एक पुरुषोत्तमाचार्य नामक प्रभुके अत्यन्त ही प्रिय भक्त और विद्वान् ब्राह्मण थे। महाप्रभुके चरणोंमें उनकी बहुत ही अधिक प्रीति थी। जब महाप्रभुने संन्यास लिया, तब उन्हें अत्यन्त ही दुःख हुआ। वे अपने दुःखके आवेशको रोक नहीं सके। प्रभुके बिना उन्हें सम्पूर्ण नदिया-नगरी सूनी-सूनी-सी दिखायी देने लगी। घर-बार, तथा संसारी सभी वस्तुएँ उन्हें काटनेके लिये दौड़ती-सी दिखायी देने लगीं। वे प्रभुके वियोगसे दुखी होकर श्रीकाशीधाममें चले गये और वहाँपर स्वामी चैतन्यानन्दजी महाराजसे उन्होंने संन्यासकी दीक्षा ले ली। इनके गुरुने इनका संन्यासका नाम रखा 'स्वरूप' प्रभुने उसमें पीछेसे दामोदर और मिला दिया था, इसलिये भक्तोंमें स्वरूपदामोदरके नामसे इनकी ख्याति है।

स्वामी चैतन्यानन्दजी जिस प्रकार मस्तिष्कप्रधान विचारवान् संन्यासी हुआ करते हैं, उसी प्रकारके थे, किन्तु उनके शिष्य स्वरूपदामोदर परम सहृदय, हृदय-प्रधान और भक्त-हृदयके पुरुष थे। इसीलिये वे गुरुके पथका अनुसरण नहीं कर सके। गुरुदेवने जैसा कि शिष्यको उपदेश करना चाहिये वैसा ही अद्वैतवेदान्तके विचार और प्रचारका उपदेश किया किन्तु उनका हृदय तो साकार प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णकी भक्तिके लिये

तड़प रहा था, इसीलिये वे अपने गुरुदेवकी आज्ञाका पालन न कर सके। जब उन्होंने सुना कि दक्षिणकी यात्रा समाप्त करके प्रभु पुनः पुरीमें आकर निवास करने लगे हैं, तब तो उनसे वाराणसीमें नहीं रहा गया और वे अपने गुरुदेवसे आज्ञा लेकर पुरीके लिये चल दिये। काशीसे पैदल चलकर वे सीधे प्रभुके समीप पहुँचे। इन्हें देखते ही प्रभुके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। महाप्रभु इनसे लिपट गये और अत्यन्त ही स्नेहके साथ इनका बार-बार आलिङ्गन करने लगे। तबसे ये प्रभुके सदा साथ ही रहे।

स्वरूपदामोदरकी प्रभुके चरणोंमें अलौकिक भक्ति थी। इन्हें गौरभक्त महाप्रभुका दूसरा विग्रह ही मानते हैं। सचमुच इनमें सभी गुण महाप्रभुके ही अनुरूप थे। इनके शरीरका वर्ण भी महाप्रभुकी भाँति गौर था। शरीर इकहरा और मनको स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित करनेवाला था। ये बड़े ही विनयी, सदाचारी और सरस हृदयके थे। विशेष भीड़भाड़ इन्हें पसन्द नहीं थी। एकान्तवास इन्हें बहुत प्रिय था। किन्तु प्रभुको छोड़कर ये एक क्षणके लिये भी कहीं नहीं जा सकते थे। ये किसीसे भी विशेष बातचीत नहीं करते थे। विद्वान् होनेके साथ ही ये महान् गम्भीर थे। महाप्रभुके ही साथ खाते, उन्हींके पास बैठते और उन्हींकी सेवामें अपना सभी समय व्यतीत करते। १२ वर्ष जब महाप्रभु सदा विरहावस्थामें बेसुध बने रहे, तब ये सदा महाप्रभुके सिरको गोदमें रखकर सोते थे। महाप्रभु जब राधाभावमें विरह-वेदनासे व्याकुल होकर रुदन करने लगते तब उन्हें ललिता-भावसे मानते और इनके गलेमें अपनी भुजाओंको डालकर रात-रातभर प्रलाप करते रहते। सचमुच गौरभक्तोंमें स्वरूपदामोदरका जीवन बड़ा ही भावमय, प्रेममय और प्रणयमय था। यदि निरन्तररूपसे छायाकी तरह ये महाप्रभुके साथ न रहते, तो महाप्रभुकी बारह वर्षकी गम्भीरा लीला आज संसारमें अप्रकट ही बनी रहती। ये महाप्रभुकी नित्यकी अवस्थाको अपने कड़चा (दैनन्दिनी)

में लिखते गये। वही आज भक्तोंको परम सुखकारी और मधुरभावकी पराकाष्ठा समझानेवाला ग्रन्थ स्वरूपदामोदरके कड़चाके नामसे प्रसिद्ध है।

महाप्रभुका इनके प्रति अत्यधिक स्नेह था। महाप्रभुके मनोगत भावोंको जिस उत्तमताके साथ ये समझ लेते थे, उस प्रकार कोई भी उनके भावोंको नहीं समझ सकता था। 'अमुक विषयमें महाप्रभुकी क्या सम्मति होगी।' इसे ये यों ही सरलतापूर्वक बता देते थे और इसमें प्रायः भूल होती ही नहीं थी। महाप्रभुको भक्तिविहीन भजन, काव्य अथवा पद सुननेसे घृणा थी, इसलिये महाप्रभुको कुछ सुनानेके पूर्व वह स्वरूपदामोदरको पहले सुना दिया जाता। उनकी आज्ञा प्राप्त होनेपर ही वह पीछेसे प्रभुको सुनाया जाता। जैसे ये गम्भीर प्रकृति, शान्त और एकान्तप्रिय थे वैसे ही इनका कण्ठ भी बड़ा मधुर और सुरीला था। ये महाप्रभुको विद्यापति ठाकुर, महाकवि चण्डीदासके पद तथा गीत-गोविन्द आदि भक्तिसम्बन्धी ग्रन्थोंके श्लोक गा-गाकर सुनाया करते थे। प्रभु जबतक इनके पदोंको नहीं सुन लेते थे, तबतक उनकी तृप्ति नहीं होती थी। इनके गुण अनन्त हैं। उन्हें महाप्रभु ही जान सकते थे। इसीलिये महाप्रभुको इनके आगमनसे सबसे अधिक प्रसन्नता हुई। प्रभु कहने लगे—'तुम आ गये, इससे मुझे कितनी प्रसन्नता हुई, उसे व्यक्त करनेमें मैं असमर्थ हूँ, सचमुच तुम्हारे बिना मैं अन्धा था। तुमने आकर ही मुझे आलोक प्रदान किया है। मैं सदा तुम्हारे विषयमें सोचा करता था। कल ही मैंने स्वप्नमें देखा था कि तुम आ गये हो और खड़े-खड़े मुस्करा रहे हो, सो सचमुच ही आज तुम आ गये। तुमने यह बड़ा ही उत्तम कार्य किया जो यहाँ चले आये। अब मुझे छोड़कर मत चले जाना।'

प्रेमपूर्ण स्वरमें धीरे-धीरे स्वरूपदामोदरने कहा—'प्रभो! मैं स्वयं आपके चरणोंमें आ ही कैसे सकता हूँ। जब मेरे पाप उदय हुए,

तभी तो आपके चरणोंसे पृथक् होकर मैं अन्यत्र चला गया। अब जब आपने अनुग्रह करके बुलाया है, तो बरवश आपके प्रेमपाशमें बँधा हुआ चला आया हूँ और जबतक चरणोंमें रखेंगे, तबतक मैं कहीं अन्यत्र जा ही कैसे सकता हूँ ?' यह कहकर स्वरूप प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े। महाप्रभु उन्हें उठाकर उनकी पीठपर धीरे-धीरे हाथ फेरते रहे। उस दिनसे स्वरूपदामोदर सदा प्रभुके समीप ही बने रहे।

एक दिन एक सरल-से पुरुषने आकर प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया और वह हटकर हाथ जोड़े हुए खड़ा हो गया। महाप्रभुके समीप उस समय सार्वभौम भट्टाचार्य, नित्यानन्द आदि बहुत-से भक्त बैठे हुए थे। महाप्रभुने उस विनयी पुरुषसे पूछा—'भाई ! तुम कौन हो और कहाँसे आये हो ?'

उस पुरुषने बड़ी ही सरलताके साथ धीरे-धीरे उत्तर दिया—'प्रभो ! मैं पूज्य श्रीईश्वरपुरी महाराजका भृत्य हूँ। पुरीमहाराज मुझे 'गोविन्द' के नामसे पुकारते थे। सिद्धि-लाभ करते समय मैंने उनसे प्रार्थना की कि मेरे लिये क्या आज्ञा होती है। तब उन्होंने मुझे आपकी सेवामें रहनेकी आज्ञा दी। उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं आपके श्रीचरणोंमें उपस्थित हुआ हूँ। मेरे एक दूसरे गुरुभाई काशीश्वर और हैं। वे तीर्थयात्रा करनेके निमित्त चले गये हैं। तीर्थयात्रा करके वे भी श्रीचरणोंके समीप ही आकर रहेंगे। अब मुझे जैसी आज्ञा हो।'

इतना सुनते ही प्रभुका गला भर आया। उनकी आँखोंकी कोर अश्रुओंसे भीग गयी। पुरीमहाराजके प्रेमका स्मरण करके वे कहने लगे—'पुरीमहाराजका मेरे ऊपर सदा वात्सल्य-स्नेह रहा है। यद्यपि मुझे मन्त्र-दीक्षा देकर न जाने वे कहाँ चले गये, तबसे उनके फिर मुझे दर्शन ही नहीं हुए। फिर भी वे मुझे भूले नहीं। मेरा स्मरण उन्हें अन्ततक बना रहा।

अहा ! अन्तसमयमें उन महापुरुषने मेरा स्मरण किया, इससे अधिक मेरे ऊपर उनकी और कृपा हो ही क्या सकती है ? मैं अपने भाग्यकी कहाँतक प्रशंसा करूँ, मैं अपने सौभाग्यकी किस प्रकार सराहना करूँ जो अन्तर्यामी गुरुदेवने शरीर त्यागते समय भी अपनी वाणीसे मेरा नामोच्चार किया । सार्वभौम महाशय ! आप ही मुझे सम्मति दें कि मैं इनके बारेमें क्या करूँ । ये मेरे गुरु महाराजके सेवक रहे हैं, इसलिये मेरे भी पूज्य हैं, इनसे मैं अपने शरीरकी सेवा कैसे करवा सकता हूँ । और यदि इन्हें अपने समीप नहीं रखता हूँ, तो गुरु-आज्ञाका भंग होता है । अब आप ही बताइये मुझे ऐसी दशामें क्या करना चाहिये ।'

सार्वभौमने कहा—'प्रभो ! 'गुरोराज्ञा गरीयसी' गुरुकी आज्ञा ही श्रेष्ठ है । गोविन्द सुशील हैं, नम्र हैं, आपके चरणोंमें इनका स्वाभाविक अनुराग है । सेवाकार्यमें ये प्रवीण हैं । इसलिये इन्हें अपनी शरीरकी सेवाका अप्राप्य सुख प्रदान करके अपने गुरु महाराजकी भी इच्छा-पूर्ति कीजिये और इन्हें भी आनन्द दीजिये ।'

भट्टाचार्यकी इस सम्मतिको प्रभुने स्वीकार कर लिया और गोविन्द-को अपने शरीरकी सेवाका कार्य सौंपा । उसी दिनसे गोविन्द सदा प्रभुकी सब प्रकारकी सेवा करते रहते थे । वे प्रभुसे कभी भी पृथक् नहीं हुए । बारह वर्षतक जब प्रभुको शरीरका बिल्कुल भी होश नहीं रहा, तब गोविन्द जिस प्रकार माता छोटे पुत्रकी सब प्रकारकी सेवा करती है, उसी प्रकारकी सभी सेवा गोविन्द किया करते थे । इनका प्रभुके प्रति वात्सल्य और दास्य दोनों ही प्रकारका स्नेह था । ये सदा प्रभुके पैरोंको अपनी छाती-पर रखकर सोया करते थे । गौड़-देशसे भक्त नाना प्रकारकी बढ़िया-बढ़िया वस्तुएँ प्रभुके लिये बनाकर लाते थे । वे सब गोविन्दको ही देते थे और उन्हींकी सिफारिशसे वे प्रभुके पासतक पहुँचती थीं । वे सब

चीजोंको बता-बताकर और यह कहते हुए कि अमुक वस्तु अमुकने भेजी है, प्रभुको आग्रहपूर्वक खिलाते थे। इनके-ऐसा सच्चा सेवक त्रिलोकीमें बहुत ही दुर्लभ है।

एक दिन प्रभु भीतर बैठे हुए थे। उसी समय मुकुन्दने आकर धीरेसे कहा—'प्रभो! श्रीमत् केशव भारतीजी महाराजके गुरुभाई श्रीब्रह्मानन्दजी भारती महाराज आपसे मिलनेके लिये बाहर खड़े हैं, आज्ञा हो तो उन्हें यहाँ ले आऊँ।'

प्रभुने जल्दीसे कहा—'वे हमारे गुरुतुल्य हैं, उन्हें लेनेके लिये हम स्वयं ही बाहर जायँगे।' यह कहकर प्रभु अस्त-व्यस्तभावसे जल्दी-जल्दी बाहर आये। वहाँ उन्होंने मृगचर्म ओढ़े हुए ब्रह्मानन्दजी भारतीको देखा। महाप्रभु चारों ओर देखते हुए जल्दी-जल्दी मुकुन्दसे पूछने लगे—'मुकुन्द, मुकुन्द! भारती महाराज कहाँ हैं? तुम कहते थे, भारती महाराज पधारे हैं, जल्दीसे मुझे उनके दर्शन कराओ।'

मुकुन्द इस बातको सुनकर आश्चर्यचकित हो गये। भारती महाप्रभुके सामने ही खड़े हैं, फिर भी महाप्रभु भारतीजीके सम्बन्धमें पूछ रहे हैं। इसलिये उन्होंने कहा—'प्रभो! ये भारतीमहाराज आपके सामने ही तो खड़े हैं!'

महाप्रभुने कुछ दृढ़ताके स्वरमें कहा—'नहीं, कभी नहीं, तुम झूठ कह रहे हो। भला, भारतीमहाराज इस प्रकार मृगचर्म ओढ़कर दिखावा कर सकते हैं।' प्रभुकी इस बातको सुनकर सभी चकितभावसे प्रभुकी ओर निहारने लगे। भारतीमहाराज समझ गये कि प्रभुको मेरा यह मृगचर्माम्बर रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ है, इसीलिये उन्होंने उसे उसी समय फेंक दिया। प्रभुने उसी समय उनके चरणोंमें प्रणाम किया। वे

लज्जितभावसे कहने लगे—'आप हमें प्रणाम न करें। आप तो साक्षात् ईश्वर हैं।'

प्रभुने कहा—'आप हमारे गुरु हैं, आपको भी प्रणाम न करेंगे तो और किसे करेंगे। हमारे तो साकार भगवान् आप ही हैं।'

भारतीजीने कहा—'विधि-निषेध तो साधारण लोगोंके लिये हैं। आपका गुरु हो ही कौन सकता है? आप स्वयं ही जगत्के गुरु हैं।' इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेकी स्तुति करने लगे। भारतीजी वहीं महाप्रभुके समीप ही रहने लगे। प्रभुने उनकी भिक्षा आदिकी सभी व्यवस्था कर दी।

इसके थोड़े ही दिनों बाद श्रीईश्वरपुरीजीके शिष्य काशीश्वर गोस्वामी भी तीर्थ-यात्रा करके महाप्रभुके समीप आ गये। वे शरीरसे खूब हृष्ट-पुष्ट तथा बलवान् थे। प्रभुके प्रति उनका अत्यधिक स्नेह था। उनको भी प्रभुने अपने समीप ही रखा। इस प्रकार चारों ओरसे भक्त आ-आकर प्रभुकी सेवामें उपस्थित होने लगे।

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें नित्यप्रति हजारों आदमियोंकी भीड़ लगी रहती है। पर्वके दिनोंमें तो लोगोंको दर्शन मिलने दुर्लभ हो जाते हैं। महाप्रभु जब दर्शनोंके लिये जाते थे, तब काशीश्वर आगे-आगे चलकर भीड़को हटाते जाते। महाप्रभु ब्रह्मानन्द भारती, परमानन्दपुरी, नित्यानन्दजी, जगदानन्दजी, स्वरूपदामोदर तथा अन्य सभी भक्तोंको साथ लेकर दर्शनोंके लिये जाया करते थे। उस समयकी उनकी शोभा अपूर्व ही होती थी। प्रभु अपने सम्पूर्ण परिकरके मध्यमें नृत्य करते हुए बड़े ही सुन्दर मालूम होते थे। दर्शनार्थी श्रीजगन्नाथजीके दर्शनोंको भूलकर इन्हींके दर्शन करते रह जाते थे।

महाराज प्रतापरुद्रको प्रभु-दर्शनके लिये आतुरता

हेलोद्धूलितखेदया विशदया प्रोन्मीलदामोदया
शाम्यच्छास्त्रविवादया रसदया चित्तार्पितोन्मादया।
शश्वद्भक्तिविनोदया शमदया माधुर्यमर्यादया
श्रीचैतन्य दयानिधे तव दया भयादमन्दोदया॥*
(चै० चन्द्रो० ना० अं० ८।१०)

---

* हे दयानिधे श्रीचैतन्य ! आपकी जो दया लीलासे ही दुखोंको नष्ट कर देनेवाली, निर्मल तथा परमानन्दको प्रकाशित करनेवाली है, जिससे शास्त्रीय विवाद शान्त हो जाते हैं, जो रस-प्रदान करके चित्तको उन्मादी बना डालती है, जिसका निरन्तर भक्तिसे ही विनोद होता है, जो शान्तिदायिनी और मधुरिमाकी चरम सीमा है उस (दया) का अमन्द आविर्भाव हो।

हम पहले ही बता चुके हैं कि सार्वभौम भट्टाचार्यके द्वारा महाप्रभुका परिचय पाकर कटकाधिपति महाराज प्रतापरुद्रजीके हृदयमें प्रभुके प्रति प्रगाढ़ भक्ति उत्पन्न हो गयी थी। महाराज बड़े धर्मात्मा थे, विद्याव्यासङ्गी थे और साधु-ब्राह्मणोंके प्रति श्रद्धा-भक्ति भी रखते थे, किन्तु कैसे भी सही, थे तो राजा ही। संसारी विषय-भोगोंमें फँसे रहना तो उनके लिये एक साधारण-सी बात थी। किन्तु ज्यों-ज्यों उनकी महाप्रभुके चरणोंमें भक्ति बढ़ने लगी, त्यों-ही-त्यों उनकी संसारी विषय-भोगोंकी लालसा कम होती गयी। हृदयकी कोठरी बहुत ही छोटी है, जहाँ विषयोंकी भक्ति है, वहाँ साधु-महात्माओंके प्रति भक्ति रह ही नहीं सकती, और जिनके हृदयमें साधु-महात्मा तथा भगवद्भक्तोंके लिये श्रद्धा है, वहाँ काम रह ही नहीं सकता। तभी तो तुलसीदासजीने कहा है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कैसे रहि सकैं, रवि-रजनी इक ठाम॥

साधु-चरणोंमें ज्यों-ज्यों प्रीति बढ़ती जायगी, त्यों-ही-त्यों अभिमान, बड़प्पन और अपनेको सर्वश्रेष्ठ समझनेके भाव कम होते जायँगे। महाराजके पास बहुत-से साधु, पण्डित तथा विद्वान् स्वयं ही दर्शन देने और उन्हें आशीर्वाद प्रदान करनेके लिये उनके दरबारमें आते थे, इसीलिये उनकी इच्छा थी कि महाप्रभु भी आकर उन्हें दर्शन दे जायँ किन्तु महाप्रभुको न तो स्वादिष्ट पदार्थ खानेकी इच्छा थी, न वे अपना सम्मान ही चाहते थे और न उन्हें रुपये-पैसेकी अभिलाषा थी। फिर वे राजदरबारमें क्यों जाते। प्रायः लोग इन्हीं तीन कामोंसे राजाके यहाँ जाते हैं। महाप्रभु इन तीनों विषयोंको त्यागकर वीतरागी संन्यासी बन चुके थे। संन्यासीके लिये शास्त्रोंमें राजदर्शनतक निषेध बताया गया है। हाँ, कोई राजा भक्तिभावसे आकर संन्यासियोंके दर्शन

कर ले यह दूसरी बात है, उस समय उसकी स्थिति राजाकी न होकर श्रद्धालु भक्तकी ही होगी। स्वयं त्यागी संन्यासी राजासे उसकी राजापनेकी स्थितिमें मिलने न जायगा। महाराजको इस बातका क्या पता था। अभीतक उन्हें ऐसा सच्चा संन्यासी कभी मिला ही नहीं था। इसीलिये प्रभुके पुरीमें पधारनेका समाचार पाकर महाराजने सार्वभौम भट्टाचार्यके समीप पत्र भिजवाया और उसमें उन्होंने महाप्रभुके दर्शनकी इच्छा प्रकट की।

महाराजके आदेशानुसार भट्टाचार्य महाप्रभुके समीप गये और कुछ डरते हुए-से कहने लगे—'प्रभो! मैं एक निवेदन करना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो कहूँ? आप अभय-दान देंगे तभी कह सकूँगा।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'ऐसी कौन-सी बात है, कहिये, आप कोई मेरे अहितकी बात थोड़े ही कह सकते हैं? जिसमें मेरा लाभ होगा उसे ही आप कहेंगे।'

भट्टाचार्यने कुछ प्रेमपूर्वक आग्रहके साथ कहा—'आपको मेरी प्रार्थना स्वीकार करनी पड़ेगी।'

प्रभुने हँसते हुए कहा—'वाह, यह खूब रही, अभीसे वचनबद्ध कराये लेते हैं, माननेयोग्य होगी तो मानूँगा, नहीं तो 'ना' कर दूँगा और फिर आप 'ना' करनेयोग्य बात कहेंगे ही क्यों?'

प्रभुके इस प्रकारके चातुर्ययुक्त उत्तरको सुनकर कुछ सहमत हुए भट्टाचार्य महाशय कहने लगे—'प्रभो! महाराज प्रतापरुद्र आपके दर्शनके लिये बड़े ही उत्कण्ठित हैं, उन्हें दर्शन देकर अवश्य कृतार्थ कीजिये।'

प्रभुने कानोंपर हाथ रखते हुए कहा—'श्रीविष्णु श्रीविष्णु' आप शास्त्रज्ञ पण्डित होकर भी ऐसी धर्मविहीन बात कैसे कह रहे हैं? राजाके

दर्शन करना तो संन्यासीके लिये पाप बताया है। जब आप अपने होकर भी मुझे इस प्रकार धर्मच्युत होनेके लिये सम्मति देंगे, तब मैं यहाँ अपने धर्मकी रक्षा कैसे कर सकूँगा ? तब तो मुझे पुरीका परित्याग ही करना पड़ेगा। भला, संसारी विषयोंमें फँसे हुए राजाके दर्शन ? कैसी दुःखकी बात है ? सुनिये—

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।
संदर्शनं विषयिणामथ योषिताञ्च
हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु॥
(चै० चन्द्रो० ना० अं० ८। ८३)

अर्थात् 'जो भगवद्भजनके लिये उत्सुक और अकिञ्चन होकर इस अपार भवसागरको सम्पूर्णरूपसे पार करना चाहते हैं ऐसे भगवान्‌की ओर बढ़नेवाले भक्तोंके लिये विषय-भोगोंमें फँसे हुए लोगोंका और स्त्रियोंका दर्शन, हाय! हाय! विषभक्षणसे भी अधिक असाधु है।' विषभक्षण करनेपर तो मनुष्यका इहलोक ही नष्ट होता है, किन्तु इन दोनोंके संसर्गसे तो लोक-परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिये भट्टाचार्य महाशय आप मुझे क्षमा करें।

अत्यन्त ही विनीतभावसे भट्टाचार्य सार्वभौमने कहा—'प्रभो! आपका यह वचन शास्त्रानुकूल ही है। किन्तु महाराज परमभक्त हैं। जगन्नाथजीके सेवक हैं, आपके चरणोंमें उनका दृढ़ अनुराग है। इन सभी कारणोंसे वे प्रभुके कृपापात्र बननेके योग्य हैं। आप उनसे राजापनेके भावसे न मिलिये। मान लीजिये, वे विषयी ही हैं, तो आपकी तो वे कुछ हानि नहीं कर सकते। उलटे उनका ही उद्धार हो जायगा। आपकी कृपासे संसारी लोगोंका संसार-बन्धन छूट जाता है।

महाप्रभुने कहा—'भट्टाचार्य महाशय! यह बात नहीं है—

आकारादपि भेतव्यं स्त्रीणां विषयिणामपि।
यथाऽहेर्मनसः क्षोभस्तथा तस्याकृतेरपि॥
(चै० चन्द्रो० ना० अं० ८।२४)

'(त्यागी पुरुषको) स्त्रियोंकी और विषयी पुरुषोंकी आकृतिसे भी डरना चाहिये; क्योंकि साँपसे जिस प्रकार चित्तमें क्षोभ होता है उसी प्रकार उसकी आकृतिसे भी होता है।' फिर उनके साथ वार्तालाप और संसर्ग करना तो दूर रहा।

इस उत्तरको सुनकर भट्टाचार्य चुप हो गये, फिर उन्होंने प्रभुसे इस सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा। वे विषण्ण मनसे अपने घर लौट गये और सोचने लगे राजाको क्या उत्तर लिखूँ। इसी सोच-विचारमें वे दो-तीन दिन पड़े रहे। उन्होंने राजाको कुछ भी उत्तर नहीं लिखा।

इसी बीचमें राय रामानन्दजी विद्यानगरसे कटक होते हुए पुरीमें प्रभुके दर्शनके निमित्त आये। प्रभु उन्हें देखते ही एकदम खिल उठे और भूमिमें पड़े हुए राय रामानन्दजीको उठाकर उनका गाढ़ालिङ्गन किया। बार-बार छातीसे लगाते हुए प्रभु कहने लगे—'मुझे राम ही नहीं मिले आनन्दके सहित राम मिले हैं। अब मेरे आनन्दकी सीमा नहीं रही। अब मैं निरन्तर आनन्द-सागरमें ही गोते लगाता रहूँगा।'

रामानन्दके प्रति प्रभुके ऐसे प्रगाढ़ प्रेमको देखकर सभी भक्त विस्मित हो गये, वे रामानन्दके भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। स्वस्थ होकर बैठ जानेपर राय महाशयने कहा—'प्रभो! आपके आज्ञानुसार राजकाजसे अवकाश ग्रहण करनेके निमित्त मैंने महाराजसे निवेदन किया था। मैंने स्पष्ट कह दिया कि मुझे अब इस कार्यसे छुट्टी मिलनी चाहिये। अब मैं पुरीमें निवास करके श्रीचैतन्य-चरणोंका सेवन करूँगा।'

मेरे मुखसे आपका नाम सुनकर महाराज परम प्रसन्न हुए। उन्होंने उठकर मेरा आलिङ्गन किया और समीपमें बैठाकर आपके सम्बन्धमें वे बहुत-सी बातें पूछते रहे। आपके चरणोंमें उनके ऐसे दृढ़ अनुरागको देखकर मैं विस्मित हो गया। जो पहले मुझसे सीधी तरहसे बोलते भी नहीं थे, वे ही आपके सेवक होनेके नाते मुझसे बराबरके मित्रकी भाँति मिले और मेरा इतना अधिक सत्कार किया।

प्रभुने कहा—'राय महाशय, आपके ऊपर भगवान्‌की कृपा है, आप श्रीकृष्णके किङ्कर हैं, भगवत्-अनुचरोंका सभी लोग आदर करते हैं।' इस प्रकार परस्परमें बहुत देरतक इसी प्रकारकी प्रेमवार्ता होती रही। राय महाशयने पुरी, भारती, नित्यानन्दजी आदि उपस्थित सभी साधु-महात्माओंकी चरण-वन्दना की और फिर वे प्रभुसे आज्ञा लेकर भगवान्‌के दर्शन करनेके लिये चले गये।

उसी समय कटकाधिप महाराज प्रतापरुद्र भगवान्‌की रथयात्राके निमित्तसे पुरी पधारे। उन्होंने सार्वभौम भट्टाचार्यको बुलवाकर उनसे पूछा—'भट्टाचार्य महाशय! आपने महाप्रभुसे मेरे सम्बन्धमें पूछा था ?'

भट्टाचार्यने कहा—'मैंने बार-बार प्रार्थना की, किन्तु उन्होंने आपसे मिलना स्वीकार ही नहीं किया।'

महाराजने कहा—'जब वे सर्वसमर्थ होकर मुझ-जैसे पापियोंसे इतनी घृणा करते हैं, तो मुझ-ऐसे अधमोंका उद्धार कैसे होगा ?'

भट्टाचार्यने कहा—'उनकी तो ऐसी प्रतिज्ञा है कि वे राजाके दर्शन नहीं करते।'

महाराजने अत्यन्त ही वेदनाके स्वरमें कहा—'यदि उनकी ऐसी प्रतिज्ञा है, तो मेरी भी यह प्रतिज्ञा है कि या तो प्रभुकी पूर्णकृपा प्राप्त करूँगा या इस शरीरका ही परित्याग कर दूँगा।'

महाराजके ऐसे दृढ़ अनुरागको देखकर सार्वभौम भट्टाचार्य बहुत ही विस्मित हुए और महाराजको सान्त्वना देते हुए कहने लगे—'महाराज, आप इतने अधीर न हों। मेरा हृदय कह रहा है कि प्रभु आपके ऊपर अवश्य कृपा करेंगे। कल राय रामानन्दजीने प्रभुके सम्मुख आपकी बहुत ही अधिक प्रशंसा की थी, उसका प्रभाव मुझे प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर हुआ। प्रभुका मन आपकी ओरसे बहुत ही अधिक कोमल हो गया है। अब आप एक काम कीजिये। राजवेषसे तो उनसे मिलना ठीक नहीं है। रथयात्राके समय जब प्रभु भक्तोंके सहित श्रीजगन्नाथजीके रथके आगे-आगे नृत्य करते हुए चलेंगे, तब आप साधारण वेषमें जाकर उनके सामने कोई भक्तिपूर्ण श्लोक पढ़ने लगियेगा। प्रभु भक्त समझकर आपका दृढ़ आलिङ्गन करेंगे। तभी आपकी सभी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जायँगी।'

सार्वभौम भट्टाचार्यका बताया हुआ यह उपाय महाराजको पसन्द आया और उन्होंने भट्टाचार्यसे पूछा—'रथयात्रा किस दिन होगी?' भट्टाचार्यने हिसाब करके बताया—'आजसे तीसरे दिन रथयात्रा होगी। तभी हम सब मिलकर उद्योग करेंगे।' यह सुननेसे महाराजको सन्तोष हुआ और भट्टाचार्य महाराजकी अनुमति लेकर अपने स्थानको चले आये।

गौर-भक्तोंका पुरीमें अपूर्व सम्मिलन

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥*

(चैत० म० भा०)

अहा! कितना सुखद संवाद है, हृदयको प्रफुल्लित कर देनेवाला यह कैसा मनोहारी वृत्तान्त है!! अपने प्रियके सम्मिलन-सुखको सुनकर

---

* कामनाओंके कल्पवृक्ष, करुणाके सागर और पतितोंको पवित्र करनेवाले विष्णुभक्तोंको नमस्कार है।

ऐसा कौन हृदयहीन जड़-बुद्धि पुरुष होगा, जिसका मन-कमल खिल न उठता हो। नीतिकारोंने ठीक ही कहा है 'अमृतं प्रियदर्शनम्।'

—इस संसारमें अपने प्यारेसे भेंट होना ही सर्वोत्तम अमृत है। जो इस अमृतका निरन्तर पान करते रहते हैं, ऐसे भक्तोंके चरणोंमें हमारा बारम्बार प्रणाम है।

महाप्रभुके पुरी पधारनेका समाचार सुनते ही गौर-भक्तोंके आनन्दकी सीमा नहीं रही। बहुत-से भक्त तो प्रभुके साथ संकीर्तन-सुखका आनन्द अनुभव कर चुके थे। बहुत-से ऐसे भी थे, जिन्होंने अभीतक महाप्रभुके प्रत्यक्ष दर्शन ही नहीं किये थे। उन्होंने प्रभुके बिना दर्शन किये ही, उन्हें आत्मसमर्पण कर दिया था। आज उनके आनन्दका कहना ही क्या है, सभी भक्त प्रभुके दर्शनकी खुशीमें अपने आपेको भूले हुए हैं। सभीने पुरीमें चलकर प्रभुके दर्शनोंका निश्चय किया। सभी भक्तोंके अग्रणी आचार्य अद्वैत ही थे। उनकी सम्मति हुई कि हमलोगोंको पुरीके लिये शीघ्र ही प्रस्थान कर देना चाहिये, जिससे आषाढ़में होनेवाली भगवान्‌की रथयात्रामें भी सम्मिलित हो सकें और बरसातके चार महीने प्रभुके समीप ही बितावें।

यह सम्मति सबको पसन्द आयी, सभी अपने-अपने घरोंका चार महीनेका प्रबन्ध करके पुरी जानेके लिये तैयार हो गये। श्रीवास आदि सभी भक्तोंने शची मातासे प्रभुके समीप जानेके लिये विदा माँगी। वात्सल्यमयी जननीने अपने संन्यासी पुत्रके लिये भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ भेजीं। भक्तोंने उन सभी वस्तुओंको सावधानीपूर्वक अपने साथ रख लिया और वे माताकी चरण-वन्दना करके पुरीके लिये चल दिये। लगभग २०० भक्त गौरगुण गाते हुए और खोल-करतालके साथ संकीर्तन करते हुए पैदल ही चले। आगे-आगे वृद्ध अद्वैताचार्य युवा पुरुषकी भाँति

प्रभुके दर्शनकी उत्सुकताके कारण जल्दी-जल्दी चल रहे थे, उनके पीछे सभी भक्त नवीन उत्साहके साथ—

हरिहरये नमः कृष्णाय यादवाय नमः।
गोपाल गोविन्द राम श्रीमधुसूदन॥

इस पदका संकीर्तन करते हुए चल रहे थे। इस प्रकार चलते-चलते २० दिनमें वे पुरीके निकट पहुँच गये।

इधर भगवान्की स्नान-यात्राका समय समीप आ पहुँचा। महाप्रभु बड़ी ही उत्सुकतासे स्नान-यात्राकी प्रतीक्षा करने लगे। स्नान-यात्राके दिन महाप्रभु अपने भक्तों सहित मन्दिरमें दर्शन करनेके लिये गये। उस दिनके उनके आनन्दका वर्णन कौन कर सकता है। महाप्रभु प्रेममें बेसुध होकर उन्मत्त पुरुषकी भाँति मन्दिरमें ही कीर्तन करने लगे। लोगोंकी अपार भीड़ महाप्रभुके चारों ओर एकत्रित हो गयी। जैसे-तैसे भक्त उन्हें स्थानपर लाये।

स्नान-यात्राके अनन्तर १५ दिनतक भगवान् अन्तःपुरमें रहते हैं, इसलिये १५ दिनोंतक मन्दिरके फाटक एकदम बन्द रहते हैं, किसीको भी भगवान्के दर्शन नहीं हो सकते। महाप्रभुके लिये यह बात असह्य थी, वे भगवान्के दर्शनके लोभसे ही तो पुरीमें निवास करते हैं, जब भगवान्के दर्शन ही न होंगे, तो वे फिर पुरीमें किसके आश्रयसे ठहर सकते हैं। फाटक बन्द होते ही महाप्रभुकी वियोग-वेदना बढ़ने लगी और वह इतनी बढ़ी कि फिर उनके लिये पुरीमें रहना असह्य हो गया, वे गोपियोंकी भाँति विरहके भावावेशमें पुरीको छोड़कर अकेले ही अलालनाथ चले गये। वे अपने प्यारेके दर्शन न पानेसे इतने दुःखी हुए कि उन्होंने भक्तोंकी अनुनय-विनयकी कुछ भी परवा न की। प्रभुके पुरी-परित्यागके कारण सभी भक्तोंको अपार दुःख हुआ। महाराज प्रतापरुद्रजीने भी

प्रभुके अलालनाथ चले जानेका समाचार सुना। उन्होंने भट्टाचार्य सार्व-भौमसे प्रभुको लौटा लानेके लिये भी कहा। उसी समय गौड़ीय भक्तोंके आगमनका समाचार सुना। इस संवादको सुनकर सभीको बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। सार्वभौम भट्टाचार्य नित्यानन्दजी आदि भक्तोंको साथ ले-कर प्रभुको लौटा लानेके लिये अलालनाथ गये। वहाँ जाकर इन लोगोंने प्रभुसे प्रार्थना की कि पुरीके भक्त तो आपके दर्शनके लिये व्याकुल हैं ही। गौड़-देशसे भी बहुत-से भक्त केवल प्रभुके ही दर्शनके निमित्त आये हैं यदि वे प्रभुके पुरीमें दर्शन न पावेंगे, तो उन्हें अपार दुःख होगा; इस-लिये भक्तोंके ऊपर कृपा करके आप पुरी लौट चलें।

प्रभुने भक्तोंकी विनयको स्वीकार कर लिया। गौड़ीय भक्तोंके आगमन-संवादसे उन्हें अत्यधिक प्रसन्नता हुई और वे उसी समय भक्तोंके साथ पुरी लौट आये। 'महाप्रभु पुरी लौट आये हैं' इस संवादको सुनानेके निमित्त सार्वभौम भट्टाचार्य महाराज प्रतापरुद्रदेवजीके समीप गये। उसी समय पुरुषोत्तमाचार्यजी भी महाराजके समीप पहुँच गये। आचार्य-ने कहा—'महाराज, गौड़-देशसे लगभग २०० गौर-भक्त पुरी आये हुए हैं। उनके ठहरनेकी और महाप्रसादकी व्यवस्था करनी चाहिये, क्योंकि वे सब-के-सब महाप्रभुके चरणोंमें अत्यधिक अनुराग रखते हैं और इसीलिये वे आये भी हैं।'

महाराजने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'इसमें मुझसे पूछनेकी क्या बात है ? आप स्वयं ही सबका प्रबन्ध कर दें। मन्दिरके प्रबन्धक-को मेरे पास बुलाइये। मैं उनसे सबके महाप्रसादकी व्यवस्था करनेके लिये कह दूँगा। जितने भी भक्त हों उन सबके प्रसादका प्रबन्ध जबतक वे रहें मन्दिरकी ही ओरसे होगा। आप काशी मिश्रजीसे कह दें, वे ही सब भक्तों-के ठहरनेकी व्यवस्था कर दें।' इतना कहकर महाराजने उसी समय सेवकों-द्वारा सभी व्यवस्था करा दी।

महाराजने भट्टाचार्यसे कहा—'भट्टाचार्य महाशय ! मैं महाप्रभुके सभी भक्तोंके दर्शन करना चाहता हूँ, आप उन सबका मुझे परिचय करा दीजिये !'

भट्टाचार्यने कहा—'महाराज ! मैं स्वयं सब भक्तोंसे परिचित नहीं। नवद्वीपमें मेरा बहुत ही कम रहना हुआ है। हाँ, ये आचार्य गोपीनाथजी प्रायः सभी भक्तोंसे परिचित हैं, ये आपको सभी भक्तोंका भलीभाँति परिचय करा देंगे। आप एक काम कीजिये अट्टालिकापर चलिये, वहींसे सबके दर्शन भी हो जायँगे और आचार्य सबको बताते भी जायँगे।'

भट्टाचार्य सार्वभौमकी यह सम्मति महाराजको बहुत पसन्द आयी, वे उसी समय अट्टालिकापर चढ़कर कृष्ण-प्रेममें विभोर होकर संकीर्तन और नृत्य करते-करते आती हुई गौर-भक्त-मण्डलीको देखने लगे। सभी भक्त प्रेममें पागल बने हुए थे। सभीके कन्धोंपर उनके ओढ़ने-बिछानेके वस्त्र थे। किसीके गलेमें खोल लटक रही है, तो किसीके हाथमें करतालें ही हैं। कोई झाँझोंको ही बजा रहा है, तो कोई ऊपर हाथ उठा-उठाकर नृत्य ही कर रहा है। इस प्रकार भक्तोंकी पृथक्-पृथक् १४ मण्डलियाँ बनी हुई हैं। चौदहों खोल जब एक साथ बजते हैं तब उनकी गगनभेदी ध्वनिसे दिशायें गूँजने लगती हैं। महाराज अनिमेष दृष्टिसे उस गौर-भक्त-मण्डलीकी छवि निहारने लगे।

गौड़ीय भक्तोंके आगमनका संवाद सुनकर महाप्रभुने स्वरूप-दामोदर और गोविन्दको चन्दन-माला लेकर भक्तोंके स्वागतके निमित्त पहलेसे ही भेज दिया था। उन लोगोंने जाकर भक्ताग्रणी श्रीअद्वैताचार्य-का सबसे पहले स्वागत किया। पहले श्रीस्वरूपदामोदरने आचार्यके गलेमें माला पहनायी और फिर गोविन्दने भी श्रद्धापूर्वक आचार्यको माला

पहनाकर उनकी चरण-वन्दना की। आचार्यने गोविन्दको पहले कभी नहीं देखा था, इसलिये वे स्वरूप गोस्वामीसे पूछने लगे—'स्वरूप गोस्वामी, ये महाभाग भक्त कौन हैं, इन्हें तो मैंने पहले कभी नहीं देखा। क्या ये पुरीके ही कोई भक्त हैं?'

स्वरूप गोस्वामीने कहा—'नहीं, ये पुरीके नहीं हैं। श्रीईश्वरपुरी महाराजके सेवक हैं, जब वे सिद्धि प्राप्त करने लगे तो उन्होंने इन्हें प्रभुकी सेवामें रहनेकी आज्ञा दी थी। उनकी आज्ञा शिरोधार्य्य करके ये प्रभुके समीप आ गये और सदा उनकी सेवामें ही लगे रहते हैं। इनका नाम गोविन्द है। बड़े ही विनयी, सुशील और सरल हैं।' गोविन्दका परिचय पाकर आचार्यने उनका आलिङ्गन किया और सभीको साथ लेकर वे सिंहद्वारकी ओर चलने लगे।

महाराज प्रतापरुद्रजीने आचार्य गोपीनाथजीसे भक्तोंका परिचय करानेके लिये कहा। आचार्य सभी भक्तोंका परिचय कराने लगे। वे अँगुलीके संकेतसे बताने लगे—'जिन्होंने इन तेजस्वी वृद्ध भक्तको माला पहनायी है, ये महाप्रभुके दूसरे स्वरूप श्रीस्वरूपदामोदर गोस्वामी हैं, इनके साथ यह महाप्रभुके सेवक गोविन्द हैं। ये आगे-आगे जो उत्साहके साथ नृत्य कर रहे हैं, ये परम भागवत अद्वैताचार्य हैं। इनके पीछे जो ये चार गौर-वर्णके सुन्दर-से पण्डित हैं वे श्रीवास, वक्रेश्वर विद्यानिधि और गदाधर हैं। ये चन्द्रशेखर आचार्य हैं, महाप्रभुके पूर्वाश्रमके ये मौसा होते हैं। महाप्रभुके चरणोंमें इनका दृढ़ अनुराग है। ये शिवानन्द, वासुदेव दत्त, राघव, नन्दन, श्रीमान और श्रीकान्तपण्डित हैं।' इस प्रकार एक-एक करके आचार्य सभी भक्तोंका परिचय कराने लगे। भक्तोंका परिचय पाकर महाराजको बड़ी प्रसन्नता हुई।

उसी समय उन्होंने देखा गौड़ीय भक्त श्रीमन्दिरकी ओर न जाकर प्रभुके वासस्थानकी ओर जा रहे हैं और भवानन्दके पुत्र वाणीनाथ बहुत-सा प्रसाद लिये हुए जल्दी-जल्दी भक्तोंसे पहले प्रभुके पास पहुँचनेका प्रयत्न कर रहे हैं। यह देखकर महाराजने पूछा—'आचार्य महाशय! इन लोगोंका प्रभुके प्रति कितना अधिक स्नेह है। बिना प्रभुको साथ लिये ये लोग अकेले भगवान्‌के दर्शनके लिये भी नहीं जाते हैं। हाँ, ये वाणीनाथ इतना प्रसाद क्यों लिये जा रहे हैं?'

आचार्यने कहा—'महाप्रभु प्रसादद्वारा स्वयं इन सबका स्वागत करेंगे?'

महाराजने कहा—'तीर्थमें आकर सबसे प्रथम क्षौर और उपवासका विधान है, क्या उसे ये लोग न करेंगे?'

आचार्यने कहा—'करेंगे क्यों नहीं, किन्तु प्रभुके प्रेमके कारण उनका सबसे पहले क्षौर ही हो तब प्रसाद पावें ऐसा आग्रह नहीं है। महाप्रभुके हाथके प्रसादसे ये लोग अपना उपवास भङ्ग नहीं समझते।'

महाराजने कहा—'आप ठीक कहते हैं, प्रेममें नेम नहीं होता।'

इतना कहकर महाराज अट्टालिकासे नीचे उतर आये और मन्दिरके प्रबन्धकसे बहुत-सा प्रसाद जल्दीसे प्रभुके पास और पहुँचानेके लिये कहा। उन लोगोंने तो पहलेसे ही सब प्रबन्ध कर रखा था। महाराजकी आज्ञा पाते ही उन्होंने और भी प्रसाद पहुँचा दिया।

भक्तोंके साथ महाप्रभुकी भेंट

यस्यैव पादाम्बुजभक्तिलभ्यः
प्रेमाभिधानः परमः पुमर्थः।
तस्मै जगन्मङ्गलमङ्गलाय
चैतन्यचन्द्राय नमो नमस्ते ॥*

महाप्रभु अपने भक्तोंसे मिलनेके लिये व्याकुल हो रहे थे, आज दो वर्षके पश्चात् वे अपने सभी प्राणोंसे भी प्यारे भक्तोंसे पुनः मिलेंगे, इस बातका स्मरण आते ही प्रभु प्रेमसागरमें डुबकियाँ लगाने लगते।

---

* जिनके ही चरण-कमलोंकी भक्तिद्वारा 'प्रेम' नामक परम पुरुषार्थ सुलभ है उन जगत्के मङ्गलोंके भी मङ्गलस्वरूप श्रीचैतन्यदेवको बार-बार प्रणाम है।

इतनेमें ही उनके कानोंमें सङ्कीर्तनकी सुमधुर ध्वनि सुनायी पड़ी। उस नवद्वीपी ध्वनिको सुनते ही, प्रभुको श्रीवास पण्डितके घरकी एक-एक करके सभी बातें स्मरण होने लगीं। प्रभुके हृदयमें उस समय भाँति-भाँतिके विचार उठ रहे थे, उसी समय उन्हें सामनेसे आते हुए अद्वैताचार्यजी दिखायी दिये। प्रभुने अपने परिकरके सहित आगे बढ़कर भक्तोंका स्वागत किया। आचार्यने प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया, प्रभुने उनका गाढ़ालिङ्गन किया और बड़े ही प्रेमसे अश्रु-विमोचन करते हुए वे आचार्यसे लिपट गये। उस समय उन दोनोंके सम्मिलन-सुखका उनके सिवा दूसरा अनुभव ही कौन कर सकता है?

इसके अनन्तर श्रीवास, मुकुन्द दत्त, वासुदेव तथा अन्य सभी भक्तोंने प्रभुके चरणोंमें प्रणाम किया। प्रभु सभीको यथायोग्य प्रेमालिङ्गन प्रदान करते हुए सभीकी प्रशंसा करने लगे। इसके अनन्तर आप वासुदेवजीसे कहने लगे—'वसु महाशय! आपलोगोंके लिये मैं बड़े ही परिश्रमके साथ दक्षिण देशसे दो बहुत ही अद्भुत पुस्तकें लाया हूँ। उनमें भक्तितत्त्वका सम्पूर्ण रहस्य भरा पड़ा है।' इस बातसे सभीको बड़ी प्रसन्नता हुई और सभीने उन दोनों पुस्तकोंकी प्रतिलिपि कर ली। तभीसे गौरभक्तोंमें उन पुस्तकोंका अत्यधिक प्रचार होने लगा।

महाप्रभु सभी भक्तोंको बार-बार निहार रहे थे, उनकी आँखें उस भक्त-मण्डलीमें किसी एक अपने अत्यन्त ही प्रिय पात्रकी खोज कर रही थीं। जब कई बार देखनेपर भी अपने प्रिय पात्रको न पा सकीं तब तो आप भक्तोंसे पूछने लगे—'हरिदासजी दिखायी नहीं पड़ते, क्या वे नहीं आये हैं?'

प्रभुके इस प्रकार पूछनेपर भक्तोंने कहा—'वे हमलोगोंके साथ आये तो थे, किन्तु पता नहीं बीचमें कहाँ रह गये।' इतना सुनते ही

दो-चार भक्त हरिदासजीकी खोज करने चले। उन लोगोंने देखा, महात्मा हरिदासजी राजपथसे हटकर एक एकान्त स्थानमें वैसे ही जमीनपर पड़े हुए हैं। भक्तोंने जाकर कहा—'हरिदास! चलिये, आपको महाप्रभुने याद किया है।'

अत्यन्त ही दीनताके साथ कातर स्वरमें हरिदासजीने कहा—'मैं नीच पतित भला मन्दिरके समीप किस प्रकार जा सकता हूँ? मेरे अपवित्र अङ्गसे सेवा-पूजा करनेवाले महानुभावोंका कदाचित् स्पर्श हो जायगा, तो यह मेरे लिये असह्य बात होगी। मैं भगवान्के राजपथपर पैर कैसे रख सकता हूँ? महाप्रभुके चरणोंमें मेरा बार-बार प्रणाम कहियेगा और उनसे मेरी ओरसे निवेदन कर दीजियेगा कि मैं मन्दिरके समीप न आ सकूँगा, यहीं कहीं टोटाके समीप पड़ा रहूँगा।'

भक्तोंने जाकर यह समाचार महाप्रभुको सुनाया। इस बातको सुनते ही महाप्रभुके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। वे बार-बार महात्मा हरिदासजीके शील, चरित्र तथा अमानी स्वभावकी प्रशंसा करने लगे। वे भक्तोंसे कहने लगे—'सुन लिया आपलोगोंने, जो इस प्रकार अपनेको तृणसे भी अधिक नीचा समझेगा, वही कृष्णकीर्तनका अधिकारी बन सकेगा।' इतना कहकर महाप्रभु हरिदासजीके ही सम्बन्धमें सोचने लगे। उसी समय मन्दिरके प्रबन्धकके साथ काशी मिश्र भी वहाँ आ पहुँचे। मिश्रको देखते ही प्रभुने कहा 'मिश्रजी! इस घरके समीप जो पुष्पोद्यान है उसमें एक एकान्त कुटिया आप हमें दे सकते हैं?'

हाथ जोड़े हुए काशी मिश्रने कहा—'प्रभो! यह आप कैसी बात कह रहे हैं। सब आपका ही तो है, देना कैसा? आप जिसे जहाँ चाहें ठहरा सकते हैं। जिसे निकलनेकी आज्ञा दें वह उसी समय निकल सकता है। हम तो आपके दास हैं, जैसी आज्ञा हमें आप देंगे उसीका पालन हम करेंगे।'

यह कह काशी मिश्रने पुष्पोद्यानमें एक सुन्दर-सी एकान्त कुटिया साफ करा दी । गोपीनाथाचार्य सभी भक्तोंके निवास-स्थानकी व्यवस्था करने लगे । वाणीनाथ, काशी मिश्र तथा अन्यान्य मन्दिरके कर्मचारी भक्तोंके लिये भाँति-भाँतिका बहुत-सा प्रसाद लदवाकर लाने लगे । महाप्रभु जल्दीसे उठकर हरिदासजीके समीप आये ।

हरिदास जमीनपर पड़े हुए भगवन्नामोंका उच्चारण कर रहे थे । दूरसे ही प्रभुको अपनी ओर आते देखकर हरिदासजीने भूमिपर लेटकर प्रभुके लिये साष्टांग प्रणाम किया । महाप्रभुने जल्दीसे हरिदासजीको अपने हाथोंसे उठाकर गलेसे लगा लिया ।

हरिदासजी बड़ी ही कातर वाणीमें विनय करने लगे—'प्रभो ! इस नीच अधमको आप स्पर्श न कीजिये । दयालो ! इसीलिये तो मैं वहाँ आता नहीं था । मेरा अशुद्ध अङ्ग आपके परम पवित्र श्रीविग्रहके स्पर्श करने योग्य नहीं है ।'

महाप्रभुने अत्यन्त ही स्नेहके साथ कहा—'हरिदास ! आपका ही अङ्ग परम पावन है, आपके स्पर्श करनेसे करोड़ों यज्ञोंका फल मिल जाता है । मैं अपनेको पावन करनेके निमित्त ही आपका स्पर्श कर रहा हूँ । आपके अङ्ग-स्पर्शसे मेरे कोटि जन्मोंके पापोंका क्षय हो जायगा । आप-जैसे भागवत वैष्णवका अङ्ग-स्पर्श देवताओंके लिये भी दुर्लभ है ।' इतना कहकर प्रभु हरिदासजीको अपने साथ लेकर उद्यानवाटिकामें पहुँचे और उन्हें एकान्त कुटिया दिखाते हुए कहने लगे—'यहीं एकान्तमें रहकर निरन्तर भगवन्नामका जप किया करें । अब आप सदा मेरे ही समीप रहें । यहीं आपके लिये महाप्रसाद आ जाया करेगा । दूरसे भगवान्‌के चक्रके दर्शन करके मनमें जगन्नाथजीके

दर्शनका ध्यान कर लिया करें। मैं नित्यप्रति समुद्र-स्नान करके आपके दर्शन करने यहाँ आया करूँगा।'

महाप्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके हरिदासजी उस निर्जन एकान्त शान्त स्थानमें रहने लगे। महाप्रभु जगदानन्द, नित्यानन्द आदि भक्तोंको साथ लेकर समुद्र-स्नान करनेके निमित्त गये। प्रभुके स्नान कर लेनेके अनन्तर सभी भक्तोंने समुद्रस्नान किया और सभी मिलकर भगवान्के चूड़ा-दर्शन करने गये। दर्शनोंसे लौटकर सभी भक्त महाप्रभुके समीप आ गये। तबतक मन्दिरसे भक्तोंके लिये प्रसाद भी आ गया था। महाप्रभुने सभीको एक साथ प्रसाद पानेके लिये बैठाया और स्वयं अपने हाथोंसे भक्तोंको परोसने लगे। महाप्रभुके परोसनेका ढंग अलौकिक ही था। एक-एक भक्तके सम्मुख दो-दो चार-चार मनुष्योंके खाने योग्य प्रसाद परोस देते। प्रभुके परोसे हुए प्रसादके लिये मनाही कौन कर सकता था, इसलिये प्रभु अपनी इच्छानुसार सबको यथेष्ट प्रसाद परोसने लगे। परोसनेके अनन्तर प्रभुने प्रसाद पानेकी आज्ञा दी, किन्तु प्रभुके बिना किसीने पहले प्रसाद पाना स्वीकार ही नहीं किया। तब तो महाप्रभु पुरी, भारती तथा अन्य महात्माओंको साथ लेकर प्रसाद पानेके लिये बैठे। जगदानन्द, दामोदर, नित्यानन्दजी तथा गोपीनाथाचार्य आदि बहुत-से भक्त सब लोगोंको परोसने लगे। प्रभुने आज अन्य दिनोंकी अपेक्षा बहुत अधिक प्रसाद पाया तथा भक्तोंको भी आग्रहपूर्वक खिलाते रहे।

प्रसाद पा लेनेके अनन्तर सभीने थोड़ा-थोड़ा विश्राम किया, फिर राय रामानन्दजी तथा सार्वभौम भट्टाचार्य आकर भक्तोंसे मिले। प्रभुने परस्पर एक दूसरेका परिचय कराया। भक्त एक दूसरेका परिचय पाकर परम प्रसन्न हुए। फिर महाप्रभु सभी भक्तोंको साथ लेकर

जगन्नाथजीके मन्दिरके लिये गये। मन्दिरमें पहुँचते ही महाप्रभुने सङ्कीर्तन आरम्भ कर दिया। पृथक्-पृथक् चार सम्प्रदाय बनाकर भक्तवृन्द प्रभुको घेरकर सङ्कीर्तन करने लगे। महाप्रभु प्रेममें विभोर होकर सङ्कीर्तन-के मध्यमें नृत्य करने लगे। आज महाप्रभुको सङ्कीर्तनमें बहुत ही अधिक आनन्द आया। उनके शरीरमें प्रेमके सभी सात्त्विक विकार उदय होने लगे। भक्तवृन्द आनन्दमें मग्न होकर सङ्कीर्तन करने लगे। पुरी-निवासियोंने आजसे पूर्व ऐसा सङ्कीर्तन कभी नहीं देखा था। सभी आश्चर्यके साथ भक्तोंका नाचना, एक दूसरेको आलिङ्गन करना, मूर्छित होकर गिर पड़ना तथा भाँति-भाँतिके सात्त्विक विकारोंका उदय होना आदि अपूर्व दृश्योंको देखने लगे। महाराज प्रतापरुद्रजी भी अट्टालिकापर चढ़कर प्रभुका नृत्य-सङ्कीर्तन देख रहे थे। प्रभुके उस अलौकिक नृत्यको देखकर महाराजकी प्रभुसे मिलनेकी इच्छा और अधिकाधिक बढ़ने लगी।

महाप्रभुने कीर्तन करते-करते ही भक्तोंके सहित मन्दिरकी प्रदक्षिणा की और फिर शामको आकर भगवान्की पुष्पाञ्जलिके दर्शन किये। सभी भक्त एक स्वरमें भगवान्के स्तोत्रोंका पाठ करने लगे। पुजारी-ने सभी भक्तोंको प्रसादी, माला, चन्दन तथा प्रसादान्न दिया। भगवान्की प्रसादी पाकर प्रभु भक्तोंके सहित अपने स्थानपर आये। काशी मिश्रने सायंकालके प्रसादका पहलेसे ही प्रबन्ध कर रखा था, इसलिये प्रभुने सभी भक्तोंको साथ लेकर प्रसाद पाया और फिर सभी भक्त प्रभुकी अनुमति लेकर अपने-अपने ठहरनेके स्थानोंमें सोनेके लिये चले गये। इस प्रकार गौड़ीय भक्त जितने दिनों तक पुरीमें रहे, महाप्रभु इसी प्रकार सदा उनके साथ आनन्द-विहार और कथा-कीर्तन करते रहे।

राजपुत्रको प्रेम-दान

कटकाधिपस्य तनयं गौरवर्णं मनोहरम्।
आलिङ्गते सुप्रेम्णा तं गौरचन्द्रं नमाम्यहम्॥*

(प्र० द० ब्र०)

मनुष्यका एक स्वभाव होता है कि वह रहस्यकी बातें जाननेके लिये बड़ा उत्कण्ठित रहता है। जो बात सर्वसाधारणको सुलभ है, उसके लिये किसीकी उत्कण्ठा नहीं होती किन्तु यदि वही एकान्तमें रखकर सर्वसाधारणकी दृष्टिसे हटा दी जाय, तो लोगोंकी उसके प्रति जिज्ञासा बढ़ती ही जायगी। एक बात और है, जो वस्तु जितने ही अधिक परिश्रमसे जितनी ही अधिक प्रतीक्षाके पश्चात् प्राप्त होती है उसके प्रति उतनी ही अधिक प्रीति भी होती है। वस्तुएँ स्वयं मूल्यवान् या अमूल्य-

---

* कटकाधिप महाराज प्रतापरुद्रके गौर वर्णवाले सुन्दर पुत्रको जिन्होंने प्रेमपूर्वक गले लगाया उन श्रीगौरचन्द्रको मैं प्रणाम करता हूँ।

वान् नहीं हैं। उनकी प्राप्तिकी सुलभता-दुर्लभता देखकर ही लोगोंने उसका मूल्य स्थापित कर दिया है। यदि हीरा-मोती कंकड़-पत्थरोंकी भाँति सर्वत्र मिलने लगें, यदि सुवर्ण मिट्टीकी भाँति वैसे ही बिना परिश्रमके खोदनेसे मिल जाया करे तो न तो जनतामें इन वस्तुओंका इतना अधिक आदर होगा और न वे बहुमूल्य ही समझी जायँगी। इसीलिये मैं बार-बार लोगोंसे कहता हूँ, अपनेको मूल्यवान् बनाना चाहते हो, तो किसी भी काममें घोर परिश्रम करो, सर्वसाधारण लोगोंसे अपनेको ऊँचा उठा लो, विश्वसे प्रेम करना सीखो, तुम मूल्यवान् हो जाओगे। संसारमें सर्वश्रेष्ठ समझे जानेवाले राजे-महाराजे तुम्हारे चरणोंमें लोटेंगे और तुम उनके मान-सम्मानकी कुछ भी परवा न करोगे।

महाप्रभु ज्यों-ज्यों राजासे न मिलनेकी इच्छा प्रकट करने लगे त्यों-ही-त्यों कटकाधिप महाराज प्रतापरुद्रजीकी प्रभु-दर्शनकी उत्सुकता अधिकाधिक बढ़ती गयी। अब वे सोते-जागते प्रभुके ही सम्बन्धमें सोचने लगे। जब सार्वभौम भट्टाचार्यने कह दिया कि प्रभु स्वयं मिलनेके लिये सहमत नहीं हैं, तब महाराजने सार्वभौमके द्वारा प्रभुके अन्तरङ्ग भक्तोंके समीप प्रार्थना की कि वे प्रभुके चित्तको हमारी ओर आकर्षित करें। इसीलिये उन्होंने अत्यन्त स्नेह प्रकट करके राय रामानन्दजीको प्रभुके पास भेजा था। राय महाशय प्रभुके परम अन्तरङ्ग भक्त बन चुके थे। उन्होंने प्रभुसे कई बार निवेदन किया, किन्तु प्रभुने राजासे मिलनेकी कभी सम्मति नहीं दी।

तब एक दिन नित्यानन्दजी, सार्वभौम, राय रामानन्द तथा अन्य कई अत्यन्त ही समीपी भक्त प्रभुके समीप पहुँचे। प्रभुके पास पहुँचकर किसीको भी साहस नहीं हुआ कि वे महाराजको दर्शन देनेकी सिफारिश कर सकें। एक-दूसरेकी ओर आँखों-ही-आँखोंमें सङ्केत करने लगे। तब

कुछ साहस करके नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो! हम कुछ निवेदन करना चाहते हैं। वैसे तो कहनेमें सङ्कोच होता है, किन्तु जब आपसे ही अपने मनोगत भावोंको न कहेंगे तो फिर और किससे कहेंगे, इसलिये आज्ञा हो तो कहें?'

प्रभुने कहा—'श्रीपाद! आपको सङ्कोच करनेकी कौन-सी बात है, आप जो कहना चाहते हों, निर्भय होकर कहिये।'

नित्यानन्दजीने धीरेसे कहा—'महाराज प्रतापरुद्रजी आपके दर्शनके लिये बड़े ही उत्कण्ठित हो रहे हैं, उन्हें आप दर्शन देनेसे क्यों मना करते हैं। वे जगन्नाथजीके भक्त हैं, उनके ऊपर कृपा होनी चाहिये।'

महाप्रभुने कुछ गम्भीरताके साथ कहा—'श्रीपाद! आपकी तो न जाने मेरे प्रति कैसी धारणा हो गयी है। आप चाहते हैं मैं जैसे भी हो, खूब ख्याति लाभ करूँ। कटक जाकर महाराजसे मिलूँ। मुझसे यह नहीं होनेका।'

नित्यानन्दजीने कहा—'आपसे कटक जानेको कौन कहता है? यहीं महाराज ठहरे हुए हैं, मन्दिरमें ही उन्हें दर्शन दीजिये या वे यहाँ भी आ सकते हैं।'

महाप्रभुने स्नेह प्रकट करते हुए कहा—'मुझे ऐसी आवश्यकता ही क्या है कि उन्हें यहाँ बुलाऊँ। मैं ठहरा भिक्षुक संन्यासी। वे ठहरे महाराजा। मेरा उनका सम्बन्ध ही क्या?'

नित्यानन्दजीने कहा—'वे राजापनेसे मिलना नहीं चाहते हैं, वे तो आपके भक्त हैं। जैसे सब दर्शन करते हैं उसी प्रकार उन्हें भी आज्ञा दे दीजिये।'

महाप्रभुने कुछ हँसकर कहा—'आप यह सब कैसी बातें कह रहे हैं। पता नहीं, आपको यह क्या नयी बात सूझी है। सचमुच वे बड़े महाभाग हैं। जिनके कल्याणके लिये आप सभी इतने अधिक चिन्तित हैं। किन्तु मैं संन्यासधर्मके विरुद्ध आचरण कैसे करूँ? लोग चाहे दिन-भर असंख्यों बुरे-बुरे काम करते रहें, किन्तु संन्यासी होकर कोई एक भी बुरा काम करता है तो लोग उसकी बड़ी भारी आलोचना करते हैं। स्वच्छ वस्त्रपर छोटा-सा दाग भी स्पष्ट दीखने लगता है। राज-दर्शनसे लोक-परलोक दोनोंकी ही हानि होती है। लोग भाँति-भाँतिकी आलोचना करने लगेंगे। और लोगोंकी बात तो जाने दीजिये, ये हमारे गुरु महाराज दामोदर पण्डित ही हमें खूब डाँटेंगे। अच्छा, जाने दीजिये सब बातोंको, दामोदर पण्डित आज्ञा दे दें तो मैं राजासे मिल सकता हूँ।' इतना कहकर महाप्रभु मन्द मुसकानके साथ दामोदर पण्डितकी ओर देखने लगे। दामोदर पण्डितने अपनी दृष्टि नीची कर ली और वे कुछ भी नहीं बोले। तब महाप्रभुने कहा—'दामोदरजी! बोलिये, क्या कहते हैं?'

नीची दृष्टि किये हुए धीरे-धीरे दामोदर पण्डित कहने लगे—'आप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, जो चाहें सो करें, मुझसे इस विषयमें पूछनेकी क्या बात है। मैं आपको सम्मति ही क्या दे सकता हूँ।'

महाप्रभुने बातको टालते हुए कहा—'भाई! जाने दीजिये, इनकी सम्मति नहीं है।' नित्यानन्दजी तथा अन्य सभी भक्त समझ तो गये कि प्रभुका हृदय महाराजके गुणोंसे पिघल गया है और अब उनका महाराजके प्रति स्नेह भी हो गया है, किन्तु बातको यहीं समाप्त होते देखकर नित्यानन्दजी कहने लगे—'अच्छा, यदि उन्हें दर्शनकी आज्ञा आप नहीं देते हैं, तो अपने शरीरका स्पर्श किया हुआ एक वस्त्र ही उन्हें देकर कृतार्थ कीजिये। उसीसे उन्हें सन्तोष हो जायगा।'

महाप्रभुने स्नेहके स्वरमें कहा—'बाबा! आपको जो अच्छा लगे वही करें। मैं तो आपके हाथकी कठपुतली हूँ, जैसे नचायेंगे नाचूँगा। आपकी इच्छाके विरुद्ध कर ही क्या सकता हूँ?'

महाप्रभुकी इस प्रकार अनुमति पाकर नित्यानन्दजीने गोविन्दसे प्रभुके ओढ़नेका एक बहिर्वास लेकर सार्वभौम भट्टाचार्यके हाथों महाराजके पास पहुँचा दिया। प्रभुके अंगके वस्त्रको पाकर महाराजको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे उसे बड़े ही सम्मानके साथ अपने पास रखने लगे।

एक दिन रामानन्द रायने कहा—'प्रभो! राजपुत्र तो आकर आपके दर्शन कर सकते हैं?'

प्रभुने कहा—'जैसी आपकी इच्छा, मैं इस सम्बन्धमें आपसे क्या कहूँ, आप स्वतन्त्र हैं जो चाहें सो करें। दोष तो किसीके मी आनेमें नहीं है; किन्तु अभिमानीके सामने स्वयं भी अभिमानके भाव जाग्रत् हो उठते हैं। इसीलिये संन्यासीको राज-दरबारमें जाना निषेध बताया है। कैसी भी प्रकृति क्यों न हो, मान-सम्मानकी जगह जानेसे कुछ-न-कुछ तमोगुण आ ही जाता है। बच्चे तो सरल होते हैं, उन्हें मान-सम्मान या आदर-शिष्टाचारका ध्यान ही नहीं होता। इसीलिये उनसे मिलनेमें किसीको उद्वेग नहीं होता। यदि राजपुत्र आना चाहे तो उसे आप प्रसन्नतापूर्वक ला सकते हैं।'

प्रभुकी आज्ञा पाकर रामानन्दजी उसी समय महाराजके निवासस्थानमें गये। उस समय महाराज सपरिवार पुरीमें ही ठहरे हुए थे। स्नानयात्राके तीन दिन पूर्व महाराजको पुरी आ जाना पड़ता है और रथयात्रापर्यन्त वे वहीं रहते हैं, इसीलिये महाराज आये हुए थे। राय रामानन्दजीकी कहीं भी जानेकी रोक-टोक नहीं थी, वे भीतर चले गये और राजपुत्रसे प्रभुके दर्शनोंके लिये कहा। राजपुत्रकी पहलेसे ही

इच्छा थी । महाराज तथा महारानीकी भी आन्तरिक इच्छा थी । इसलिये रामानन्दजीने राजपुत्रको खूब सजाया । राजपुत्र एक तो वैसे ही बहुत अधिक सुन्दर था । फिर कविहृदय रामानन्दजीने अपने हाथोंसे उसका शृङ्गार किया । राजपुत्रके कमलके समान सुन्दर बड़े-बड़े नेत्र थे, माथा चौड़ा था और दोनों भृकुटियाँ कमानके समान चढ़ाव-उतारकी थीं । रामानन्दजीने राजपुत्रके दोनों कानोंमें मोतियोंसे युक्त बड़े-बड़े कुण्डल पहनाये । गलेमें मोतियोंका हार पहनाया तथा शरीरपर बहुत ही बढ़िया पीले रङ्गके वस्त्र पहनाये । कामदारी बहुमूल्य पीताम्बरको ओढ़कर राजपुत्रकी अपूर्व ही शोभा बन गयी । रायने राजपुत्रके घुँघराले काले-काले बालोंको अपने हाथोंसे व्यवस्थित करके उनके ऊपर एक छोटा-सा मुकुट बाँध दिया । इस प्रकार उसे खूब सजाकर वे अपने साथ प्रभुके दर्शनके लिये ले गये ।

महाप्रभु राजपुत्रको देखते ही प्रेममें अधीर हो उठे । उन्हें भान होने लगा, मानों साक्षात् श्रीकृष्ण ही उनके समीप आ गये हैं । प्रभु राजपुत्रको देखते ही जल्दीसे उठे और श्रीकृष्णके सखाके भावावेशमें उन्होंने जोरोंसे राजपुत्रका आलिङ्गन किया । महाप्रभुका प्रेमालिङ्गन पाते ही, राजपुत्र आनन्दमें विभोर होकर 'श्रीकृष्ण श्रीकृष्ण' कहकर जोरोंसे नृत्य करने लगा । उसके सम्पूर्ण शरीरमें प्रेमके सभी सात्त्विक भाव एक साथ ही उदित हो उठे । रामानन्दजीने उसे सम्हाला । महाप्रभु उससे बहुत देरतक बालकोंकी भाँति बातें करते रहे । अन्तमें फिर आनेके लिये बार-बार कहकर प्रभुने उसे विदा किया । महाराज तथा महारानीने पुत्रको गोदमें बिठाकर स्वयं महाप्रभुके स्नेहका अनुभव किया । उस दिनसे राजपुत्र प्रायः प्रभुके दर्शनोंके लिये रोज ही आता था । उसकी गणना प्रभुके अन्तरङ्ग भक्तोंमें होने लगी ।

गुण्टिचा (उद्यान-मन्दिर) मार्जन

श्रीगुण्टिचामन्दिरमात्मवृन्दैः
सम्मार्जयन् क्षालनतः स गौरः।
स्वचित्तवच्छीतलमुज्ज्वलञ्च
कृष्णोपवेशोपयिकं चकार ॥*

(चैत० चरि० म० ली० १२ । १)

संसारमें असंख्यों घटनाएँ रोज घटित होती हैं। मातासे छिपकर मिट्टी प्रायः सभी बच्चे खाते हैं, सभी गोपालोंके बालक गौएँ चराने जाते हैं और अपने हाथोंमें दही-भात और टैंटी (कैर) का अचार रखकर वहीं खाते हैं। गोपियोंकी भाँति न जाने कितनी प्रेमिकाएँ अपने प्रियतमोंके लिये रोती रहती होंगी। सुदामाके समान धनहीन बहुत-से मित्र अपने धनिक मित्रोंसे मान-सम्मान तथा धन पाते होंगे; किन्तु उनका नाम कोई भी नहीं जानता। कारण उनमें प्रेमकी वह पराकाष्ठा नहीं है। भगवान् तो प्रेमके सजीव विग्रह थे। प्रेमके संसर्ग होनेसे ये सभी घटनाएँ अमर हो गयीं और प्रेमी भक्तोंके प्रेमवर्धन करनेकी सर्वोत्तम सामग्री बन गयीं। असलमें प्रेम ही सत्य है, प्रेमपूर्वक किये जानेवाले सभी काम प्रेमकी ही भाँति अजर-अमर और अमिट होते हैं। प्रेमके साथ प्राणोंका भी परित्याग करना पड़े तो वह भी सुखकर

---

* 'श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने अपने आत्मीय भक्तोंके सहित श्रीगुण्टिचा भवनका मार्जन तथा क्षालन करके उसे अपने शीतल और निर्मल चित्तकी भाँति खूब स्वच्छ और पवित्र बनाकर श्रीकृष्णके बैठनेयोग्य बना दिया।' काम-क्रोधादिसे मलिन हुए मनमें श्रीकृष्ण बैठ ही कैसे सकते हैं? चैतन्यकी ही कृपा हो तो यह वाटिका परिष्कृत हो सकती है।

प्रतीत होता है। अपने प्रेमीके साथ मरनेमें भी मीठा-मीठा मजा आता है। प्रेमके सामने दुःख कैसा ? सन्तापका वहाँ नाम नहीं; थकान, आलस्य या विषण्णताका एकदम अभाव होता है। यदि एक ही उद्देश्यके एक-से ही मनवाले दस-बीस पचास प्रेमी बन्धु हों तो फिर वैकुण्ठके सुखका अनुभव करनेके लिये अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं होती। वैकुण्ठका सुख उनकी संगतिमें ही मिल जाता है। उनके साथ प्रेमपूर्वक मिलकर जो भी कार्य किया जाता है, वही प्रेममय होनेके कारण आनन्दमय और हर्षमय ही होता है।

महाप्रभु गौड़ीय भक्तोंके साथ नित्य नयी-नयी क्रीडाएँ करते थे; उनका भोजन, भजन, स्नान, सङ्कीर्तन तथा हास-परिहास सभी प्रेममय ही होता था। सभी भक्त क्रमशः नित्यप्रति महाप्रभुको अपने-अपने यहाँ भिक्षा कराते। महाप्रभु भी एक-एक दिनमें भक्तोंकी प्रसन्नताके निमित्त तीन-तीन चार-चार स्थानोंमें थोड़ा-थोड़ा भोजन कर लेते। वे भक्तोंको साथ लेकर ही मन्दिरमें जाते, उनके साथ ही स्नान करते और सबको पास बिठाकर ही प्रसाद पाते।

इस प्रकार धीरे-धीरे रथ-यात्राका समय समीप आने लगा। पन्द्रह दिनोंतक एकान्तमें महालक्ष्मीके साथ एकान्तवास करनेके अनन्तर जगन्नाथजीके पट खुलनेका समय भी सन्निकट ही आ पहुँचा। नेत्रोत्सवके एक दिन पूर्व महाप्रभुने एक प्रेमकुतूहल करनेका निश्चय किया।

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरसे एक कोसकी दूरीपर गुण्टिचा नामका एक उद्यान-मन्दिर है। रथ-यात्राके समय भगवान्‌की सवारी यहीं आकर ठहरती है और एक सप्ताहके लगभग भगवान् यहीं निवास करते हैं, फिर लौटकर मन्दिरमें आ जाते हैं, इसीका नाम रथ-यात्रा है। रथ-यात्रा-के पूर्व नेत्रोत्सव होता है, उस दिन पन्द्रह दिनोंके पश्चात् कमलनयन

भगवान्के लोगोंको दर्शन होते हैं। नेत्रोत्सवके एक दिन पूर्व ही प्रभुने गुण्टिचाभवनको मार्जन करनेका विचार किया। गुण्टिचा-उद्यान-मन्दिरका आँगन लगभग डेढ़ सौ गज लम्बा है। उसमें मूल मन्दिरके अतिरिक्त एक दूसरा नृसिंहभगवान्का मन्दिर भी है। दोनों लगभग पन्द्रह-पन्द्रह सोलह-सोलह गज लम्बे-चौड़े होंगे। महाप्रभुने काशी मिश्र तथा सार्वभौम भट्टाचार्यको बुलाकर उनपर अपना मनोगत भाव प्रकट किया। सभी-को सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। काशी मिश्रने कहा—'प्रभो! गुण्टिचा-भवन तो साफ होता ही है, उस कामको करके आप क्या करेंगे, आप तो सङ्कीर्तन ही करें।'

प्रभुने कहा—'मिश्रजी! आप विद्वान् भक्त और जगन्नाथजीके भक्त होकर ऐसी बात कहते हैं? भगवान्की सेवामें कोई भी काम छोटा नहीं है। इन हाथोंसे भगवान्की तुच्छ-से-तुच्छ सेवाका भी सौभाग्य प्राप्त हो सके तो हम अपने जीवनको धन्य समझेंगे। भगवान्की सेवामें छोटे-बड़ेका ध्यान ही न आना चाहिये। जो भी काम मिल जाय, उसे ही श्रद्धा-भक्तिके साथ करना चाहिये। हमारी ऐसी ही इच्छा है, आप जल्दीसे इसका प्रबन्ध करें।'

महाप्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके काशी मिश्रने उद्यानके मार्जनके निमित्त झाड़ू, टोकरी तथा और भी आवश्यकीय वस्तुओंका प्रबन्ध कर दिया। अब महाप्रभु अपने सभी भक्तोंके सहित गुण्टिचा-मार्जनके लिये चले। सार्वभौम भट्टाचार्य, राय रामानन्द तथा वाणीनाथ-जैसे प्रमुख-प्रमुख गण्य-मान्य पुरुष भी प्रभुके साथ हाथमें झाड़ू तथा खुरपियोंको लेकर चले। सबसे पहले तो महाप्रभुने वहाँ इधर-उधर जमी हुई घासको छिलवाया फिर आपने सभी भक्तोंसे कहा—'सभी एक-एक झाड़ू ले लीजिये और झाड़कर अपना-अपना कूड़ा अलग एकत्रित करते

जाइये । कूड़ेको देखकर ही सबको पुरस्कार अथवा तिरस्कार मिलेगा।' बस, इतना सुनते ही सभी भक्त उद्यानको साफ करनेमें जुट गये। सभी एक-दूसरेसे प्रतिस्पर्धा कर रहे थे, सभी चाहते थे कि मेरा ही नम्बर सर्वश्रेष्ठ रहे। सभी भक्तोंके शरीरोंसे पसीना बह रहा था। महाप्रभु तो यन्त्रकी भाँति काममें लगे हुए थे। उनके गौरवर्णके अरुण कपोल गर्मी और परिश्रमके कारण और भी अधिक अरुण हो गये थे। उनमेंसे स्वेदबिन्दु निकल-निकलकर प्रभुके सम्पूर्ण शरीरको भिगो रहे थे। महाप्रभु झाड़ू हाथमें लिये कूड़ेको इकट्ठा करनेमें लगे हुए थे। कोई भक्त सफाई करनेमें प्रमाद करता या सुस्ती दिखाता तो प्रभु उसे मीठा-मीठा उलाहना देते। एक पत्तेको भी वे पड़ा हुआ नहीं देख सकते थे। बीच-बीचमें प्रभु भक्तोंको प्रोत्साहित भी करते जाते थे। महाप्रभुके प्रोत्साहनको पाकर सभी भक्त दूने उत्साहसे काम करने लगते। इस प्रकार बात-की-बातमें उद्यान तथा मन्दिरका सभी कूड़ा साफ हो गया। सबके कूड़ेका महाप्रभुने भक्तोंके साथ निरीक्षण किया। हिसाब लगानेपर महाप्रभुका ही कूड़ा सबसे अधिक निकला और सबसे कम अद्वैताचार्यका। इसपर हँसी होने लगी। महाप्रभु कहने लगे—'ये तो भोलेबाबा हैं। इन्हें एकत्रित करनेसे प्रयोजन ही क्या ? ये तो संहारकारी हैं।'

इसपर खूब हँसी हुई। और भी भाँति-भाँतिके विनोद होते रहे।

उद्यान तथा मन्दिरोंका मार्जन होनेके अनन्तर अब धोनेकी बारी आयी। बहुत-से नये घड़े मन्दिरको धोनेके लिये मँगाये गये। सभी भक्त जलसे भरे हुए घड़ोंको लिये महाप्रभुके पास लाने लगे। महाप्रभु अपने हाथोंसे मन्दिरको धोने लगे। उस समयका दृश्य बड़ा ही चित्ताकर्षक और मनोहर था। बंगाली भक्त वैसे ही शरीरसे दुबले-पतले थे, तिसपर भी झाड़ू देते-देते थक गये थे। वे अपनी ढीली धोती-

को सँभालते हुए एक हाथसे घड़ेको लेकर आते । किसीके हाथमेंसे घड़ा गिर पड़ता, वह फूट जाता और जल फैल जाता, उसी समय दूसरा भक्त उसे फौरन नया घड़ा दे देता । कोई-कोई जल लाते समय गिरे हुए जलमें फिसलकर धड़ामसे गिर पड़ते । सभी भक्त उन्हें देखकर ताली बजा-बजाकर हँसने लगते । बहुत-से केवल तालाबमेंसे जल ही भरकर लाते थे । बहुत-से खाली घड़ोंको देनेपर ही नियुक्त थे । बहुत-से महाप्रभुके साथ नीचे-ऊपर तथा पक्की दीवालोंको वस्त्रोंसे धो रहे थे । सभी भक्त हुंकार-के साथ हरि-हरि पुकारते हुए जल भरकर लाते और जल्दीसे नीचे उड़ेल देते । बहुत-से जान-बूझकर प्रभुके पैरोंपर ही जल डाल देते और उसे पान कर जाते । महाप्रभुका इसकी ओर कुछ ध्यान ही नहीं था, वे अपने ओढ़नेके वस्त्रसे भगवान्‌के सिंहासनको धो रहे थे । उसी समय एक सरल-से भक्तने एक घड़ा जल लाकर प्रभुके पैरोंपर डाल दिया और सबोंके देखते-ही-देखते उस पादोदकका पान करने लगा । महाप्रभुकी भी दृष्टि पड़ी । उन्होंने उसपर क्रोध प्रकट करते हुए कहा—'यह मेरे साथ कैसा अन्याय कर रहे हैं । मुझे पतित करना चाहते हैं ।' इतना कहकर आपने अत्यन्त ही दुखी होकर स्वरूपदामोदरको बुलाया और उनसे कहने लगे—'देखो, तुम्हारे भक्तने मेरे साथ कैसा घोर अन्याय किया है । मेरे ऊपर भगवत्-अपराध चढ़ा दिया है । भगवान्‌के मन्दिरमें मेरा पादोदक पीया है ।' स्वरूपदामोदर इसे अपराध ही नहीं समझते थे । उनकी दृष्टिमें जगन्नाथजीमें और महाप्रभुमें किसी प्रकारका अन्तर ही नहीं था, फिर भी प्रभुको शान्त करनेके निमित्त उन्होंने उस भक्तपर बनावटी क्रोध प्रकट करते हुए उसे डाँटा और उसका गला पकड़कर बाहर निकाल दिया । इसपर उस भक्तको बड़ी प्रसन्नता हुई ।

पीछेसे भक्तोंके कहनेपर उसने प्रभुके पैरोंमें पड़कर क्षमा-याचना

की। महाप्रभुने हँसकर उसके गालपर धीरेसे एक चपत जमा दिया। प्रेमके उस चपतको पाकर वह अपने भाग्यकी सराहना करने लगा। इस प्रकार दोनों मन्दिरोंको तथा मन्दिरके आँगनोंको भलीभाँति साफ किया। जब सफाई हो गयी तब प्रभुने सङ्कीर्तन करनेकी आज्ञा दी। सभी भक्त अपने-अपने खोल-करतालोंको लेकर सङ्कीर्तन करने लगे। सभी भक्त कीर्तनके वाद्योंके साथ उद्दण्ड नृत्य करने लगे। भक्त-वृन्द अपने आपेको भूलकर सङ्कीर्तनके साथ नृत्य कर रहे थे। नृत्य करते-करते अद्वैताचार्यके पुत्र गोविन्द मूर्छित होकर गिर पड़े। उन्हें मूर्छित देखकर महाप्रभुने सङ्कीर्तनको बन्द कर देनेकी आज्ञा दी। सभी भक्त गोविन्दको सावधान करनेके लिये भाँति-भाँतिके उपचार करने लगे। किन्तु गोविन्दकी मूर्छा भङ्ग ही नहीं होती थी। सभीने समझा कि गोविन्दका शरीर अब नहीं रह सकता। अद्वैताचार्य भी पुत्रको मूर्छित देखकर अत्यन्त दुखी हुए। तब महाप्रभुने उसकी छातीपर हाथ रखकर कहा—'गोविन्द! उठते क्यों नहीं? बहुत देर हो गयी, चलो स्नानके लिये चलें।'

बस, महाप्रभुके इतना कहते ही गोविन्द हरि-हरि करके उठ पड़े और फिर सभी भक्तोंको साथ लेकर प्रभु स्नान करनेके लिये गये। घण्टों सरोवरमें सभी भक्त जलक्रीड़ा करते रहे। महाप्रभु भक्तोंके ऊपर जल उलीचते थे और सभी भक्त साथ ही मिलकर प्रभुके ऊपर जलकी वर्षा करते। इस प्रकार स्नान कर लेनेके अनन्तर सभीने आकर नृसिंह भगवान्‌को प्रणाम किया और मन्दिरके जगमोहनमें बैठ गये।

उसी समय महाराजने चार-पाँच सौ आदमियोंके लिये जगन्नाथजीका महाप्रसाद भिजवाया। महाप्रभु सभी भक्तोंके सहित प्रसाद पाने लगे। महाप्रसादमें छूतछोतका तो विचार ही नहीं था, सभी एक पंक्तिमें

बैठकर साथ-ही-साथ प्रसाद पाने लगे। सार्वभौम भट्टाचार्य भी अपने आचार-विचार और पण्डितपनेके अभिमानको भुलाकर भक्तोंके साथ बैठकर प्रसाद पा रहे थे। इसपर उनके बहनोई गोपीनाथाचार्यने कहा—'कहो, भट्टाचार्य महाशय ! आपका आचार-विचार और चौका-चूल्हा कहाँ गया ?'

भट्टाचार्यने प्रसन्नताके स्वरमें कहा—'आचार्य महाशय, आपकी कृपासे मेरे चौके-चूल्हेपर चौका फिर गया। आपने मेरे सभी पापोंको धुला दिया।'

इतनेमें ही महाप्रभु कहने लगे—'भट्टाचार्यके ऊपर अब भगवान्-की अनन्त कृपा हो गयी है और इनकी सङ्गतिसे हमलोगोंके हृदयमें भी कुछ-कुछ भक्तिका सञ्चार होने लगा है।'

इतना सुनते ही भट्टाचार्य जल्दीसे कहने लगे—'भगवत्-कृपा न होती तो, भगवान् इस अभिमानीको अपनी चरणसेवाका सौभाग्य ही कैसे प्रदान करते ? भगवत्-कृपाका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि साक्षात् भगवान् अपने समीप बिठाकर भोजन करा रहे हैं।' इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेकी गुप्त प्रशंसा करने लगे। भोजनके अनन्तर सभी हरिध्वनि करते हुए उठे। महाप्रभुका उच्छिष्ट प्रसाद गोविन्दने हरिदासजी-को दिया और भक्तोंने भी थोड़ा-थोड़ा बाँट लिया। इसके अनन्तर महाप्रभुने स्वयं अपने करकमलोंसे सभी भक्तोंको माला प्रदान की और उनके मस्तकोंपर चन्दन लगाया। इस प्रकार उस दिन इस अद्भुत लीलाको करके भक्तोंके सहित प्रभु अपने स्थानपर आ गये।

श्रीजगन्नाथजीकी रथ-यात्रा

स जीयात् कृष्णचैतन्यः श्रीरथाग्रे ननर्त यः।
येनासीज्जगतां चित्रं जगन्नाथोऽपि विस्मितः॥*

(चैत० चरि० म० ली० १३ । १)

गुण्टिचा (उद्यान-मन्दिर) के मार्जनके दूसरे दिन नेत्रोत्सव था। महाप्रभु अपने सभी भक्तोंको साथ लेकर जगन्नाथजीके दर्शनके लिये गये। पन्द्रह दिनोंके अनवसरके अनन्तर आज भगवान्‌के दर्शन हुए हैं, इससे महाप्रभुको बड़ा ही हर्ष हुआ। वे एकटक लगाये श्रीजगन्नाथजीके मुखारविन्दकी ओर निहार रहे थे। उनकी दोनों आँखोंमेंसे अश्रुओंकी दो धाराएँ बह रही थीं। उनके दोनों अरुण ओष्ठ नवपल्लवोंकी भाँति हिल रहे थे और वे धीरे-धीरे जगन्नाथजीसे कुछ कह रहे थे, मानों इतने दिनके वियोगके लिये प्रेमपूर्वक उलाहना दे रहे हों। [illegible] तक महाप्रभु अनिमेष-भावसे भगवान्‌के दर्शन करते रहे। फिर भक्तोंके सहित आप अपने स्थानपर आये और महाप्रसाद पाकर फिर कथा-कीर्तनमें लग गये।

दूसरे दिन जगन्नाथजीकी रथ-यात्राका दिवस था। प्रभुके आनन्दकी सीमा नहीं थी। वे प्रातःकाल होनेके लिये बड़े ही आकुल बने हुए थे। मारे हर्षके उन्हें रात्रिभर नींद ही नहीं आयी। रातभर वे प्रेममें बेसुध हुए जागरण ही करते रहे। दो घड़ी रात्रि रहते ही आप उठकर बैठे हो गये और सभी भक्तोंको भी जगा दिया। शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर सबके साथ महाप्रभु 'पाण्डुबिजय' के दर्शनके लिये चले।

---

* जिन्होंने रथके आगे ऐसा नृत्य किया जिससे समस्त जगत् तथा साक्षात् जगन्नाथजी भी विस्मित हो गये, उन श्रीकृष्णचैतन्य भगवान्‌की जय हो।

ज्येष्ठकी पूर्णिमासे लेकर आषाढ़की अमावस्यातक भगवान् महा-लक्ष्मीके साथ एकान्तमें वास करते हैं। प्रतिपदाके दिन नेत्रोत्सव होता है। तभी जगन्नाथजीके दर्शन होते हैं, द्वितीया या तृतीयाको रथपर चढ़कर भगवान् श्रीराधिकाजीके साथ एक सप्ताहसे अधिक निवास करनेके लिये सुन्दराचलको प्रस्थान करते हैं। वही रथ-यात्रा कहलाती है। जिस समय रथ जाता है, उसे 'रथ-यात्रा' कहते हैं और विश्रामके पश्चात् जब रथ लौटकर मन्दिरकी ओर आता है उसे 'उलटी रथ-यात्रा' कहते हैं।

रथ-यात्राके समय तीन रथ होते हैं। सबसे आगे जगन्नाथजीका रथ होता है, उनके पीछे बलरामजी तथा सुभद्राजीके रथ होते हैं। भगवान्-का रथ बहुत ही विशाल होता है, मानों छोटा-मोटा पर्वत ही हो। सम्पूर्ण रथ सुवर्णमण्डित होता है। उसमें हजारों घण्टा, टाल, किंकिणी तथा घागर बँधे रहते हैं। उसकी छतरी बहुत ऊँची और विशाल होती है, उसमें भाँति-भाँतिकी ध्वजा-पताकाएँ फहराती रहतीं हैं। वह एक छोटे-मोटे नगरके ही समान होता है। सैकड़ों आदमी उसमें खड़े हो सकते हैं। चारों ओर बड़े-बड़े शीशे लटकते रहते हैं। सैकड़ों मनुष्य स्वच्छ सफेद चँवरोंकी डुलाते रहते हैं। उसके चँदवे मूल्यवान् रेशमी वस्त्रोंके होते हैं तथा सम्पूर्ण रथ विविध प्रकारके चित्रपटोंसे बहुत ही अच्छी तरहसे सजाया जाता है। उसमें आगे बहुत ही लम्बे और मज़बूत रस्से बँधे होते हैं, जिन्हें मनुष्य ही खींचते हैं। भगवान्के रथको गुण्टिचा भवनतक मनुष्य ही खींचकर ले जाते हैं। उस समयका दृश्य बड़ा ही अपूर्व होता है।

प्रातःकाल रथ सिंहद्वारपर खड़ा होता है, उसमें 'दयितागण' भगवान्को लाकर पधराते हैं, जिस समय सिंहासनसे उठाकर भगवान् रथमें पधराये जाते हैं, उसे ही 'पाण्डु-विजय' कहते हैं। 'दयिता'

जगन्नाथजीके सेवक होते हैं। 'दयिता' वैसे तो एक निम्न श्रेणीकी जाति है, किन्तु भगवान्‌की सेवाके अधिकारी होनेके कारण सभी लोग उनका विशेष सम्मान करते हैं। उनमें दो श्रेणी हैं, साधारण दयिता तो शूद्रतुल्य ही होते हैं, किन्तु उनमें जो ब्राह्मण होते हैं, वे 'दयितापति' कहलाते हैं। अनवसरके दिनोंमें वे ही भगवान्‌को बाल-भोगमें मिष्टान्न अर्पण करते हैं और भगवान्‌की तबियत खराब बताकर ओषधि भी अर्पण करते हैं। स्नान-दिनसे लेकर रथके लौटनेके दिनतक उनका श्री-जगन्नाथजीकी सेवामें विशेष अधिकार होता है। वे ही किसी प्रकार रस्सियोंद्वारा भगवान्‌को सिंहासनसे रथपर पधराते हैं। उस समय कटक-के महाराजा वहाँ स्वयं उपस्थित रहते हैं।

महाप्रभु अपने भक्तोंके सहित 'पाण्डुविजय' के दर्शनके लिये पहुँचे। महाराजने प्रभुके दर्शनकी अच्छी व्यवस्था कर दी थी, इसलिये प्रभुने भलीभाँति सुविधापूर्वक भगवान्‌के दर्शन किये। दर्शनके अनन्तर अब रथ चलनेके लिये तैयार हुआ। भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंके लाखों नर-नारी रथ-यात्रा देखनेके लिये उपस्थित थे। चारों ओर गगनभेदी जय-ध्वनि ही सुनायी देती थी।

भगवान्‌के रथपर विराजमान होनेके अनन्तर महाराज प्रतापरुद्र-जीने सुवर्णकी बुहारीसे पथको परिष्कृत किया और अपने हाथसे चन्दन-मिश्रित जल छिड़का। असंख्यों इन्द्र, मनु, प्रजापति तथा ब्रह्मा जिनकी सेवामें सदा उपस्थित रहते हैं, उनकी यदि नीच सेवाको करके महाराज अपने यश और प्रतापको बढ़ाते हैं, तो इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है? उनके सामने राजा-महाराजाओंकी तो बात ही क्या है, ब्रह्माजी भी एक साधारण जीव हैं। मान-सम्मानके सहित उनकी सेवा कोई कर ही क्या सकता है, क्योंकि संसारभरकी सभी

प्रतिष्ठा उनके सामने तुच्छसे भी तुच्छ है। मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति और यश-के वे ही तो उद्गम-स्थान हैं। ऐश्वर्यसे, पदार्थोंसे तथा अन्य प्रकारकी वस्तुओंसे कोई उनकी पूजा कर ही कैसे सकता है ? वे तो केवल भावके भूखे हैं।

महाराजके पूजा-अर्चा तथा पथ-परिष्कार कर लेनेपर गौड़देशीय भक्तोंने तथा भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंसे आये हुए नर-नारियोंने भगवान्‌के रथकी रज्जु पकड़ी। सभीने मिलकर जोरोंसे 'जगन्नाथजीकी जय' बोली। जय-घोषके साथ ही असंख्यों घण्टा-किंकिणियों तथा टालों-को एक साथ ही बजाता हुआ और घर-घर शब्द करता हुआ भगवान्-का रथ चला। उनके पीछे बलभद्रजी तथा सुभद्राजीके भी रथ चले। चारों ओर जयघोष हो रहा था। सम्पूर्ण पथ सुन्दर बालुकामय बना हुआ था। राजपथके दोनों पार्श्वोंमें नारियलके सुन्दर-सुन्दर वृक्ष बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। सुन्दराचल जाते हुए भगवान्‌के रथकी छटा उस समय अपूर्व ही थी। रथ कभी तो जोरोंसे चलता, कभी धीरे-धीरे चलता, कभी एकदम ठहर जाता और लाख प्रयत्न करनेपर भी फिर आगे नहीं बढ़ता। भला, जिनके पेटमें करोड़-दो-करोड़ नहीं, असंख्यों ब्रह्माण्ड भरे हुए हैं, उन्हें ये कीट-पतङ्गकी तरह बल रखनेवाले पुरुष खींच ही क्या सकते हैं ? भगवान् स्वयं इच्छामय हैं, जब उनकी मौज होती है तो चलते हैं, नहीं तो जहाँ-के-तहाँ ही खड़े रहते हैं। लोग कितना भी ज़ोर लगावें, रथ आगेको चलता ही नहीं, तब उड़िया भक्त भगवान्‌को लाखों गालियाँ देते हैं। पता नहीं गालियोंसे भगवान् क्यों प्रसन्न हो जाते हैं, गाली सुनते ही रथ चलने लगता है।

महाप्रभु रथके आगे-आगे नृत्य करते हुए चल रहे थे। रथ चलनेके पूर्व उन्होंने अपने हाथोंसे सभी भक्तोंको मालाएँ पहनायीं तथा

उनके मस्तकोंपर चन्दन लगाया। इसके अनन्तर प्रभुने सङ्कीर्तन-मण्डलियोंको सात भागोंमें बाँट दिया।

पहली मण्डलीके प्रधान गायक महाप्रभुके दूसरे स्वरूप स्वनाम-धन्य श्रीस्वरूपदामोदरजी थे, उनके दामोदर (दूसरे), नारायण, गोविन्द दत्त, राघव पण्डित और गोविन्दानन्द—ये पाँच सहायक महाप्रभुने बनाये। उस मण्डलीके मुख्य नृत्यकारी महामहिम श्रीअद्वैताचार्य थे। बूढ़े होनेपर भी सङ्कीर्तनके नृत्यमें वे अच्छे-अच्छे युवक भक्तोंसे बहुत अधिक बढ़ जाते। उनका नृत्य बड़ा ही मधुर होता और वे अपने श्वेत बालोंको हिलाते हुए मण्डलीके आगे-आगे श्रीशङ्करजीका-सा ताण्डव-नृत्य करते जाते।

दूसरी मण्डलीके प्रधान गायक थे श्रीवास पण्डित। उनका शरीर स्थूल था, चेहरेपरसे रोब टपकता था और वाणीमें गम्भीरता, तथा सरसता थी। वे हाथमें मंजीरा लिये हुए सिंहके समान खड़े थे। महाप्रभुने उनके गंगादास, हरिदास (दूसरे), श्रीमान् पण्डित, शुभानन्द और श्रीराम पण्डित—ये पाँच सहायक बनाये। उस मण्डलीके प्रधान नर्तक थे श्रीपाद नित्यानन्दजी। अवधूत नित्यानन्दजी अपने लम्बे इकहरे शरीरसे नृत्य करते हुए बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। काषाय-वस्त्रको ऊपर उठा-उठाकर वे मधुर नृत्य कर रहे थे।

तीसरी मण्डलीके प्रधान गायक थे गन्धर्वावतार श्रीमुकुन्द दत्त पण्डित। उनके सहायक थे वासुदेव, गोपीनाथ, मुरारी गुप्त, श्रीकान्त और बल्लभ सेन। इस मण्डलीमें महामहिम महात्मा हरिदासजी प्रधान नृत्यकारी थे। वे अपनी छोटी-सी दाढ़ीको हिलाते हुए कूद-कूदकर मनोहर नृत्य कर रहे थे। उनका गोल-गोल स्थूल शरीर नृत्यमें गेंदकी भाँति उछल रहा था। वे सिर हिला-हिलाकर 'हरि हरि' कहते जाते थे।

चौथी मण्डलीके प्रधान गायक थे श्रीगोविन्द घोष। हरिदास, विष्णुदास, राघव, माधव और वासुदेव उनके सहायक थे। इस मण्डलीको नृत्यसे टेढ़ी बनानेवाले श्रीवक्रेश्वर पण्डित थे। इनका नृत्य तो अपूर्व ही होता था। ये नृत्य करते-करते जमीनमें लोट-पोट हो जाते। इस प्रकार चार मण्डलियोंका तो महाप्रभुने उसी समयसे संगठन किया। तीन मण्डलियाँ पहलेसे ही बनी हुई थीं। एक तो कुलीन ग्रामकी मण्डली थी, जिसके प्रधान गायक थे रामानन्दजी और वे सत्यराजजीके सहित नृत्य भी करते थे। उनके सहायक कुलीनग्रामवासी सभी भक्त थे। दूसरी शान्तिपुरकी एक मण्डली थी, जिसके प्रधान थे श्रीअद्वैताचार्यके स्वनाम-धन्य पुत्र श्रीअच्युतानन्दजी। वे ही उसमें नृत्यकारी भी थे और शान्तिपुरके सभी भक्त उनके सहायक थे। तीसरे सम्प्रदायके प्रधान गायक और नर्तक थे श्रीनरहरि और रघुनन्दन। खण्डवासी सभी उनके अनुगत थे। इस प्रकार सात सम्प्रदायोंका सम्मिलित संकीर्तन हो रहा था। चार मण्डलियाँ तो भगवान्के रथके आगे-आगे संकीर्तन कर रही थीं। एक दायीं ओर, एक बायीं ओर और एक रथके पीछे-पीछे अपनी तुमुल ध्वनिसे रथको आगे बढ़ानेमें सहायक हो रही थी।

सातों सम्प्रदायोंमें साथ ही चौदह खोल या मादल बजने लगे! असंख्यों मंजीरोंकी मीठी-मीठी ध्वनि उन खोल-करतालोंकी ध्वनिमें मिल-मिलकर एक प्रकारका विचित्र रस पैदा करने लगी। खोल बजानेवाले भक्त खोलोंको बजाते-बजाते दुहरे हो जाते थे। उनके पैर पृथिवीपर टिके रहते और खोलोंको बजाते-बजाते पीछेकी ओर झुक जाते। नृत्य करनेवाले भक्त उछल-उछलकर, कूद-कूदकर, भावोंको दिखा-दिखाकर भाँति-भाँतिसे नृत्य करने लगे। महाप्रभु सभी मण्डलियोंमें नृत्य करते। वे बात-की-बातमें एक मण्डलीसे दूसरी मण्डलीमें आ जाते और

वहाँ नृत्य करने लगते। वे किस समय दूसरी मण्डलीमें जाकर नृत्य करने लगे, इसका किसीको भी पता नहीं होता। सभी समझते महाप्रभु हमारी ही मण्डलीमें नृत्य कर रहे हैं। यात्रीगण आश्चर्यके सहित प्रभुके नृत्यको देखते। जो भी देखता, वही देखता-का-देखता ही रह जाता। महाप्रभुकी ओरसे नेत्र हटानेको किसीका जी ही नहीं चाहता। मनुष्योंकी तो बात ही क्या, साक्षात् जगन्नाथजी भी प्रभुके नृत्यको देखकर चकित हो गये और वे रथको खड़ा करके प्रभुकी नृत्यकारी छबिको निहारने लगे। मानों वे प्रभुके नृत्यसे आश्चर्यचकित होकर चलना भूल ही गये हों।

महाराज प्रतापरुद्र भी अपने परिकरके साथ महाप्रभुके इस अद्भुत नृत्यको देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे। महाप्रभुका ऐसा अद्भुत नृत्य किसीने आजतक कभी देखा नहीं था। जो लोग अबतक महाप्रभुकी प्रशंसा ही सुनते थे, वे नर्तनकारी गौराङ्गको देखकर उनके ऊपर मुग्ध हो गये और जोरोंसे 'हरि बोल, हरि बोल' कह-कहकर चिल्लाने लगे। इस प्रकार जगन्नाथजीका रथ धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा और गौर-भक्त प्रेममें उन्मत्त होकर उसके पीछे-पीछे कीर्तन करते हुए चले।

फिर महाप्रभुने अपना एक स्वतन्त्र ही सम्प्रदाय बना लिया। उन सातों सम्प्रदायोंको एकत्रित कर लिया। श्रीवास पण्डित, रमाई पण्डित, रघुनाथ, गोविन्ददास, मुकुन्द, हरिदास, गोविन्दानन्द, माधव और गोविन्द—ये प्रधान गायक हुए और नृत्यकारी स्वयं महाप्रभु हुए। चौदह खोलोंकी गगनभेदी ध्वनि साथ ही भक्तोंके हृदय-सागरको उद्वेलित करने लगी। महाप्रभुके उन्मादी नृत्यसे सभी दर्शक चकित रह गये। वे चित्रके लिखे-से चुपचाप एकटक होकर प्रभुके अलौकिक नृत्यको देख रहे थे। आकाशमें भी कोलाहल-सा सुनायी देने लगा। मानों देवता भी अपने-अपने विमानोंपर चढ़कर प्रभुके नृत्यको देखनेके लिये आकाशमें खड़े हों। सभी भक्त

महाप्रभुको घेरकर नृत्य करने लगे। महाप्रभुने थोड़ी देरमें नृत्य बन्द कर दिया। सभी बाजे बन्द हो गये। चारों ओर बिल्कुल सन्नाटा छा गया। तब महाप्रभु अपने कोकिलकूजित कण्ठसे बड़ी ही करुणाके साथ जगन्नाथजीकी स्तुति करने लगे। भक्तोंने भी प्रभुके स्वरमें स्वर मिलाया।

जयति जयति देवो देवकीनन्दनोऽसौ
जयति जयति कृष्णो वृष्णिवंशप्रदीपः।
जयति जयति मेघश्यामलः कोमलाङ्गो
जयति जयति पृथ्वीभारहारो मुकुन्दः॥*

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥†

'दासानुदासः' यह पद समाप्त हुआ कि फिर झाँझ, मृदंग और खोल स्वतः ही बजने लगे। रथ घर-घर शब्द करके फिर चलने लगा। महाप्रभु फिर उसी भाँति उद्दाम नृत्य करने लगे। उनके सम्पूर्ण शरीरमें स्तम्भ, स्वेद, पुलक, अश्रु, कम्प, वैवर्ण, स्वरविकृति आदि सभी सात्त्विक

---

* देवकीनन्दन भगवान्‌की जय हो, जय हो। वृष्णिवंशावतंस श्रीकृष्णकी जय हो, जय हो। मेघके समान श्यामवर्णवाले सुन्दर सलोने श्यामकी जय हो, जय हो। पृथ्वीका भार हरण करनेवाले भगवान् मुकुन्दकी जय हो, जय हो।

† न तो मैं ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र। मैं न तो ब्रह्मचारी हूँ, न गृहस्थ, न वानप्रस्थ और न संन्यासी, तब हूँ कौन? स्वतः प्रकाशस्वरूप निखिल परमानन्दपूर्ण, अमृत-समुद्ररूप गोपीवल्लभ श्रीकृष्णके पदकमलोंके दासानुदासोंका दास हूँ।

विकारोंका उदय होने लगा। उनके शरीरके सम्पूर्ण रोम एकदम खड़े हो गये, दाँत कड़ाकड़ बजने लगे। स्वर-भंग एकदम हो गया, चेष्टा करनेपर ठीक-ठीक शब्द मुखसे नहीं निकलते थे। आँखोंसे अश्रुओंकी धारा बहने लगी। पसीनेका तो कुछ पूछना ही नहीं। मानों सुवर्णके सुमेरु-पर्वतसे असंख्य नदियाँ निकल रही हों। मुखमेंसे झाग निकल रहे थे। कभी-कभी लेट जाते, फिर उठ पड़ते और आलात चक्रकी भाँति चारों ओर घूमने लगते।

प्रभुके उद्दण्ड नृत्यसे रथका चलना फिर बन्द हो गया। भक्तगण महाप्रभुकी ऐसी विचित्र अवस्था देखकर भयके कारण काँपने लगे। दर्शनार्थी महाप्रभुके नृत्यको देखनेके लिये टूटे ही पड़ते थे। नित्यानन्द-जीको बड़ी घबड़ाहट होने लगी। लोगोंकी भीड़ प्रभुके ऊपरको ही चली आ रही थी। तब नित्यानन्दजीने अपने भक्तोंकी एक गोल मण्डली बना ली और उसके भीतर प्रभुको ले लिया। महाराजने भी उसी समय अपने नौकरोंको फौरन आज्ञा दी कि इस भक्तमण्डलीके गोलको तुम लोग चारों ओरसे घेर लो, जिससे और लोग इस मण्डलीको धक्का न दे सकें। महाराज-की आज्ञा उसी समय पालन की गयी और भक्तमण्डलीकी रक्षाका प्रबन्ध राजकर्मचारियोंने उसी समय कर दिया।

महाराज प्रतापरुद्रजी भी अपने प्रधान मन्त्री श्रीहरिचन्दनेश्वरके कन्धेपर हाथ रखे हुए महाप्रभुके उद्दण्ड नृत्यको देख रहे थे। महाराज-के सामने ही दीर्घकाय श्रीवास पण्डित भावमें विभोर हुए खड़े थे। महाराज प्रभुके नृत्यको एकटक होकर देख रहे थे। किन्तु सामने खड़े हुए श्रीवास पण्डित बार-बार झूम-झूमकर महाराजके देखनेमें विघ्न डालते। राजमन्त्री हरिचन्दनेश्वर उन्हें बार-बार खेंचते और वहाँसे हट जानेका संकेत करते। किन्तु हरिरसमदिरामें मत्त हुए भक्त श्रीवास किसकी सुननेवाले थे। मन्त्रीजी बड़े आदमी होंगे, तो अपने राज्यके होंगे,

भक्तोंके लिये तो यहाँ सभी समान ही थे। बार-बार टोंचनेपर भावावेशमें भरे हुए श्रीवास पण्डितको एकदम क्षोभ हो उठा। उन्होंने आव गिना न ताव, बड़े जोरोंसे कसकर एक झापड़ राजमन्त्री चन्दनेश्वरके सुन्दर लाल कपोलपर जमा दिया। उस जोरके चपतके लगते ही मन्त्री महोदय अपना सभी मन्त्रीपन भूल गये। गाल एकदम और अधिक लाल पड़ गया। सम्पूर्ण शरीरमें झनझनी फैल गयी। राजमन्त्री हक्के-बक्के-से होकर चारों ओर देखने लगे। उस समय बेहोशीमें उन्हें मान-अपमानका कुछ भी ध्यान नहीं हुआ। गहरी चोट लगनेपर जैसे रक्त-को देखकर पीछेसे दुख होता है, उसी प्रकार झापड़ खाकर जब राज-मन्त्रीने अपने चारों ओर देखा तब उन्हें अपने अपमानका भान हुआ। उसी समय उन्होंने अपने मन्त्रीपनेकी तेजस्विता दिखायी। श्रीवास पण्डितको उसी समय इसका मजा चखानेके लिये वे कर्मचारियोंको कठोर आज्ञा देने लगे। परन्तु बुद्धिमान् महाराजने उन्हें शान्त करते हुए कहा—'आप यह कैसी बात कर रहे हैं? देखते नहीं, ये भावमें विभोर हैं। आपका परम सौभाग्य है जो ऐसे भगवद्-भक्तने भगवान्के भावमें आपके कपोलका स्पर्श किया। यह इनकी आपके ऊपर असीम कृपा ही है। यदि हमें इनके इस झापड़का सौभाग्य प्राप्त होता, तो हम आज अपनेको सबसे बड़ा सौभाग्यशाली समझते। आप अपने रोषको शान्त कीजिये और महाप्रभुके कीर्तन-रसका आस्वादन कीजिये।'

इस प्रकार महाराजके समझानेपर हरिचन्दनेश्वर राजमन्त्री शान्त हुए। नहीं तो उसी समय रङ्गमें भङ्ग हो जाता। मालूम पड़नेपर श्रीवास पण्डित बहुत ही अधिक लज्जित हुए। महाप्रभुको इन बातोंका कुछ भी पता नहीं था; वे उसी भावसे उद्दण्ड नृत्य कर रहे थे। न उन्हें लोगोंका पता था, न राजा तथा राजमन्त्रीका। वे जोरोंसे नृत्य करते, कभी किसीका आलिङ्गन कर लेते, कभी किसीका चुम्बन करते,

कभी किसीका हाथ पकड़कर ही नृत्य करने लगते। दर्शनार्थी प्रभुके चरणोंके नीचेकी धूलि उठा-उठाकर सिरपर चढ़ाते। भक्तवृन्द उस चरणरेणुको अपने-अपने शरीरोंमें मलते। इस प्रकार बड़ी देरतक महाप्रभु नृत्य करते रहे। नृत्य करते-करते प्रभु थककर बैठ गये और स्वरूपको आज्ञा दी कि किसी पदका गायन करो। गायनाचार्य दूसरे गौरचन्द्र श्रीस्वरूपदामोदर गोस्वामी गाने लगे—

सेई त परान-नाथ पाइनू।
याहा लागि मदन-दहन झूरि गेनू॥

पदके साथ-ही-साथ वाद्य बजने लगे। हरि-हरि करके भक्त नाचने लगे। जगन्नाथजीका रथ आगे बढ़ा और महाप्रभु भी नृत्य करते-करते उसके आगे चले।

अब प्रभु राधाभावसे भावान्वित हो गये। उन्हें भान होने लगा मानों श्रीश्यामसुन्दर बहुत दिनोंके विछोहके बाद मिलनेके लिये आये हैं। इसी भावसे वे जगन्नाथजीकी ओर भाँति-भाँतिके प्रेम-भावोंको हाथोंद्वारा प्रदर्शित करते हुए नृत्य करने लगे। अब उन्हें प्रतीत होने लगा मानों श्रीकृष्ण आकर मिल गये हैं, किन्तु इस मिलनमें वह सुख नहीं है, जो वृन्दावनके पुलिन-कुञ्जोंमें आता था। इसी भावमें विभोर होकर वे इस श्लोकको पढ़ने लगे—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥

(काव्यप्रकाश १।४)

नायिका पुनर्मिलनके समय कह रही है, 'जिस कौमार-कालमें रेवानदीके तटपर जिन्होंने हमारे चित्तको हरण किया था, वे ही इस समय हमारे पति हैं। वही मधु-मासकी मनोहारिणी रजनी है, वही उन्मीलित मालती-पुष्पकी मनको मस्त कर देनेवाली भीनी-भीनी सुगन्ध आ रही है, वही कदम्ब-काननसे स्पर्श की हुई शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु बह रही है, पतिके साथ सुरत-व्यापार-लीला करनेवाली नायिका भी मैं वही हूँ और मनको हरण करनेवाले नायक भी ये वे ही हैं, तो भी मेरा चञ्चरीकके समान चञ्चल चित्त सन्तुष्ट नहीं हो रहा है, यह तो उसी रेवाके रमणीक तटके लिये उत्कण्ठित हो रहा है।' हाय रे! विरह! बलिहारी है तेरे पुनर्मिलनकी। इस श्लोकको महाप्रभु किस भावसे कह रहे हैं इसे स्वरूपदामोदरके सिवा और कोई समझ ही न सका। सबोंके समझनेकी बात भी नहीं थी, उनके बाहर चलनेवाले प्राण श्रीस्वरूपदामोदर ही समझ भी सकते थे। इस भावको एक दिन श्लोकबद्ध करके महाप्रभुके सम्मुख भी उपस्थित किया था। महाप्रभु उस श्लोकको सुनकर बड़े ही चकित हुए और बड़े ही स्नेहके साथ स्वरूप-दामोदरकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहने लगे—'स्वरूप! श्रीजगन्नाथजीके रथके सम्मुख नृत्य करते समयके हमारे भावको तुम कैसे जान गये? यह श्लोक तो तुमने मेरे मनोभावोंका एकदम प्रतिबिम्ब ही बनाकर रख दिया है।' कुछ लज्जित स्वरमें धीरेसे स्वरूपदामोदरने कहा—'प्रभो! आपकी कृपाके बिना कोई आपके मनोगत भावको समझ ही कैसे सकता है?'

महाप्रभु उस श्लोककी बार-बार प्रशंसा करते हुए कहने लगे—'अहा, कितने सुन्दर भाव हैं, सचमुच कवित्वकी, भाव-प्रदर्शनकी पराकाष्ठा ही कर दी है।' वाह—

प्रियः सोऽयं कृष्णः सहचरि कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाहं सा राधा तदिदमुभयोः सङ्गमसुखम्।

तथाप्यन्तःखेलन्मधुरमुरलीपञ्चमजुषे
मनो मे कालिन्दीपुलिनविपिनाय स्पृहयति ॥

कुरुक्षेत्रमें पुनः मिलनेपर राधिकाजी कह रही हैं—'हे सहचरि ! मेरे वे ही प्राणनाथ हृदयरमण श्रीकृष्ण मुझे कुरुक्षेत्रमें मिले हैं, मैं भी वही वृषभानुनन्दिनी कीर्तिसुता राधा हूँ और दोनोंके परस्पर मिलनेसे सङ्गमसुख भी प्राप्त हुआ । किन्तु प्यारी सखी ! हृदयकी सच्ची बात कहती हूँ, जिस वनमें मुरलीमनोहरकी पञ्चम स्वरमें बजती हुई मुरलीकी मनमोहक तान सुनी थी उस कालिन्दीकूलवाले वनके लिये मेरा मनमधुप अत्यन्त ही लालायित हो रहा है ।' यह भाव प्रभुके मनोगत भावके एकदम अनुरूप ही था ।

इस प्रकार श्रीराधिकाजीके अनेक भावोंको प्रकट करते हुए प्रभु रथके आगे-आगे नृत्य करते हुए चलने लगे । उनके आजके नृत्यमें जगत्को मोहित करनेवाली शक्ति थी । नृत्य करते-करते एक बार महाप्रभु महाराज प्रतापरुद्रके बिल्कुल ही समीप पहुँच गये । महाराजने इस सुअवसरको पाकर प्रभुके चरण पकड़ लिये । उसी समय प्रभुको बाह्यज्ञान हुआ । और यह कहते हुए कि 'राजाने मेरा स्पर्श कर लिया, मेरे जीवनको धिक्कार है ।' वे वहाँसे आगे चले गये । इससे राजाको बड़ा क्षोभ हुआ । सार्वभौम भट्टाचार्यने कहा—'आप क्षोभ न करें । यह तो प्रभुकी आपके ऊपर असीम कृपा ही है, प्रभु आपको कृतार्थ करने ही यहाँतक आये थे ।' इस बातसे महाराजको सन्तोष हो गया ।

महाप्रभु अब रथके चारों ओर परिक्रमा करने लगे । वे स्वयं ही अपने हाथोंसे रथको ढकेलने लगे । रथ घर-घर, हड़हड़ शब्द करता हुआ जोरोंसे आगे बढ़ने लगा । महाप्रभु कभी बलभद्रजीके रथके सम्मुख

नृत्य करते, कभी सुभद्राजीके रथके सामने और कभी फिर जगन्नाथजीके रथके सम्मुख आ जाते। इस प्रकार रथके साथ नृत्य करते बलगण्डि पहुँच गये। बलगण्डि जाकर रथ खड़ा हो गया। अब भगवान्‌के भोगकी तैयारियाँ होने लगीं।

श्रद्धावालू और अर्धासनी देवीके बीचमें बलगण्डि नामक एक स्थान है। वहाँपर भोग लगनेका नियम है। उस स्थानपर जगन्नाथजी करोड़ों प्रकारकी वस्तुओंका रसास्वाद लेते हैं। राजा-प्रजा, धनी-गरीब, स्त्री-पुरुष जो भी वहाँ होते हैं सभी अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार भगवान्‌का भोग लगाते हैं। जैसी जिसकी इच्छा हो, जो जिस चीजका भी भोग लगा सकता है उसी चीजका लगाता है। मन्दिरकी भाँति सिद्ध अन्नका भोग नहीं लगता। रास्तेके दायें, बायें, आगे, पीछे, वाटिकामें जहाँ भी जिसे स्थान मिलता है वहीं भोग रख देता है। उस समय लोगोंकी बड़ी भारी भीड़ हो जाती है। उसे नियन्त्रणमें रखना महा कठिन हो जाता है।

महाप्रभु भीड़को देखकर समीपके ही बगीचेमें विश्राम करनेके लिये चले गये। भक्तवृन्द भी प्रभुके पीछे-पीछे चले। वाटिकामें जाकर प्रभु एक सुन्दर-से वृक्षकी शीतल छायामें पृथ्वीपर ही लेट गये। मन्द-सुगन्धित-शीतल पवनके स्पर्शसे प्रभुको अत्यन्त ही आनन्द हुआ। वे सुखपूर्वक एक पैरपर दूसरे पैरको रखे हुए लेटे थे। उस समय थकानके कारण अपनी कोमल भुजापर सिर रखकर लेटे हुए महाप्रभु बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। वाटिकाके प्रत्येक वृक्षके नीचे एक-एक, दो-दो भक्त पड़े हुए सङ्कीर्तनकी थकानको मिटा रहे थे।

महाराज प्रतापरुद्रको प्रेम-दान

राज्यातिमानं सुकुलाभिमानं
श्रीकृष्णचैतन्यमयीदयार्थम् ।
सर्वं त्यजेद्भक्तवरः स राजा
प्रतापरुद्रो मम मान्यपूज्यः ॥*

(प्र० द० ब्र०)

कबीरबाबाने सच कहा है—

पियका मिलना सुगम है, तेरा चलन न वैसा ।
नाचन निकली बापुरी, फिर घूँघट कैसा ॥

सचमुच जहाँ पर्दा है वहाँ मिलन कैसा ? जहाँ बीचमें दीवार खड़ी है वहाँ दर्शन-सुख कहाँ ? जहाँ अन्तराय है वहाँ सच्चा सुख हो ही नहीं सकता । जबतक पद-प्रतिष्ठा, पैसा-परिवार, पाण्डित्य और पुरुषार्थका अभिमान है तबतक प्यारेके पास पहुँचना अत्यन्त ही कठिन है । जबतक अहंकृतिकी गहरी खाईं बीचमें खुदी हुई है, तबतक प्यारेके महलतक पहुँचना टेढ़ी खीर है । जबतक सभी अभिमानोंको त्यागकर निष्किञ्चन बनकर प्यारेके पादपद्मोंके समीप नहीं जाता, तबतक उसके प्रसादको प्राप्त करनेमें कोई भी समर्थ नहीं हो सकता । इसीलिये महात्मा कबीरदासजीने कहा है—

चाखा चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान ।
एक म्यानमें दो खडग, देखी सुनी न कान ॥

---

* श्रीकृष्णचैतन्यमयी दयाके निमित्त जिन्होंने राज्यके इतने बड़े भारी मान और उच्च कुलके अभिमानका (तथा छत्र-चामर आदि चिह्नोंका) परित्याग कर दिया, वे भक्तवर महाराज प्रतापरुद्रजी हमारे पूजनीय तथा माननीय हैं ।

महाराज प्रतापरुद्रजी जबतक राज्य-सम्मानके अभिमानमें बने रहे और दूसरे-दूसरे आदमियोंसे सन्देश भिजवाते रहे, तबतक वे महाप्रभु-की कृपासे वञ्चित ही रहे। जब उन्होंने सब कुछ छोड़-छाड़कर निष्किञ्चन भक्तकी भाँति प्रभु-पादपद्मोंका आश्रय ग्रहण किया तब वे महाभाग परमभागवत बन गये और उनकी गणना परमवैष्णव भक्तोंमें होने लगी।

महाप्रभु बलगण्डिकी पुष्प-वाटिकामें सुखपूर्वक विश्राम कर रहे थे। सङ्कीर्तन और नृत्यकी थकानके कारण प्रभुके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो रहे थे। उनके कमलके समान नेत्र कुछ खुले हुए थे और कुछ मुँदे हुए थे। प्रभु अर्धनिद्रित अवस्थामें पड़े हुए शीतल वायुके स्पर्शसे परमानन्दका-सा अनुभव कर रहे थे कि इतनेमें ही सार्वभौम भट्टाचार्यका संकेत पाकर कटकाधिप महाराज प्रतापरुद्रजी प्रभुके दर्शनोंके लिये चले। महाराजने अपने राजसी वस्त्र उतार दिये थे; छत्र, चँवर तथा मुकुट आदि राज्य-चिह्नोंका भी उन्होंने परित्याग कर दिया था। एक साधारण-से वस्त्रको ओढ़े हुए नंगे पैरों ही वे प्रभुके दर्शनोंके लिये चले। महाराजके पीछे-पीछे नियमके अनुसार उनके शरीररक्षक भी चले, किन्तु महाराजने उन सबको साथ आनेसे निवारण कर दिया। वे एकाकी ही प्रभुके निकट जाने लगे।

महाराजने देखा, सभी भक्त आनन्दमें विभोर हुए पेड़ोंकी सुखद शीतल छायामें पड़े हुए विश्राम कर रहे हैं। महाराजकी दृष्टि जिन वैष्णवोंपर पड़ी, उन सबको ही उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया। थोड़ी दूरपर अर्धोन्मीलित दृष्टिसे लेटे हुए प्रभुको उन्होंने देखा। महाप्रभु सुखपूर्वक लेटे हुए थे। महाराज पहले तो कुछ सहमे, फिर धीरे-धीरे जाकर उन्होंने प्रभुके पैर पकड़ लिये और उन्हें अपने अरुण रंगके कोमल करोंसे धीरे-धीरे दबाने लगे। पैर दबाते-दबाते वे श्रीमद्भागवत-के दशम स्कन्धके गोपीगीतका गायन करने लगे।

रास-मण्डलमेंसे रसिकशिरोमणि श्रीकृष्णजी सहसा अन्तर्द्धान हो गये हैं। उनके वियोग-दुःखसे दुखी हुई गोपिकाएँ पशु-पक्षी तथा लता-कुञ्जोंसे प्रभुके सम्बन्धमें पूछती हुई विलाप कर रही हैं। उसी विरहका वर्णन गोपिका-गीतका 'जयति तेऽधिकम्' आदि १९ श्लोकोंमें किया गया है। महाराज बड़े ही मधुर स्वरसे उन श्लोकोंका गान कर रहे थे। श्लोकोंके सुनते-सुनते ही महाप्रभुकी प्रेमसमाधि लग गयी। उन्हें प्रेमके आवेशमें कुछ ध्यान ही न रहा कि हमारे पैरोंको कौन दबा रहा है और कौन यह हमारे हृदयको परमशान्ति देनेवाला अमृतरस पिला रहा है। प्रभु अर्धमूर्छित अवस्थामें वाह-वाह, हाँ-हाँ, फिर-फिर, आगे कहो, आगे कहो, ऐसे शब्द कहते जाते थे। महाराज जब अन्य श्लोकोंका गायन करते-करते इस श्लोकको गाने लगे—

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥*
(श्रीमद्भा० १०।३१।९)

तब महाप्रभु एकदम उठकर बैठे हो गये और महाराजका जोरोंसे आलिङ्गन करते हुए कहने लगे—'अहा, महाभाग, आप धन्य हैं। मैं आपके इस ऋणसे कभी उऋण नहीं हो सकता। आज आपने मुझे प्रेमामृत पान कराकर कृतकृत्य कर दिया। आपने मुझे अमूल्य रत्न

* तुम्हारा कथामृत त्रितापोंसे तपे हुए प्राणियोंको जीवनदान देनेवाला, ब्रह्मादिद्वारा गाया जानेवाला, पापोंको अपहरण करनेवाला, सुननेमात्रसे ही मंगल प्रदान करनेवाला, सर्वोत्कृष्ट और सर्वव्यापक है। उस तुम्हारे ऐसे कमनीय कथामृतका जो इस पृथ्वीपर कथन करते हैं, वे ही बड़े उदार पुरुष हैं, (फिर जो उसका निरन्तर पान ही करते रहते हैं, उनके तो भाग्यका कहना ही क्या?)

प्रदान किया, इसके बदलेमें मैं आपको क्या दूँ ? मेरे पास तो यही प्रेमालिङ्गन है, इसे ही आपको प्रदान करता हूँ। आप अपना परिचय हमें दीजिये। आप कौन हैं ? आपने ऐसी अहैतुकी कृपा मुझपर क्यों की है?'

अत्यन्त ही विनीत भावसे महाराजने कहा—'प्रभो ! मैं आपके दासोंका दास बननेकी इच्छा करनेवाला एक अकिञ्चन सेवक हूँ। आज मैंने क्या नहीं पा लिया। प्रभुके प्रेमालिङ्गनको पानेपर फिर मेरे लिये संसारमें प्राप्य वस्तु ही क्या रह गयी ? आज मैं धन्य हो गया। मेरा मनुष्य-जन्म लेना सफल हो गया। इतने दिनकी जगन्नाथजीकी सेवाका पुरस्कार प्राप्त हो गया। आपके श्रीचरणोंमें मेरा अक्षुण्ण स्नेह बना रहे और आपके हृदयके किसी छोटे-से कोनेमें मेरी स्मृति बनी रहे, यही मैं आपके चरणोंमें पड़कर भीख माँगता हूँ।'

इस प्रकार महाप्रभुके प्रेमालिङ्गनको पाकर और महाप्रभुकी प्रसन्नताको लाभ करके महाराज प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करके चले गये। भक्तवृन्द महाराजके भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे।

उसी समय जाकर महाराजने वाणीनाथके हाथों बलगण्डिका भगवान्‌का बहुत-सा प्रसाद प्रभुके समीप भिजवा दिया। प्रसादमें सैकड़ों वस्तुएँ थीं। पचासों प्रकारके छोटे-बड़े अलग-अलग जातिके आम थे; केला, सन्तरा, नारियल, नारङ्गी तथा और भी भाँति-भाँतिके फल थे। किसमिस, बादाम, अखरोट, अञ्जीर, काजू, छुहारे, पिस्ता, चिरौंजी, दाख, मखाने तथा और भी पचासों प्रकारके मेवे थे। भाँति-भाँतिकी मिठाइयाँ थीं। अनेक प्रकारके पेय पदार्थ थे। उन नाना भाँतिके पदार्थोंसे वह वाटिका-भवन भर गया। भगवान्‌के ऐसे प्रसादको देखकर प्रभुको परम प्रसन्नता हुई। वे अपने हाथोंसे ही भक्तोंको प्रसाद वितरण करने लगे। एक-एक भक्तको दस-दस, बीस-बीस दोने देते तो भी सब चीजें थोड़ी-थोड़ी उनमें नहीं आतीं। महाप्रभु भक्तोंको

सङ्कीर्तनसे थका हुआ समझकर यथेष्ट प्रसाद दे रहे थे। सभीको प्रसाद वितरण करके प्रभुने उसे पानेकी आज्ञा दी, किन्तु प्रभुके पहले प्रसाद-को पा ही कौन सकता था, इसलिये प्रभु अपने मुख्य-मुख्य भक्तोंको साथ लेकर प्रसाद पाने बैठ गये। सभीने खूब डटकर प्रसाद पाया। महाप्रभु आग्रहपूर्वक उन सबको खिला रहे थे। भक्तोंसे जो शेष प्रसाद बचा वह अभ्यागतोंको बाँट दिया गया। प्रसाद पा लेनेके अनन्तर सभी भक्त विश्राम करने लगे।

इतनेमें ही रथके चलनेका समय आ पहुँचा। महाराजने रथको चलानेकी आज्ञा दी। लाखों आदमी एक साथ मिलकर रथको खींचने लगे, किन्तु रथ टस-से-मस नहीं हुआ, तब तो महाराज बड़े ही चिन्तित हुए। इतनेमें ही महाप्रभु अपने भक्तोंके साथ रथके समीप पहुँच गये। महाप्रभुने 'हरि हरि' शब्द करते हुए जोरोंके साथ रथमें धक्का दिया और रथ उसी समय घर-घर शब्द करता हुआ जोरोंसे चलने लगा। सभीको बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। गौड़ीय भक्त 'जगन्नाथजीकी जय' 'गौरचन्द्रकी जय' 'श्रीकृष्णचैतन्यकी जय' आदि जय-जयकारोंसे आकाशको गुँजाने लगे। इस प्रकार बात-की-बातमें रथ गुण्टिचा-भवनके समीप पहुँच गया। वहाँ जाकर भगवान्को मन्दिरमें पधराया गया। भगवान्के पुजारियोंने जगन्नाथजीकी आरति आदि की। महाप्रभुने मन्दिरके सामने ही कीर्तन आरम्भ कर दिया। बड़ी देरतक सङ्कीर्तन होता रहा। फिर महाप्रभु सभी भक्तोंके सहित भगवान्की सन्ध्याकालीन भोग-आरतिमें सम्मिलित हुए। सभीने भगवान्की वन्दना और स्तुति की। तदनन्तर भक्तोंके सहित महाप्रभुने गुण्टिचा-उद्यान-मन्दिरके समीप आईटोटा नामक एक बागमें रात्रिभर निवास किया। गुण्टिचा-मन्दिरमें नौ दिनोंतक उत्सव होता है, महाप्रभु भी तबतक भक्तोंके सहित यहीं रहे।

पुरीमें भक्तोंके साथ आनन्द-विहार

परिवदतु जनो यथा तथा वा
ननु मुखरो न वयं विचारयामः।
हरिरसमदिरामदातिमत्ता
भुवि विलुठाम नटाम निर्विशामः॥*

(चैत० चरि०)

आनन्द और उल्लासको विध्वंस करनेवाली राक्षसी चिन्ता ही है। संसार चिन्ताका घर है। संसारी लोगोंको धनकी, मान-प्रतिष्ठाकी, स्त्री-बच्चोंकी तथा और हजारों प्रकारकी चिन्ताएँ लगी रहती हैं। उन चिन्ताओं-के ही कारण उनका आनन्द एकदम नष्ट हो जाता है और वे सदा अपनेको विपद्ग्रस्त-सा ही अनुभव करते रहते हैं। जिन्हें संसारी भोगों-को संग्रह करनेकी चिन्ता है, उन्हें सुख कहाँ? वे बेचारे आनन्दका स्वाद क्या जानें। आनन्दकी मिठास तो भोगोंकी इच्छाओंसे रहित वीतरागी प्रभुप्रेमी ही जान सकते हैं। आनन्द भोगोंमें न होकर उनकी हृदयसे

---

* बकवादी लोग जैसा चाहें वैसा अपवाद किया करें, हम उसपर ध्यान नहीं देंगे, हम तो बस हरिनाम-रसकी मदिराके नशेमें मस्त हो भूमिपर नाचेंगे, लोटेंगे और लोटते-लोटते बेसुध हो जायँगे।

इच्छा न करनेमें ही है। इसीलिये परमार्थके पथिक विषय-भोगोंका परित्याग करके पुण्य-तीर्थोंमें या वनोंमें जाकर निवास करते हैं।

संसारी लोगोंपर भी इन पुण्य-स्थानोंका प्रभाव पड़ता है। किसी धनिकके घर जाकर हम मिलते हैं, तो उसे मान-अपमान, स्त्री-पुत्र तथा परिवारके चिन्ताजनक वायुमण्डलमें घिरा हुआ देखते हैं, वहाँ वह हमसे न तो खूब प्रेमपूर्वक मिलता ही है और न खुलकर बातें ही करता है। उसीसे जब किसी विरक्त साधु-महात्माके स्थानपर किसी पवित्र देवस्थान अथवा जगन्मान्य पुण्य-तीर्थपर मिलते हैं तो वह बड़ी ही सरलतासे मिलता है, हँसता है, खेलता है और बच्चोंकी तरह निष्कपट बातें करता है। इसका कारण यह है कि उसके हृदयमें आनन्दका अंश भी है और चिन्ताका भी। घरपर चिन्ताके परमाणुओंका प्राबल्य होनेसे वह उन्हींके वशीभूत रहता है। आनन्दकी पवित्र इच्छा यदि उसके हृदयमें होती ही नहीं, तो वह सदाचारी एकान्तप्रिय महात्माओंके पास जाने ही क्यों लगा? उनके पास जानेसे प्रतीत होता है कि वह सच्चे आनन्दका भी उत्सुक है और उसके आनन्दमय भाव महापुरुषकी सङ्गतिमें ही आकर पूर्णरीत्या परिस्फुट होते हैं, इसीलिये तो कहा है—सदाचारी और कल्याण-मार्गके जानेवाले सद्गृहस्थको भी सालभरमें दो-एक महीनोंके लिये किसी पवित्र स्थानमें या किसी महापुरुषके संसर्गमें रहना चाहिये। इससे उसे परमार्थके पथमें बहुत अधिक सहायता मिल सकती है और इन स्थानोंके सेवनसे उसे सच्चे आनन्दका भी कुछ-कुछ अनुभव हो सकता है।

गौड़ीय भक्त घर-बारकी चिन्ता छोड़कर चार महीने प्रभुके चरणोंमें रहनेके लिये आये थे। एक तो वे वैसे ही भगवद्-भक्त थे, उसपर भी महाप्रभुके परम कृपा-पात्र थे और संसारी भोगोंसे एकदम

उदासीन थे। तभी तो उन्हें पुरुषोत्तम-जैसे परम पावन पुण्यक्षेत्रमें प्रेमावतार श्रीचैतन्यदेवकी संगतिमें इतने दिनोंतक निवास करनेका सौभाग्य प्राप्त हो सका। महाप्रभु तो आनन्दकी मूर्ति ही थे, उनकी संगतिमें परम आनन्दका अनुभव होना अनिवार्य ही था इसीलिये चार महीनोंतक भक्तोंको प्रभुके साथ बड़ा ही आनन्द रहा। महाप्रभु भी उनके साथ नित्य भाँति-भाँतिकी नयी-नयी क्रीडाएँ किया करते थे।

रथ-यात्राके पश्चात् जो पञ्चमी आती है, उसे 'हेरापञ्चमी' कहते हैं। उस दिन महालक्ष्मी भगवान्‌को हेरती अर्थात् खोजती हैं। इसीलिये उसका नाम हेरापञ्चमी है। जगन्नाथजीमें हेरापञ्चमीका उत्सव भी खूब धूम-धामसे होता है। जिस प्रकार जगन्नाथजीके मन्दिर-को नीलाचल कहते हैं उसी प्रकार गुण्टिचा उद्यानके मन्दिरको सुन्दरा-चल कहते हैं। भगवान् तो उस दिन सुन्दराचलमें ही विराजते हैं, किन्तु हेरापञ्चमीका उत्सव यहाँ नीलाचलमें ही होता है। अबके महाराजने अपने कुलपुरोहित श्रीकाशी मिश्रको हेरापञ्चमी-उत्सवको खूब धूम-धामके साथ करनेकी आज्ञा दी। महाराजकी आज्ञानुसार भगवान्‌का मन्दिर विविध भाँतिसे सजाया गया। महाराजने स्वयं अपने घरका सामान उत्सवकी सजावटके लिये दिया और महाप्रभुके दर्शनके लिये विशेष रीतिसे प्रबन्ध किया गया। प्रातःकाल सभी भक्तोंको साथ लेकर महाप्रभु हेरापञ्चमीके लक्ष्मी-विजयोत्सवको देखनेके लिये सुन्दरा-चलसे नीलाचल पधारे। महाराजने उनके बैठनेका पहलेसे ही सुन्दर प्रबन्ध कर रखा था। महाप्रभु अपने सभी भक्तोंके सहित वहाँ बैठ गये। इतनेमें ही एक बहुत बढ़िया सुन्दर-डोलामें बैठकर भगवान्‌को खोजती हुई लक्ष्मीजी अपनी सभी दासियोंके सहित पधारीं। उस समय लक्ष्मीजी-की शोभा अपूर्व ही थी। उनके सम्पूर्ण अंगोंमें भाँति-भाँतिके बहुमूल्य

अलंकार शोभायमान थे, आगे-आगे देव-दासियाँ नृत्य करती आ रही थीं और अनेक प्रकारके वाद्य उनके आगे बज रहे थे। आते ही श्रीलक्ष्मीजीकी दासियोंने जगन्नाथजीके मुख्य-मुख्य सेवकोंको बाँध लिया और बाँधकर उन्हें लक्ष्मीजीके सम्मुख उपस्थित किया। दासियाँ उन सेवकोंको मारती भी जाती थीं। महाप्रभुने स्वरूपदामोदरसे पूछा—'स्वरूप! यह क्या बात है, लक्ष्मीजी इतनी कुपित क्यों हैं?'

स्वरूपदामोदरने कहा—'प्रभो! क्रोधकी बात है। अपने प्राण-प्यारेसे पृथक् होनेपर किसे अपार दुःख न होगा।'

महाप्रभुने पूछा—'मैं यह जानना चाहता हूँ कि भगवान् अकेले ही चुपकेसे चोरकी भाँति वृन्दावन क्यों चले गये, लक्ष्मीजीको वे साथ क्यों नहीं ले गये?'

स्वरूपदामोदरने कहा—'प्रभो! रासलीलामें व्रजकी गोपिकाओं-का ही अधिकार है, लक्ष्मीजीके भाग्यमें यह सौभाग्य-सुख नहीं है।'

इस प्रकार महाप्रभुजी इसी सम्बन्धमें श्रीवास पण्डित तथा स्वरूप-दामोदरसे बहुत देरतक बातें करते रहे। श्रीवास पण्डित लक्ष्मीजीका पक्ष लेकर स्वरूपदामोदरकी बातोंका चातुरीपूर्वक खण्डन करते थे। इस प्रकार यह प्रेमयुक्त विवाद कुछ देर और चलता रहा। इतनेमें ही सेवकोंके यह वचन देनेपर कि हम आपके स्वामीको शीघ्र ही लाकर आपसे भेंट करा देंगे, लक्ष्मीजीने उनके बन्धन खुलवा दिये और वे अपने स्थानको लौट आयीं। महाप्रभुजी भी लक्ष्मीजीका प्रसाद लेकर सुन्दराचल लौट आये। वहाँ भक्तोंके सहित उन्होंने सन्ध्या-आरतीके दर्शन किये और बहुत रात्रितक सङ्कीर्तन होता रहा।

इस प्रकार आठ दिनोंतक महाप्रभु सुन्दराचलमें भक्तोंके साथ आनन्द-विहार करते रहे। वे नित्यप्रति इन्द्रद्युम्न-सरोवरमें भक्तोंके साथ

जल-क्रीडा करते । कोई किसीके ऊपर जल उलीच रहा है, तो कोई किसीके ऊपर सवारी ही कर रहा है । झुण्ड-के-झुण्ड भक्त टोली बना-बनाकर एक-दूसरेके ऊपर जलकी वर्षा करते, फुहारे छोड़ते और डुबकी लगाकर एक-दूसरेके पैर पकड़ते । फिर दो-दो मिलकर परस्परमें जलयुद्ध करते । गौड़ीय भक्तोंके सहित सार्वभौम भट्टाचार्य, राय रामानन्द, गोपीनाथाचार्य तथा और भी राज्यके बहुत-से प्रतिष्ठित पुरुष प्रभुकी जल-क्रीडामें सम्मिलित होते । राय महाशय और सार्वभौमका जोड़-तोड़ था । वे परस्पर विविध प्रकारसे जलयुद्ध करते । महाप्रभु इन दोनोंके कुतूहलको देखकर एक ओर खड़े-खड़े हँसते रहते । कभी-कभी गोपीनाथाचार्यसे कहते—'आचार्य ! आप इन दोनोंको बरजते क्यों नहीं । इस प्रकार बच्चोंकी तरह क्रीडा करते देखकर लोग इन्हें क्या कहेंगे, ये दोनों ही महान् प्रतिष्ठित और सम्माननीय पुरुष हैं ।'

आचार्य हँसकर कहते—'जब आपका इन दोनोंके ऊपर इतना असीम अनुग्रह है, तब ये क्या सदा अपने बड़प्पनको साथ ही बाँधे फिरेंगे ? यह सब आपकी कृपाका ही फल है ।'

आचार्य सार्वभौम जोरोंसे जल उलीचते हुए कहते—'हरिरस-मदिरामदेन मत्ता भुवि विलुठाम नटाम निर्विशामः' 'हम पागल हो गये हैं पागल ।' इतनेमें ही प्रभु उन्हें नीचे करके उनके ऊपर सवार हो जाते, वे भी शेषनागकी तरह प्रभुको अपने शरीरपर शयन करा लेते । इस प्रकार यह आनन्द प्रायः रोज ही होता था । शामको महाप्रभु आईटोटा बागमें नित्यप्रति श्रीकृष्ण-लीलाओंका अभिनय करते, जिससे भक्तोंको अत्यन्त ही सुख मिलता । इस प्रकार आनन्द-विहार करते-करते आठ दिन बात-की-बातमें निकल गये, किसीको पता ही न लगा कि कब हम सुन्दराचल आये और कब आठ दिन व्यतीत हो गये । सुखका समय इसी प्रकार सहजमें ही बीत जाता है ।

इस प्रकार आठ दिनोंतक आनन्दके साथ निवास करनेके अनन्तर अब जगन्नाथकी 'उलटी रथ-यात्रा' का समय आया। भगवान् अब सुन्दराचलको छोड़कर नीलाञ्चल पधारेंगे। इसलिये सेवकवृन्द भगवान्‌को रथपर चढ़ानेका प्रयत्न करने लगे। भगवान्‌को दैयितागण पट्टडोरियोंमें बाँधकर रथपर चढ़ाते हैं। उस समय भगवान्‌को रथपर चढ़ाते समय उनकी एक 'पट्टडोरी' टूट गयी। इसपर प्रभुको बड़ा दुःख हुआ और कुलीनग्रामनिवासी श्रीरामानन्द और सत्यराजखाँसे आप कहने लगे—'आपलोग समर्थ हो, धनी हो। धनका सर्वोत्तम उपयोग यही है कि वह भगवान्‌की सेवा-पूजामें व्यय हो। इस कामको आप अपने जिम्मे ले लें। प्रतिवर्ष अपने यहाँसे भगवान्‌की सुन्दर-सी मजबूत पट्टडोरी बनाकर रथोत्सवके समय साथ लाया करें।'

इन दोनों धनी भक्तोंने प्रभुकी इस आज्ञाको शिरोधार्य किया और अपने भाग्यकी सराहना की। उसके दूसरे सालसे वे प्रतिवर्ष भगवान्‌की पट्टडोरी बनवाकर अपने साथ लाते थे।

भगवान्‌की 'पाण्डुविजय' अर्थात् रथारोहणपूजा हो जानेपर रथ श्रीजगन्नाथजीकी ओर चला, महाप्रभु भी भक्तोंके सहित सङ्कीर्तन करते हुए रथके आगे-आगे चले। भगवान्‌के मन्दिरमें विराजमान होनेपर और उनके दर्शन करके महाप्रभु अपने स्थानपर आ गये और भक्तोंके सहित प्रसाद पाकर उन्होंने विश्राम किया।

गौड़ीय भक्त बारी-बारीसे नित्यप्रति प्रभुको अपने यहाँ भिक्षा कराते थे। महाप्रभु भी प्रेमके साथ सभी भक्तोंके यहाँ भिक्षा करते और उनसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवारके सम्बन्धमें विविध प्रकारके प्रश्न पूछते। इसी प्रकार श्रावण बीतनेपर जन्माष्टमी आयी। महाप्रभुने भक्तोंके सहित खूब धूमधामसे जन्माष्टमीका महोत्सव मनाया। नन्दोत्सवके दिन आपने गौड़ीय भक्तरूपी ग्वालबालोंको साथ लेकर नन्दोत्सव-लीला की। उसमें

उत्कल-देशीय भक्त तथा मन्दिरके कर्मचारी भी सम्मिलित थे। कानाई खूटिया और जगन्नाथ माइति क्रमशः नन्द-यशोदा बने। महाप्रभु स्वयं युवक गोपके वेशमें लाठी हाथमें लेकर नृत्य करने लगे। महाप्रभुकी लाठी फिरानेकी चातुरीको देखकर सभी दर्शक विस्मित हो गये। महाराज प्रतापरुद्रजीने उसी समय प्रभुकी भावावेशावस्थामें ही उनके सिरपर एक बहुमूल्य वस्त्र और जगन्नाथजीका प्रसाद बाँध दिया। प्रभुके सभी साथी ग्वाल-बाल किलकारियाँ मारकर नृत्य करने लगे। जो भक्त नन्द-यशोदा बने थे, उन्होंने सचमुच अपने-अपने घरोंमें घुसकर अपना सब धन ब्राह्मण तथा अभ्यागतोंको लुटा दिया इससे महाप्रभुको परम प्रसन्नता हुई। इस प्रकार उस दिनकी वह लीला बड़े ही आनन्दके साथ समाप्त हुई।

जन्माष्टमी बीतनेपर विजयादशमीका उत्सव आया। उसमें महाप्रभु स्वयं महावीर हनुमान् बने और भक्तोंको रीछ-बानर बनाकर रावणपर विजय-लाभ करने चले। उस समय महाप्रभुको सचमुच वातात्मज श्रीहनुमान्जीका भावावेश हो आया था, वे हाथमें वृक्षकी शाखा लिये हुए किलकारियाँ मारने लगे। सभी महाप्रभुके इस अद्भुत भावको देखकर विस्मित हो गये और जयजयकारी तुमुल ध्वनियोंसे आकाशको गुँजाने लगे। इस प्रकार महाप्रभुने भक्तोंके साथ मिलकर रासयात्राके दीपावली, देवोत्थान आदि सभी पर्वोंकी लीलाएँ कीं। महाप्रभुके सहवासका समय किसीको भी मालूम न पड़ा कि वह कब समाप्त हो गया। सभी अपने-अपने घर तथा परिवारवालोंको एकदम भूल गये थे। उन सबका चित्त श्रीजगन्नाथजीमें तथा महाप्रभुके चरणोंमें लगा रहता था। अब महाप्रभुने भक्तोंको अपने-अपने घर लौट जानेकी आज्ञा दी। इस बातको सुनते ही मानों छोटे-छोटे कोमल वृक्षोंपर तुषार गिर पड़ा हो, उसी प्रकारका दुःख उन सब भक्तोंको हुआ।

भक्तोंकी विदाई

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठस्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषं चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥*

(शकुन्तलानाटक)

भक्तोंकी विदाईका समय समीप आ गया। महाप्रभु अत्यन्त ही स्नेहसे, बड़े ही ममत्वसे सभी भक्तोंसे पृथक्-पृथक् एकान्तमें मिलने लगे। उनसे उनके मनकी बात पूछते, आप अपने मनकी बात बताते,

---

* शकुन्तलाकी विदाईके समय भगवान् कण्व ऋषि कहते हैं—'आज शकुन्तला चली जायगी' इस कारण हृदय उत्कण्ठित हो गया है, गलेमें रुँधे हुए अश्रुवेगसे डबडबायी हुई मेरी आँखें चिन्तासे स्तब्ध हो रही हैं। यदि स्नेहवश मुझ [वीतराग] वनवासीको ऐसी विकलता है तो भला गृहस्थजन पुत्रीके नूतन वियोगजन्य शोकोंसे कैसे नहीं पीड़ित होते होंगे (अपने प्यारेके वियोगमें जिसे दुःखका अनुभव नहीं होता, वह या तो पशु है या इन्द्रियोंको बलपूर्वक रोकनेवाला महान् योगी)।

उनका आलिङ्गन करते, उनके हाथसे थोड़ा प्रसाद पा लेते, स्वयं उन्हें अपने हाथसे प्रसाद देते, इस प्रकार भाँति-भाँतिसे प्रेम प्रदर्शित करके वे सभी भक्तोंको सन्तुष्ट करने लगे। सभी भक्तोंको यह अनुभव होने लगा कि महाप्रभु जितना अधिक स्नेह हमसे करते हैं, उतना शायद ही किसी दूसरेसे करते हों। सभीको इस बातका गर्व-सा था कि प्रभुका सर्वापेक्षा हमारे ही ऊपर अत्यधिक अनुराग है। यही तो उनकी महत्ता थी। जिस समय सभी प्राणियोंमें आत्मभावना हो जाती है, जब सभी अपने प्यारेके स्वरूप दीखने लगते हैं, तब सबको ही हृदयसे चिपटा लेनेकी इच्छा होती है। सभी हृदयवान् भावुक भक्त उसे हृदयसे प्यार करने लगते हैं, सभी उसे अपना ही आत्मा समझते हैं। उस अवस्थामें मोह कहाँ? शोक कैसा? सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द! जिधर देखो उधर ही शुद्ध प्रेम ही दिखायी पड़ता है। प्रेममें सन्देह, ईर्ष्या, डाह और किसीको छोटे समझनेके भाव ही नहीं रहते। ऐसे महापुरुषके संसर्गमें रहकर सभी मनुष्य अपनी खोटी वृत्तियोंको भुला देते हैं और वे सदा प्रेमासवमें छके-से रहते हैं।

सबसे पहले प्रभुने नित्यानन्दजीको बुलाया और उनसे एकान्तमें बहुत देरतक बातें करते रहे और उन्हें गौड़-देशमें जाकर भगवन्नाम प्रचार करनेके लिये राजी किया। आपने उन्हें आज्ञा दी—'गौड़-देशमें जाकर ब्राह्मणसे लेकर चाण्डालपर्यन्त सभीको भगवन्नामका उपदेश करो। ये रामदास, गदाधर आदि बहुत-से भक्त तुम्हारे इस काममें योगदान देंगे। मङ्गलमय भगवान् तुम्हारा कल्याण करें, मैं भी गुप्तरूपसे सदा तुम्हारे साथ ही रहूँगा।'

फिर आपने अद्वैताचार्यसे कहा—'आचार्य! आप ही हम सब लोगोंके श्रेष्ठ, मान्य, गुरु, पूज्य और अग्रणी हैं। आप ऐसा उद्योग सदा

करते रहें कि भक्तवृन्द सङ्कीर्तनसे विमुख न हो जायँ; इन्हें आप सङ्कीर्तनके लिये सदा प्रोत्साहित करते रहियेगा।

इसके अनन्तर श्रीवास पण्डितकी बारी आयी। प्रभुने उनसे कहा—'पण्डितजी, आपके ऋणसे तो हम कभी उऋण ही नहीं हो सकते। आपने तो हमें सचमुच खरीद लिया है, इसलिये आपके आँगनमें जब भी सङ्कीर्तन होगा, उसमें सदा हम गुप्तभावसे अवस्थित रहेंगे। और सदा आपके आँगनमें नृत्य करते रहेंगे।'

फिर आपने आँखोंमें आँसू भरकर कहा—'पण्डितजी! उन पूजनीया दुःखिता वृद्धा माताके चरणोंमें हमारा बार-बार प्रणाम कहियेगा। हमने बड़ा भारी अपराध किया है, जो उन्हें अकेली छोड़कर चले आये हैं। हमारी ओरसे आप मातासे क्षमा-याचना करें और मातासे कह दें कि हम सदा उनके बनाये हुए नैवेद्यका भोजन करते हैं। त्योहारोंके दिन जब वे हमारी स्मृति करके रोती हैं, तब हम वहाँ जाकर उनके बनाये हुए पदार्थोंको खाते हैं। आप उन्हें सान्त्वना प्रदान करें और हमारे शरीरका कुशल-समाचार उन्हें बतावें। हम शीघ्र ही आकर उनके श्रीचरणोंका दर्शन करना चाहते हैं।' यह कहकर महाप्रभुने श्रीजगन्नाथजीका वह बहुमूल्य प्रसादी वस्त्र तथा भगवान्‌का प्रसादान्न माताके लिये दिया। श्रीवास पण्डितने उन दोनों वस्तुओंको यत्नपूर्वक बाँध लिया।

फिर आपने उदारमना परमभागवत श्रीशिवानन्द सेनजीसे बड़े ही स्नेहके स्वरमें कहा—'सेन महाशय, आप गृहस्थ होकर भी गृहकी कुछ परवा नहीं करते, यह ठीक नहीं। साधु-सेवा करनी चाहिये, किन्तु थोड़ा-बहुत घरका भी ध्यान रखा करें। जो आता है उसे ही आप उसी समय उड़ा देते हैं। गृहस्थीके लिये थोड़ा धन सञ्चय करनेकी भी आवश्यकता है।'

इसके अनन्तर कुलीनग्रामवासी रामानन्द तथा सत्यराजखाँको फिर स्मरण दिलाते हुए कहा—'प्रतिवर्ष भगवान्‌की सुन्दर-सी मजबूत पट्टडोरी बनाकर लाया करें। प्रतिवर्ष रथयात्रामें भक्तोंके सहित सम्मिलित होना चाहिये।'

फिर आप मालाधर वसु (गुनराजखाँ) की ओर देखकर कहने लगे—'वसु महाशयकी प्रतिभाका तो कहना ही क्या? बड़े ही सुन्दर कवि हैं। मैंने इनका रचित 'श्रीकृष्णविजय' काव्य सुना। वैसे तो सम्पूर्ण काव्य सुन्दर है, किन्तु उसका एक पद तो बड़ा ही सुन्दर लगा। 'नन्दनन्दन कृष्ण मोर प्राननाथ!' अहा, कितना सुन्दर पद है।' पास बैठे हुए स्वरूपदामोदरसे पूछने लगे—'यह पूरा पद कैसे है?'

स्वरूपदामोदर धीरे-धीरे लयके साथ कहने लगे—'एकभावे बन्द हरि जोड़ करि हात। नन्दनन्दन कृष्ण मोर प्राणनाथ!'

कुछ देर ठहरकर प्रभु कहने लगे—'कुलीनग्रामकी तो कुछ बात ही दूसरी है, वहाँके तो सभी पुरुष भक्त हैं। सभी लोगोंके मुखसे हरिनाम-सङ्कीर्तनकी सुमधुर ध्वनि सुनायी देती है, इसलिये उस गाँवका तो कुत्ता भी मेरे लिये वन्दनीय है?'

प्रभुके ऐसा कहनेपर कुलीनग्रामनिवासी रामानन्द और सत्यराजखाँ आदि वैष्णवोंने लज्जाके कारण सिर नीचा किये हुए ही धीरे-धीरे पूछा—'प्रभो! हम गृहस्थोंका भी किसी प्रकार उद्धार हो सकता है? हमारा क्या कर्तव्य है, इसे हम जानना चाहते हैं?'

महाप्रभुने कहा—'आप सब जानते हैं, आपसे छिपी ही कौन-सी बात है, गृहस्थीमें रहकर भजन-पूजन सभी हो सकता है। गृहस्थीके लिये तीन ही बात मुख्य है—श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की सेवा-पूजा करता रहे, मुखसे सदा श्रीहरिके मधुर नामोंका सङ्कीर्तन करता रहे और अपने द्वारपर जो

आ जाय उसकी यथाशक्ति सेवा करे तथा वैष्णव और साधु-महात्माओं-के चरणोंमें श्रद्धा रक्खे।'

सत्यराजने पूछा—'प्रभो ! वैष्णवकी क्या पहचान है ?'

महाप्रभुने कहा—'जिसके मुखमेंसे एक बार भी श्रीकृष्णका नाम निकल जाय वही वैष्णव है। वैष्णवकी यही एक मोटी पहचान है।'

कुलीनग्रामवासियोंको सन्तुष्ट करके प्रभु खण्डग्रामवासियोंकी ओर देखने लगे। उनमें मुकुन्द दत्त, रघुनन्दन—ये दोनों पिता-पुत्र और नरहरि ये ही तीन मुख्य जन थे। मुकुन्द दत्तके पुत्र रघुनन्दनजी थे। असलमें रघुनन्दनजी ही भगवद्-भक्त थे, पुत्रके सङ्गसे पिताको भक्ति-लाभ हुई थी। इसी बातको सोचकर हँसते हुए प्रभुने उनसे जिज्ञासा की—'भाई ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुम दोनोंमें कौन पिता है और कौन पुत्र है ?'

प्रभुके ऐसे प्रश्नको सुनकर गम्भीर वाणीमें अमानी मुकुन्द दत्त कहने लगे—'प्रभो ! यथार्थमें पिता तो रघुनन्दन ही हैं। इस शरीरके सम्बन्धसे मैं इनका पिता भले ही होऊँ, किन्तु मुझे श्रीकृष्ण-भक्ति तो इन्हींसे प्राप्त हुई है। इन्हींके अनुग्रहसे मेरा पुनर्जन्म हुआ है, इसलिये सच्चे पिता तो ये ही हैं।'

महाप्रभु श्रीमुकुन्द दत्तके ऐसे उत्तरको सुनकर अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए और कहने लगे—'मुकुन्द ! आपने यह उत्तर अपने शील-स्वभावके अनुरूप ही दिया है। भगवद्-भक्तको भक्ति प्रदान करनेवाले महापुरुषमें ऐसी ही भावना रखनी चाहिये। फिर चाहे वह अवस्थामें, सम्बन्धमें, कुलमें, जातिमें, विद्या अथवा मानमें अपनेसे छोटा ही क्यों न हो।'

इतना कहकर महाप्रभु सभी भक्तोंको सुनाकर मुकुन्द दत्तकी भक्तिके सम्बन्धमें एक कथा कहने लगे। मुकुन्दकी प्रशंसा करनेके अनन्तर

प्रभुने कहा—"इनकी कृष्णभक्ति बड़ी ही अपूर्व है। इनके वंशज सदासे राजवैद्यपनेका कार्य करते आये हैं। ये भी मुसलमान बादशाहके वैद्य हैं। एक दिन ये बादशाहके समीप बैठे थे कि इतनेमें ही एक नौकर मयूरपिच्छका पंखा लेकर बादशाहको वायु करनेके लिये आया। मोरपङ्खके दर्शनोंसे ही इन्हें भगवान्के मुकुटका स्मरण हो उठा और ये प्रेममें बेसुध होकर वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े, बादशाहको बड़ा विस्मय हुआ। तब उसने इनका विविध भाँतिसे उपचार कराया, होशमें आनेपर खेद प्रकट करते हुए बादशाहने कहा—'आपको बड़ा कष्ट हुआ होगा?'

इन्होंने अन्यमनस्कभावसे कहा—'नहीं महाराज, मुझे कुछ कष्ट नहीं हुआ।'

तब बादशाहने पूछा—'आपको यकायक यह हो क्या गया?'

इन्होंने अपने भावको छिपाते हुए कहा—'मुझे मृगीका रोग है, सहसा उसका दौरा हो उठा था।' बादशाह सब समझ तो गया, किन्तु उसने कुछ कहा नहीं। उसी दिनसे वह इनका बहुत अधिक आदर करने लगा।"

प्रभुके मुखसे अपनी ऐसी प्रशंसा सुनकर मुकुन्द कुछ लज्जित-से हो गये। तब प्रभुने उनसे कहा—'आप भले ही खूब रुपये पैदा करें, किन्तु रघुनन्दनको सदा कृष्ण-भजनमें ही लगे रहने दें। यह तो जन्म-से ही भक्त हैं। घोर शीतकालमें भी यह पुष्करिणीमें स्नान करके कदम्बके फूलोंसे भगवान्की पूजा किया करते थे। यह आपके सम्पूर्ण कुलको तार देंगे।'

इसके अनन्तर महाप्रभुने मुरारि गुप्तको रामोपासना ही करते रहनेका उपदेश किया और सभी भक्तोंको उनकी दृढ़ रामनिष्ठाकी कहानी कहकर सुनायी। फिर सार्वभौम तथा विद्यावाचस्पति दोनोंको कृष्णभक्ति करनेके लिये कहा।

फिर महाप्रभु वासुदेव दत्तकी ओर देखकर कहने लगे—'यदि ऐसे भक्त दस-बीस भी हों, तो संसारका उद्धार हो जाय।' प्रभुके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर वासुदेव दत्तने लज्जित होकर अत्यन्त ही दीनभावसे कहा—'प्रभो ! मैं आपके श्रीचरणोंमें एक प्रार्थना करना चाहता हूँ। आप तो दयालु हैं। इन जीवोंको दुःखी देखकर मेरा हृदय फटा जाता है। प्रभो ! मेरी यही प्रार्थना है कि सम्पूर्ण जीवोंका पाप मेरे शरीरमें आ जाय और सभीके बदलेका दुःख मैं अकेला ही भोग लूँ। यही मेरी हार्दिक इच्छा है, ऐसा ही आप आशीर्वाद दें, आप सब कुछ करनेमें समर्थ हैं।'

प्रभु उनके इस भूतदयाके भावसे अत्यन्त ही सन्तुष्ट हुए। सभी भक्त चलनेके लिये उद्यत हुए। मुकुन्द प्रभुके समीप ही रहना चाहते थे इसलिये प्रभुने उन्हें यमेश्वरमें टोटा गोपीनाथकी सेवा करनेकी आज्ञा प्रदान की। वे वहीं क्षेत्रसंन्यास लेकर सेवा-पूजा और कृष्ण-कीर्तन करने लगे।

भक्त महाप्रभुको छोड़ना ही नहीं चाहते थे। उनके दिल धड़क रहे थे और वे विवश होकर जानेके लिये तैयार हो रहे थे। महाप्रभुके नेत्रोंमें जल भरा हुआ था। भक्तगण उच्चस्वरसे रुदन कर रहे थे। महाप्रभु सबका अलग-अलग आलिङ्गन करते थे। भक्त उनके पैरोंमें लोट-लोटकर अपने विरह-दुःखको कुछ कम करते थे। जैसे-तैसे अत्यन्त ही दुःखके साथ भक्तवृन्द गौड़देशके लिये चले। महाप्रभु दूरतक उन्हें पहुँचाने गये। भक्तोंको विदा करके प्रभु लौटकर अपने स्थानपर आ गये और पुरी भारती, जगदानन्द, स्वरूपदामोदर, दामोदर पण्डित, काशीश्वर और गोविन्दके साथ आप सुखपूर्वक निवास करने लगे। कुछ गौड़ीय भक्त थोड़े दिनोंके लिये प्रभुके पास और ठहर गये थे। उन्हें नित्यानन्दजीके साथ प्रभुने भगवन्नामके प्रचारार्थ गौड़-देशमें पीछेसे भेजा था।

सार्वभौमके घर भिक्षा और अमोघ-उद्धार

सार्वभौमगृहे भुञ्जन् स्वनिन्दकममोघकम् ।
अङ्गीकुर्वन् स्फुटीचक्रे गौरः स्वां भक्तवत्सताम् ॥ *
(चैत० चरि० म० ली० १५।१)

गौड़ीय भक्तोंके चले जानेके अनन्तर सार्वभौम भट्टाचार्यने प्रभुके समीप आकर निवेदन किया—'प्रभो ! अबतक तो मैंने भक्तोंके कारण कहनेमें संकोच किया, किन्तु अब तो भक्त चले गये, अब मैं एक प्रार्थना करना चाहता हूँ, उसे आपको स्वीकार करना होगा।'

प्रभुने कुछ प्रेमपूर्वक व्यंग करते हुए कहा—'सब बातोंको पहले ही स्वीकार करा लिया करें, तब बताया करें यह भी कोई बात हुई, बताइये क्या बात है, जो माननेयोग्य होगी तो मान लूँगा और न माननेयोग्य होगी तो ना कर दूँगा।'

भट्टाचार्यने कहा—'नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। मानने ही योग्य है।'

---

* गौरमहाप्रभुने सार्वभौमके घरमें भोजन करते समय अपने निन्दक (सार्वभौमके जामाता) अमोघ भट्टाचार्यको अङ्गीकार करके अपनी भक्तवत्सलता प्रकट की।

प्रभुने जल्दीसे कहा—'जब पहलेसे ही मालूम है कि बात माननेयोग्य है, तब सन्देह ही क्यों किया ? अच्छा, खैर सुनूँ भी तो कौन-सी बात है ।'

कुछ सोचते-सोचते धीरे-धीरे भट्टाचार्य सार्वभौमने कहा—'मेरी भी इच्छा है और षाठी (भट्टाचार्यकी छोटी पुत्री) की माता भी बहुत दिनोंसे पीछे पड़ रही है, कि प्रभुको कुछ कालतक निरन्तर ही अपने घर लाकर भिक्षा करायी जाय । आप अधिक दिनों तो हमारी भिक्षा स्वीकार ही क्यों करेंगे, किन्तु कम-से-कम एक मासपर्यन्त तो अपनी चरण-धूलिसे हमारे नये घरको पवित्र बनाइये ही । यही मेरी प्रार्थना है ।'

प्रभुने जोरोंसे हँसते हुए कहा—'आप तो कहते थे, माननेयोग्य बात है । इस बातको भला कोई संन्यासी स्वीकार कर सकता है कि एक महीनेतक निरन्तर एक ही आदमीके यहाँ भिक्षा करता रहे । संन्यासीके लिये तो घर-घरसे मधुकरी माँगकर उदरपूर्ति करनेका विधान है ।'

भट्टाचार्यने कहा—'प्रभो ! इन सब बातोंको रहने दीजिये, आप इस प्रार्थनाको स्वीकार करके हमारी तथा हमारे सब परिवारकी इच्छापूर्ति कीजिये ।'

प्रभुने आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए कहा—'आचार्य ! आप भी जब ऐसे धर्मविरुद्ध कामके लिये मुझे विवश करेंगे, तो फिर मूर्ख भक्तोंकी तो बात ही अलग रही । एक-दो दिन कहें तो भिक्षा कर भी लूँ ।' अन्तमें पाँच दिनकी भिक्षा बहुत वादविवादके पश्चात् निश्चित हुई । भट्टाचार्य प्रभुको एकान्तमें ही भोजन कराना चाहते थे । इसलिये, प्रभुके साथी अन्य साधु-महात्माओंको दूसरे-दूसरे दिनोंके लिये निमन्त्रित किया ।

नियत समयपर महाप्रभु भट्टाचार्यके घर भिक्षा करनेके लिये पहुँचे। भट्टाचार्यके चन्दनेश्वर नामका एक लड़का और षाठी नामकी एक लड़की थी। षाठीके पति अमोघ भट्टाचार्य सार्वभौमके ही पास रहते थे। वे महाशय बड़े ही अश्रद्धालु और नास्तिक प्रकृतिके पुरुष थे, इसीलिये सार्वभौमने महाप्रभुकी भिक्षाके समय उन्हें किसी कामसे बाहर भेज दिया था। महाप्रभुको एकान्तमें बिठाकर सार्वभौम उन्हें भिक्षा कराने लगे। सार्वभौमकी गृहिणीने अनेक प्रकारकी भोज्य-सामग्रियाँ प्रभुकी भिक्षाके निमित्त बनायी थीं। बीसों प्रकारके साग, अनेकों प्रकारके खट्टे-मीठे अचार तथा मुरब्बे थे। कई प्रकारके चावल, नाना प्रकारकी मिठाइयाँ तथा और भी पचासों प्रकारकी वस्तुएँ थीं। कुछ तो षाठीकी माताने घरमें ही तैयार की थीं, कुछ भगवान्के प्रसादकी वस्तुएँ मन्दिरसे मँगवा ली थीं। सार्वभौमने पचासों पात्रों-में पृथक्-पृथक् वे पदार्थ प्रभुके सामने परोसे। महाप्रभु उन इतने पदार्थोंको देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए और आश्चर्य तथा प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहने लगे—'महान् आश्चर्यकी बात है। चन्दनेश्वरकी माता-ने एक दिनमें ये इतनी चीजें कैसे तैयार कर लीं। इतनी वस्तुओंको तो बीसों स्त्रियाँ पृथक्-पृथक् सैकड़ों चूल्होंपर भी तैयार नहीं कर सकतीं। भट्टाचार्य सार्वभौम ही धन्य हैं, जिनके घर भगवान्को इतनी वस्तुएँ भोग लगती हैं। किन्तु इतनी चीजोंको खायेगा कौन, इनसे तो बीसों आदमियोंका पेट भर जायगा और फिर भी बच रहेंगी। आप इनमेंसे थोड़ी-थोड़ी कम कर दीजिये।'

भट्टाचार्यने कहा—'प्रभो! अधिक नहीं है। मन्दिरमें ५६ प्रकारके भोगोंसे बहुत ही कम है। फिर वहाँ तो बीसों बार भोग लगता है। यहाँ तो मैंने एक ही बार थोड़ा-थोड़ा परोसा है, इसे ही पाकर मुझे कृतार्थ कीजिये।'

महाप्रभु सार्वभौमके आग्रहसे प्रसाद पाने लगे। महाप्रभुकी जो चीज आधी निबट जाती उसे ही जल्दीसे लाकर फिर भट्टाचार्य पूरी कर देते। प्रभुको परोसते समय भी उन्हें अपने जामाता अमोघका ध्यान बना हुआ था, इसलिये वे पदार्थोंको परोसकर जल्दीसे दरवाजेपर जा बैठते, जिससे अमोघ यहाँ आकर किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित न कर दे। इतनेमें ही भट्टाचार्यने अमोघको आते हुए देखा। दूरसे देखते ही उन्होंने उसे दूसरे घरमें आनेकी आज्ञा दी। उस समय तो अमोघ घरमें चला गया, किन्तु जब भट्टाचार्य प्रभुके लिये कुछ लेनेके लिये दूसरे घरमें चले तब जल्दीसे वह प्रभुके पास आ पहुँचा। महाप्रभुके सामने सैकड़ों प्रकारके व्यञ्जनोंका ढेर देखकर दाँतोंसे जीभ काटता हुआ अमोघ कहने लगा—'बाप रे बाप! यह संन्यासी है या कोई आफतका पुतला है। इतना भोजन तो बीस आदमी भी नहीं कर सकते। यह इतना भोजन कैसे कर जायगा?'

इस बातको सुनते ही सार्वभौम भट्टाचार्य वहाँ जल्दीसे आकर उपस्थित हो गये और अमोघको दस उलटी-सीधी बातें सुनाकर वे प्रभुसे इस अपराधके लिये क्षमा-याचना करने लगे।

महाप्रभुने बड़ी ही सरलताके साथ कहा—'इसमें अमोघने अपराध ही क्या किया है, उसने ठीक ही बात कही है। भला, संन्यासीको इतने पदार्थ खिलाकर उससे कोई सदाचारी बने रहनेकी कैसे आशा कर सकता है? आपने मुझे इतना अधिक भोजन करा दिया है कि जमीनसे उठना भी मेरे लिये अशक्य हो रहा है। अमोघने तो बिल्कुल सच्ची बात कही है। आप उसकी प्रतारणा न करें। मुझे उसके ऊपर जरा-सा भी क्षोभ नहीं है, आप अपने मनमें कुछ और न समझें।' महाप्रभु इतना कहकर और भिक्षा पाकर अपने स्थानको लौट आये।

सार्वभौम तथा उनकी पत्नीको इस घटनासे बड़ा दुःख हुआ। वे प्रभुके अपमानसे क्षुभित होकर अमोघको कोसने लगे। भट्टाचार्य तथा उनकी पत्नीने कुछ भी नहीं खाया। भट्टाचार्यकी लड़की षाठीदेवी अपने भाग्यको बार-बार कोसने लगी। वह भगवान्से कहती—'हे दयालो! ऐसे पतिसे तो मेरा पतिहीन रहना अच्छा है। या तो मेरे इस शरीरका अन्त कर दे या ऐसे साधु-द्रोही पतिको ही मुझसे पृथक् कर दे।' अमोघ अपने श्वशुरकी लाल-लाल आँखोंको देखकर बाहर चला गया और उस दिन रात्रिमें भी घर लौटकर नहीं आया। उस दिन मारे चिन्ताके भट्टाचार्यके परिवारभरमें किसीने भोजन नहीं किया।

भगवान्की विचित्र लीला तो देखिये, अमोघको अपनी करनीका प्रत्यक्ष फल मिल गया। दूसरे ही दिन उसे भयङ्कर विषूचिका-रोग हो गया। इस समाचारको सुनते ही कुछ प्रसन्नता प्रकट करते हुए सार्वभौमने कहा—'चलो, अच्छा ही हुआ। 'अत्युग्रपापपुण्यानामिहैव फलमश्नुते।' अत्यन्त उग्र पापपुण्योंका फल यहीं इस पृथ्वीपर मिल जाता है। अमोघने जैसा किया वैसा ही उसका प्रत्यक्ष फल पा लिया।' लोग अमोघको उठाकर सार्वभौमके घर ले आये। आचार्य गोपीनाथने यह संवाद जाकर प्रभुको सुनाया। सुनते ही महाप्रभु सार्वभौमके घर जल्दीसे दौड़े आये। उन्होंने आकर देखा, अमोघ बेसुध हुआ पलंगपर पड़ा है। उसके जीवनकी किसीको भी आशा नहीं है।

तब तो महाप्रभु उसके पलंगके पास गये और उसके हृदयपर हाथ रखकर कहने लगे—'अहा, बच्चोंका हृदय कितना कोमल होता है, फिर कुलीन ब्राह्मणोंका तो कहना ही क्या? ब्राह्मणोंका स्वच्छ निर्मल अन्तःकरण प्रभुके निवासके ही योग्य होता है। न जाने यह राक्षस मात्सर्य इस अमोघके अन्तःकरणमें कहाँसे घुस गया।' प्रभुने थोड़ी देर चुप रहकर फिर कहा—'ओ दुष्ट मात्सर्य! सार्वभौम
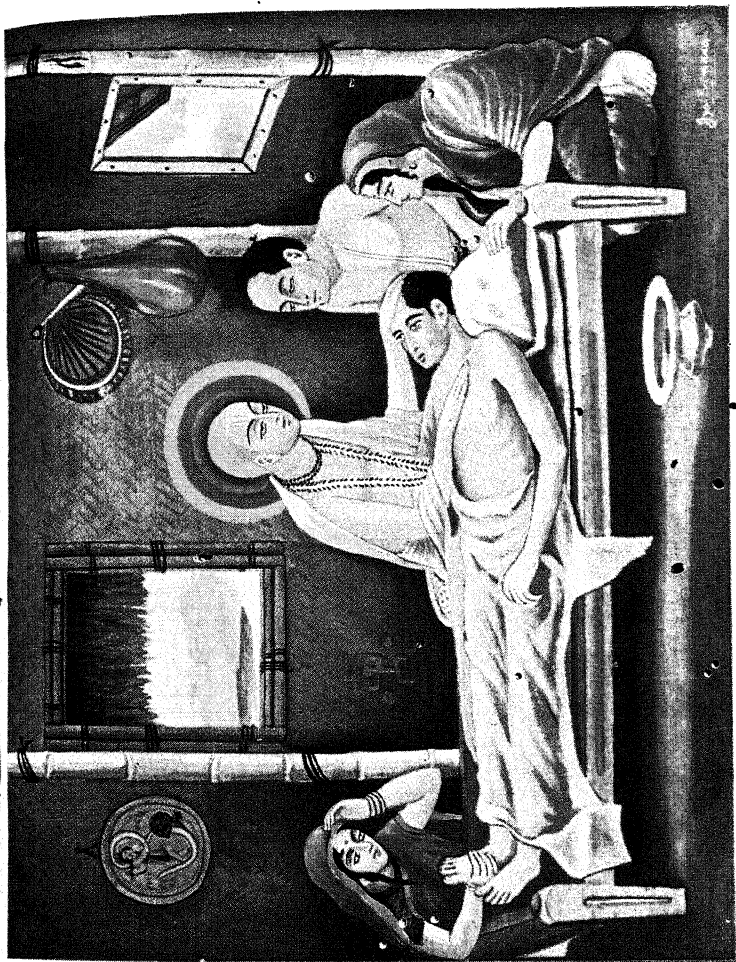
अमोघ-उद्धार

भट्टाचार्यके घरमें रहनेवाले अमोघके अन्तःकरणमें प्रवेश करनेका तुझे साहस कैसे हुआ ? सार्वभौमके भयसे तू अभी भाग जा।' इतना कहकर प्रभु फिर अमोघको सम्बोधन करके कहने लगे—'अमोघ ! तेरे हृदयमेंसे चाण्डाल मात्सर्य भाग गया, अब तू जल्दीसे उठकर श्रीकृष्ण-के मधुर नामोंका उच्चारण कर।'

इतना सुनते ही अमोघ सोते हुए मनुष्यकी भाँति जल्दीसे उठकर खड़ा हो गया और 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव ॥' आदि भगवान्‌के नामोंका जोरोंसे उच्चारण करता हुआ नृत्य करने लगा। उसकी इस अद्भुत परिवर्तित दशाको देखकर सभी आश्चर्यचकित होकर प्रभुके श्रीमुखकी ओर निहारने लगे और इसे महाप्रभुका ही परम प्रसाद समझने लगे।

अमोघने भी प्रभुके पैरोंमें पड़कर उनसे अपने पूर्वकृत अपराधके लिये क्षमा-याचना की। महाप्रभुने उसे गले लगाकर सान्त्वना प्रदान की। अमोघको अपने कुकृत्यपर बड़ा ही पश्चात्ताप होने लगा। वह अपने अपराधको स्मरण करके दोनों हाथोंसे अपने ही गालोंपर तमाचे मारने लगा। इससे उसके दोनों गाल सूज गये। तब आचार्य गोपीनाथने उसे इस कामसे निवारण किया। महाप्रभुने उसे कृष्ण-कीर्तनका उपदेश दिया। उसी दिनसे अमोघ परम भागवत वैष्णव बन गया और उसकी गणना प्रभुके अन्तरङ्ग भक्तोंमें होने लगी। तब महाप्रभुने गोपीनाथाचार्य-को आज्ञा दी कि तुम स्वयं जाकर भट्टाचार्य और उनकी पत्नीको भोजन कराओ। प्रभुकी आज्ञा पाकर आचार्य सार्वभौमको साथ लेकर घर गये और उन्हें भोजन कराया। प्रभुके कहनेपर सार्वभौमने अमोघको क्षमा कर दिया और उस दिनसे उसे बहुत अधिक प्यार करने लगे। अमोघ भी महाप्रभुके चरणोंमें अधिकाधिक प्रीति करने लगा।

नित्यानन्दजीका गौड़-देशमें भगवन्नाम-वितरण

नित्यानन्दमहं वन्दे कर्णे लम्बितमौक्तिकम्।
चैतन्याग्रजरूपेण पवित्रीकृतभूतलम् ॥*

(श्रीचैतन्य महा०)

नित्यानन्दजीका स्वभाव सदासे अबोध बालकोंका-सा ही था। वे पुरीमें भी सदा बाल्य-भावमें ही बने रहते। उनमें अनन्त गुण होंगे,

---

* जिनके कर्णमें मुक्तामय कुण्डल लटक रहा है और जिन्होंने श्रीचैतन्यदेवके अग्रजरूपसे इस पृथ्वीको (भक्तिरससे प्लावित करके) परम पावन बना दिया है, उन नित्यानन्द प्रभुको हम प्रणाम करते हैं।

किन्तु एक गुण उनमें सर्वश्रेष्ठ था, वे महाप्रभुको अपने प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे। प्रभुके चरणोंमें उनकी प्रगाढ़ प्रीति थी। प्रभुके अतिरिक्त वे और किसीको कुछ समझते ही न थे। उनके लिये भगवान्, परमात्मा तथा ब्रह्म जो भी कुछ थे, चैतन्य महाप्रभु ही थे। प्रभुसे वे बालकोंकी भाँति बातें करते। घूमनेका उनका पहलेसे ही स्वभाव था और बच्चोंके साथ खेलनेमें वे सबसे अधिक आनन्दका अनुभव करते थे। सदा बच्चोंके साथ खेलते रहते और उनसे जोरोंसे कहलाते—

'गौर हरि बोल, गौर हरि बोल, चैतन्यकृष्ण श्रीगौर हरि बोल।'

बच्चे इन नामोंकी धूम मचा देते तब ये उनके मुखसे इस संकीर्तन-को सुनकर बड़े ही प्रसन्न होते।

एक दिन महाप्रभुने इन्हें समीप बुलाकर कहा—'श्रीपाद! मेरा आपके प्रति कितना स्नेह है, इसे मैं ही जानता हूँ। मैं आपको एक क्षण भी अपनेसे पृथक् करना नहीं चाहता, किन्तु जीवोंका दुःख मुझसे देखा नहीं जाता। गौड़-देशके मनुष्य तो भगवान्को एकदम भूल गये हैं। जो कुछ थोड़े-बहुत पढ़े हैं, वे अपने विद्याभिमानमें सदा चूर बने रहते हैं। उन्हें न्यायकी शुष्क फक्किकाओंके घोखनेसे ही अवकाश नहीं मिलता। वे कृष्ण-कीर्तनको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। आपके सिवा गौड़-देशका उद्धार और कोई नहीं कर सकता। यह काम आपके ही द्वारा हो सकेगा। इसलिये जीवोंके कल्याणके निमित्त आपको मुझसे पृथक् होकर गौड़-देशमें भगवन्नाम-वितरण करनेके लिये जाना होगा। आप ही ऊँच-नीचका भेदभाव न रखकर सब लोगोंको भगवन्नामका उपदेश दे सकते हैं।'

प्रभुके इस मर्मवेधी वाक्यको सुनकर नित्यानन्दजीकी आँखोंमें आँसू आ गये और वे रुँधे हुए कण्ठसे कहने लगे—'प्रभो! आप सर्व-

समर्थ हैं। आपकी लीला जानी नहीं जाती। पता नहीं, किसके द्वारा आप क्या कराना चाहते हैं। भला, आपकी अनुपस्थितिमें मैं कर ही क्या सकता हूँ। प्रभो! मैं आपके बिना कुछ भी न कर सकूँगा, मुझे अपने चरणोंसे पृथक् न कीजिये।'

महाप्रभुने कहा—'आप समय-समयपर मुझे यहाँ आकर दर्शन दे जाया करें और भगवान्‌के दर्शन कर जाया करें। अब तो आपको गौड़-देशमें जाना ही चाहिये।'

नित्यानन्दजी विवश हो गये, उन्होंने विवश होकर महाप्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की और अभिरामदास, गदाधरदास, कृष्णदास और पुरन्दर पण्डित आदि भक्तोंको साथ लेकर उन्होंने गौड़-देशके लिये प्रस्थान किया। उन्हें अब किसी बातका भय तो था ही नहीं। महाप्रभुने स्वयं कह दिया है कि मैं सदा आपके साथ रहूँगा, आप बिना किसी भेद-भावके निडर होकर सर्वत्र भगवन्नाम-वितरण करें। इस बातपर पूर्ण विश्वास करते हुए नित्यानन्दजी प्रेममें विभोर हुए आगे बढ़ने लगे। वे आनन्दमें झूमते हुए, मस्तीमें नाचते और गौरकी दयाको स्मरण करते हुए भक्तोंके साथ जा रहे थे। उन्हें अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं था, वे जीवोंके कल्याणके ही निमित्त अपने प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके गौड़-देशमें आये थे।

समस्त गौड़-देश भक्तिरसामृत पान करनेके लिये पियासा-सा बैठा हुआ था। विशेषकर निम्न कहलानेवाली जातियोंके लिये भगवत्-भजनका अधिकार ही नहीं था। बड़े-बड़े विद्वान् पण्डित उन्हें परमार्थका अनधिकारी बताकर साधन-भजनका उपदेश ही नहीं करते थे। सभी एक ऐसे मार्गकी खोजमें थे, जिसके द्वारा, सभी श्रेणीके लोग प्रभुके पादपद्मोंतक पहुँचनेके अधिकारी हो सकें। ऐसे ही सुन्दर अवसरके समय नित्यानन्द-

नित्यानन्दजीकी विदाई
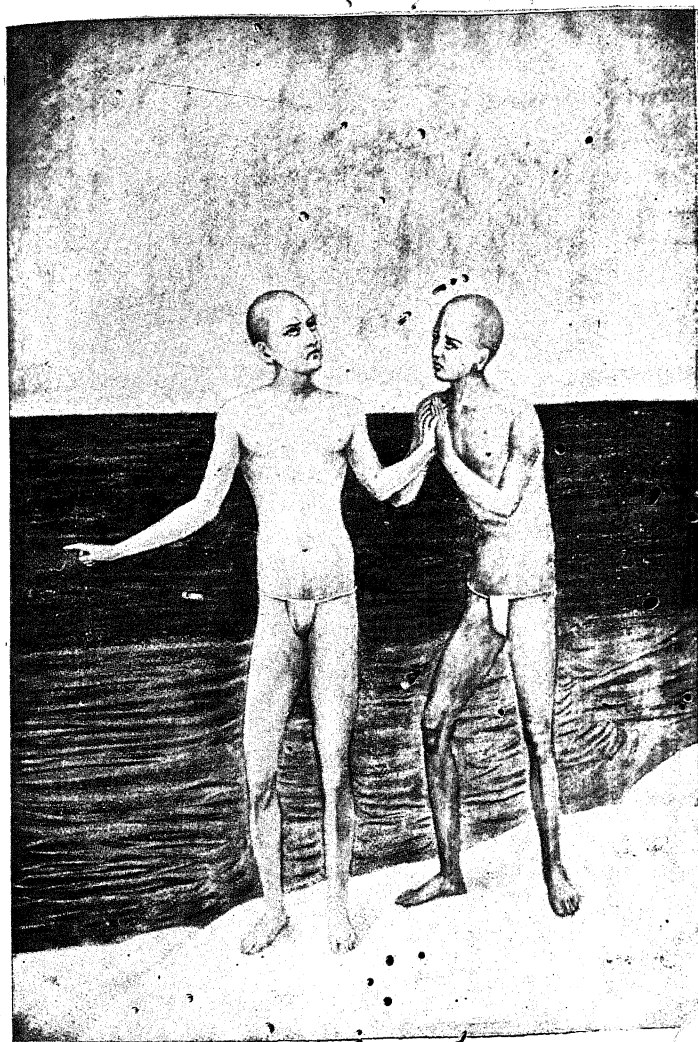
जीने गौड़-देशमें प्रवेश किया। इनकी वाणीमें जादू था, चेहरेपर ओज था, शरीरमें स्फूर्ति थी और था महाप्रभुके प्रेमका अनन्य दृढ़ विश्वास। इन्हीं सब बातोंसे गौड़-देशमें प्रवेश करते ही इनके उपदेशका असर जादूकी भाँति थोड़े ही दिनोंमें सर्वत्र फैल गया। ये भगवन्नामोपदेशमें किसी प्रकारका भेदभाव तो रखते ही नहीं थे, जो चाहे वही इनके पास-से आकर त्रितापहारी भगवन्नामका उपदेश ग्रहण कर सकता है। विशेष-कर ये नीची कहलानेवाली जातियोंके ऊपर ही सबसे अधिक कृपा करते थे। उच्च जातिके लोग तो अपने श्रेष्ठपनेके अभिमानमें इनकी बातोंपर ध्यान ही नहीं देते थे, निम्नश्रेणीके ही लोग इनकी बातोंको श्रद्धापूर्वक सुनते थे, इसलिये ये उन्हें ही अधिक उपदेश करते। इस प्रकार ये लोगों-में भगवन्नामकी निरन्तर वर्षा करते हुए और उस कृष्ण-संकीर्तनरूपी अपूर्व रससे लोगोंको सुखी बनाते हुए पानीहाटी ग्राममें आये और वहाँ अपने सभी भक्तोंके सहित राघव पण्डितके घर ठहरे।

राघव पण्डित स्वयं महाप्रभुके अनन्यभक्त थे, उन्होंने साथियों-सहित नित्यानन्दजीका खूब सत्कार किया और उनके साथ प्रचारके लिये भी बाहर ग्रामोंमें जाने लगे। नित्यानन्दजी वहाँ तीन महीने ठहरकर लोगोंको श्रीकृष्ण-कीर्तनका उपदेश करते रहे। वे अपने साथियोंके सहित गङ्गाजीके किनारे-किनारे गाँवोंमें जाते और वहाँ सभीसे श्रीकृष्ण-कीर्तन करनेके लिये कहते। ये विशेष पुस्तकी विद्या तो पढ़े नहीं थे, सीधी-सादी भाषामें सरलतापूर्वक ग्रामीण लोगोंको समझाते, इनके समझानेका लोगोंपर बड़ा ही अधिक असर होता और वे उसी दिनसे कीर्तन करने लग जाते। इसी बीचमें आप अम्बिकानगरमें भी संकीर्तन-का प्रचार करने गये थे, वहाँ सूर्यदास पण्डितने इनका खूब आदर-सत्कार किया। ये भक्तोंके सहित उनके घरपर रहे। सूर्यदासका समस्त परिवार नित्यानन्दजीके चरणोंमें बड़ी भारी श्रद्धा रखने लगा।

इस प्रकार पानीहाटीमें भगवन्नाम और भगवद्भक्तिकी आनन्दमय और प्रेममय धारा बहाकर नित्यानन्दजी अपने परिकरके सहित एड़दह-में गदाधरदासके घर ठहरे। इसी गाँवमें एक मुसलमान काजी संकीर्तनका बड़ा भारी विरोधी था, नित्यानन्दजीके प्रभावसे वह भी स्वयं संकीर्तनमें आकर नाचने लगा। इससे इनका प्रभाव और भी अधिक बढ़ गया। लोग इनके श्रीचरणोंमें अनन्य श्रद्धा रखने लगे। चारों ओर 'श्रीकृष्ण चैतन्यकी जय' 'नित्यानन्दकी जय' 'गौरनिताईकी जय' यही ध्वनि सुनायी देने लगी। एड़दहसे चलकर नित्यानन्दजी खड़दहमें पहुँचे। वहाँ चैतन्यदास और पुरन्दर पण्डित इन दोनों भक्तोंने इनका खूब आदर-सत्कार किया और इनके प्रचार-कार्यमें योगदान दिया। इसी प्रकार लोगोंको प्रभुप्रेममें प्लावित बनाते हुए महामहिम नित्यानन्दजी सप्तग्राममें पहुँचे।

उस समय बङ्गालमें सुवर्णवणिक्-जातिके लोग अत्यन्त ही नीचे समझे जाते थे। उनके हाथका जल पीना तो दूर रहा, बड़े-बड़े पण्डित विद्वान् उन्हें स्पर्श करनेमें भी घृणा करते थे। नित्यानन्दजीने सबसे पहले इन्हीं लोगोंको अपनाया। ये लोग सम्पत्तिशाली थे, इस बातके लिये बड़े लालायित बने हुए थे, कि किसी प्रकार हमारा भी परमार्थ-पथमें प्रवेश हो सके। नित्यानन्दजीने इनके अछूतपनेको एकदम हटा दिया। वे उद्धरण दत्त नामक एक धनी स्वर्णवणिक्के घरपर जाकर ठहरे और सभी स्वर्णवणिकोंको भगवद्-भक्तिका उपदेश देने लगे। इनके प्रभावसे स्वर्णवणिकोंमें बड़ी भारी जागृति हो उठी। यह इनके लिये बड़े ही साहसका काम था। इस बातसे उच्च जातिके लोग इन्हें भाँति-भाँतिसे धिक्कारने लगे, किन्तु इन्होंने किसीकी भी परवा नहीं की। पीछेसे इनकी निर्भीकता और सच्ची लगनके सामने सभी लोगोंने इनके चरणोंमें सिर नवा दिया।

स्वर्णवणिकोंके अपनानेसे इनका नाम चारों ओर फैल गया और लोग भाँति-भाँतिसे इनके सम्बन्धमें आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। सतग्रामके आसपासके गाँवोंमें भगवन्नामका प्रचार करते हुए ये शान्तिपुरमें अद्वैताचार्यके घर आये। आचार्य इन्हें देखते ही पुलकित हो उठे और जल्दीसे इनका दृढ़ आलिङ्गन करते हुए प्रेमके अश्रु बहाने लगे। दोनों ही महापुरुष प्रेममें विभोर हुए एक-दूसरेका जोरोंसे आलिङ्गन कर रहे थे। बहुत देरके अनन्तर प्रेमका आवेग कम होनेपर आचार्य कहने लगे—'निताई! आपने ही वास्तवमें महाप्रभुके मनोगत भावोंको समझा है, आप महाप्रभुके बाहरी प्राण हैं।' इस प्रकार नित्यानन्दजीकी स्तुति करके आचार्यने उनसे कुछ काल ठहरनेका आग्रह किया। अद्वैताचार्यके आग्रहसे नित्यानन्दजी कुछ काल शान्तिपुरमें ठहरकर भगवन्नाम और संकीर्तनका प्रचार करते रहे।

आचार्यसे विदा होकर नित्यानन्दजी नवद्वीपमें आये। नवद्वीपमें इनके प्रवेश करते ही कोलाहल-सा मच गया, चारों ओरसे भक्त आ-आकर इनके पास जुटने लगे। इन्होंने सबसे पहले प्रभुके घर जाकर शचीमाताकी चरण-वन्दना की। बहुत दिनोंके पश्चात् अपने निताईको पाकर माताके सुखकी सीमा न रही। वह इतने बड़े निताईको गोदीमें बिठाकर बच्चोंकी भाँति उनके मुखपर हाथ फेरती हुई कहने लगी—'बेटा निताई! निमाई मुझे भूल गया तो भूल गया। तैंने भी मेरी सुधि बिसार दी। बेटा! आज इतने दिनोंके पश्चात् तेरे मुखको देखकर मुझे परमानन्द हुआ है। अब मैं विश्वरूप और निमाईके संन्यासका सभी दुःख भूल गयी। मेरे प्यारे बेटा! अब तू यहीं मेरे पास रहकर संकीर्तनका प्रचार कर और भक्तोंके साथ कीर्तन कर। मैं सदा तुझे अपनी आँखोंके सामने देखकर सुखी हो सकूँगी।'

नित्यानन्दजीने माताकी आज्ञाको प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया और वे नवद्वीपमें ही हिरण्य पण्डितके घर रहने लगे। नित्यानन्दजीके नवद्वीपमें रहनेसे शिथिल हुई संकीर्तनकी ध्वनि फिर जोरोंसे शब्दायमान होती हुई आकाशमें गूँजने लगी। सभी लोग महाप्रभुके सामने जिस प्रकार संकीर्तनमें पागल हो जाते थे, उसी प्रकार फिर बेसुध होकर उद्दण्ड-नृत्य करने लगे।

नित्यानन्दजीका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया। अब इनके रहन-सहनमें भी परिवर्तन हो गया।

वे सुन्दर वस्त्राभूषण धारण करने लगे। खान-पानमें भी विविध व्यञ्जन आ गये। इससे उनकी निन्दा भी हुई। इस प्रकार एक ओर जहाँ इनकी इतनी अधिक ख्याति हुई वहाँ निन्दा भी कम नहीं हुई। यह तो संसारका नियम ही है। जितने मुख होते हैं, उतने ही प्रकारकी बातें होती हैं, कार्यार्थी धीर पुरुष लोगोंकी निन्दा-स्तुतिकी परवा न करके अपने काममें ही लगे रहते हैं। पीछेसे निन्दा करनेवाले स्वयं ही निन्दा करनेसे थककर चुप होकर बैठ जाते हैं। महापुरुषोंके कामोंमें लोक-निन्दासे विघ्न न होकर उलटी सहायता ही मिलती है। यदि महापुरुषोंके कार्योंकी इस प्रकार जोरोंसे आलोचना और निन्दा न हुआ करे तो उन्हें आगे बढ़नेमें प्रोत्साहन ही न मिले। निन्दा उन्हें उन्नत बनानेके लिये एक प्रकारकी ओषधि है। किन्तु जो जान-बूझकर निन्दित काम करते हैं, ऐसे दम्भी पुरुष कभी भी उन्नत नहीं हो सकते। इसलिये प्रयत्न तो ऐसा ही करते रहना चाहिये कि जहाँतक हो सके निन्दित कामोंसे बचते रहें, यदि सच्चे और श्रेष्ठ मार्गका अनुसरण करते-करते स्वतः ही लोग निन्दा करने लगें, जैसा कि लोगोंका स्वभाव है तो उनकी परवा भी न करनी चाहिये। यही बड़े बननेका महान् गुरुमन्त्र है।

नित्यानन्दजीका गृहस्थाश्रममें प्रवेश

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवागुणाम् ।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥
(श्रीचैत० भा०)

नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥*
(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३१)

महापुरुषोंके जीवनमें कहीं-कहीं धर्म-व्यतिक्रम पाया जाता है; इसका क्या कारण है? इसका ठीक-ठीक उत्तर दिया नहीं जाता है। परन्तु उनके वैसे कार्योंके अनुकरण न करनेकी आज्ञा शास्त्रोंमें मिलती है।

---

* श्रीभगवान् कहते हैं—जिनका चित्त सम हो गया है, जो बुद्धिसे परे चले गये हैं ऐसे मेरे एकान्त भक्त साधुपुरुषोंके गुण-दोषोंका विचार न करना चाहिये। उनके लिये न तो कोई गुण ही है, न दोष। परन्तु असमर्थ पुरुष कभी मनसे भी उसका देखा-देखी आचरण न करे (बल्कि उनके उपदेशोंपर चले) भगवान् शंकर जिस प्रकार समुद्रका विष पी गये उसी प्रकार यदि कोई मूर्खतावश करे तो उसका विनाश ही होता है।

ब्रह्मतक पहुँचे हुए निर्मलचेता ऋषि-महर्षियोंने वेदमें स्पष्टरूपसे अपने अनुयायी शिष्योंसे कहा है—

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपासितव्यानि नो इतराणि।

हमारे जो अच्छे काम हों उन्हींका तुम्हें आचरण करना चाहिये। अन्य जो हमारे जीवनमें निषिद्ध आचरण दीखें उनका अनुकरण कभी भी न करना चाहिये। परन्तु ईश्वर और महापुरुषोंके कार्योंकी निन्दा भी नहीं करनी चाहिये। महर्षियोंने महापुरुषोंके कार्योंकी आलोचना और निन्दा करनेको पाप बताया है। जो महापुरुषोंके कार्योंकी निन्दा किया करते हैं वे अबोध बन्धु भूल करते हैं। साथ ही वे भी भूल करते हैं; जो निन्दकोंको सदा कोसा करते हैं। निन्दकोंका स्वभाव तो निन्दा करनेका है ही, उनकी निन्दा करके तुम अपने सिरपर दूसरा पाप क्यों लेते हो? निन्दक तो सचमुच उपकारी है। संसारमें यदि बुरे कामोंकी निन्दा होनी बन्द हो जाय, तो यह जगत् सचमुच रौरव नरक बन जाय। महापुरुष तो निन्दासे डरते नहीं, उनका तो लोकनिन्दा कुछ बिगाड़ नहीं सकती। नीच प्रकृतिके लोग लोकनिन्दाके भयसे बुरे कामोंको छिपाकर करते हैं और सर्वसाधारण लोग लोकनिन्दाके ही भयसे पाप-कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं होते। इसलिये लोकनिन्दा समाजरूपी वृक्षको सुरक्षित बनाये रहनेके लिये उसके आसपासमें लगे हुए काँटों-के समान है। इससे पापरूपी पशु उस पेड़को एकदम नष्ट नहीं कर सकते। इसलिये परमार्थ-पथके पथिकको न तो महापुरुषोंके ही बुरे आचरणोंकी निन्दा करनी चाहिये और न उनकी निन्दा करनेवाले निन्दकोंकी ही निन्दा करनी चाहिये। निन्दा-स्तुतिसे एकदम उदासीन होना ही परम श्रेयस्कर है। यदि कुछ कहे बिना रहा ही न जाय, तो सदा दूसरेके गुणोंका ही कथन करना चाहिये और लोगोंके छोटे गुणोंको भी बढ़ाकर कहना चाहिये और उसे अपने जीवनमें परिणत करना चाहिये। अस्तु।

नित्यानन्दजीके रहने-सहनकी खूब आलोचना होने लगी। लोग उनकी निन्दा करने लगे। निन्दाका विषय ही था, एक अवधूत त्यागीको ऐसा आचरण करना लोकदृष्टिमें अनुचित समझा जाता है। जब वे संन्यास छोड़कर गृहस्थी हो गये तब तो उनकी निन्दा और भी अधिक होने लगी। मालूम पड़ता है, उसी निन्दाके खण्डनमें 'चैतन्य-भागवत' की रचना हुई है। चैतन्य-भागवतमें श्रीचैतन्य-चरितको प्रधानता नहीं दी है, उसमें तो नित्यानन्दजीके ही गुणोंका विशेष रीतिसे वर्णन है और नित्यानन्दजीपर विश्वास न करनेवाले लोगोंको भर पेट कोसा गया है। चैतन्य-भागवतके रचयिता यदि इस प्रसंगकी उपेक्षा ही कर देते तो भी महापुरुष नित्यानन्दजीकी कीर्ति आज कम नहीं होती। किन्तु लेखक महाशय ऐसा करनेके लिये विवश थे। 'चैतन्य-भागवत' के रचयिता गोस्वामी श्रीवृन्दावनदासजी नित्यानन्दजीके मन्त्र-शिष्य थे। उनके लिये नित्यानन्दजी ही सर्वस्व थे। नित्यानन्दजीके आशीर्वादसे ही गोस्वामी वृन्दावनदासजीका जन्म हुआ था। ये सदा नित्यानन्दजीके ही समीप रहते थे। जिन्हें हम अपना सर्वस्व समझते हैं, उनकी साधारण लोग मनमानी निन्दा करें इसे प्रतिभावान् पुरुष बहुत कम सह सकते हैं। इसलिये इनकी इस प्रकारकी सुन्दर कवितासे इनकी अनन्य गुरु-भक्ति ही प्रकट होती है।

नित्यानन्दजीकी शिकायत महाप्रभुतक पहुँची थी। प्रभुके एक सहपाठी पण्डितने नित्यानन्दजीकी उनसे भर पेट निन्दा की किन्तु महाप्रभु-ने इसपर विश्वास ही नहीं किया।

गौड़-देशसे दूसरी बार भक्त भी पहलेकी ही भाँति रथयात्राके समय महाप्रभुके दर्शनोंको गये। उस समय भी नित्यानन्दजीके सम्बन्धमें बहुत-सी बातें होती रहीं। श्रीवास पण्डितने चलते समय कह दिया कि

नित्यानन्दजी अबोधावस्थामें ही घरसे निकल आये थे। उन्होंने स्वेच्छासे संन्यास नहीं लिया था।

महाप्रभुने कह दिया—'उन्होंने चाहे स्वेच्छासे संन्यास लिया हो या परेच्छासे। उनके लिये कोई विधि-निषेध नहीं है।'

रोज ही लोगोंके मुखसे भाँति-भाँतिकी बातें सुनकर नित्यानन्दजीको भी कुछ क्षोभ हुआ। उन्होंने अपनी मनोव्यथा शचीमातासे कही। माताने आज्ञा दी कि तू नीलाचल जाकर निमाईसे मिल आ, वह जैसा कहे वैसा करना। माताकी अनुमतिसे नित्यानन्दजी अपने दस-पाँच अन्तरङ्ग भक्तोंको साथ लेकर नीलाचल पहुँचे। उन्हें महाप्रभुके सम्मुख जानेमें बड़ी लज्जा मालूम पड़ती थी। इसलिये संकोचवश वे महाप्रभुके स्थानपर नहीं गये। बाहर ही एक बाग में बैठे हुए वे पश्चात्तापके आँसू बहा रहे थे, कि उसी समय समाचार पाते ही प्रभु वहाँ दौड़े आये और वे नित्यानन्दजी की प्रशंसा करते हुए उनकी प्रदक्षिणा करने लगे।

प्रभुको प्रदक्षिणा करते देखकर नित्यानन्दजी जल्दीसे प्रभुको प्रणाम करनेके लिये उठे, किन्तु प्रेमके आवेशमें वहीं मूर्छित होकर गिर पड़े। उनकी मूर्छित दशामें ही प्रभुने उनकी चरण-धूलिको अपने मस्तकपर चढ़ाया। महाप्रभुके पश्चात् सभी भक्तोंने नित्यानन्दजीकी चरणरज मस्तकपर चढ़ायी। प्रभु उनका पैर पकड़कर बैठ गये। बाह्यज्ञान होनेपर नित्यानन्दजी उठे, वे कुछ कहना ही चाहते थे, किन्तु प्रेमके आवेशमें कुछ भी न कह सके, उनका सिर आप-से-आप ही लुढ़ककर महाप्रभुकी गोदीमें गिर पड़ा। महाप्रभु उनके मस्तकको बार-बार सूँघने लगे और अपने कर-कमलोंसे उनके पुलकित हुए अंगोंपर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगे। दोनों भाई बड़ी देरतक इसी प्रकार प्रेममें बेसुध बने उसी स्थानपर बैठे रहे। फिर महाप्रभु उन्हें हाथ पकड़कर अपने यहाँ ले गये और वे अब पुरीमें ही रहने लगे।

गदाधरजी क्षेत्र-संन्यास लेकर यमेश्वरके निर्जन मन्दिरमें रहते थे। नित्यानन्दजी उन्हींके पास ठहरे। गदाधरके लिये वे गौड़-देशसे एक मन सुन्दर सुगन्धित अरवा चावल और एक बहुत बढ़िया लालवस्त्र उपहारमें देनेके लिये साथ लाये थे। गदाधरने उन सुगन्धित चावलोंको सिद्ध किया। इमलीके पत्तोंकी चटनी भी बनायी; सभी सोच रहे थे, कि इस समय महाप्रभु न हुए। किसीका इतना साहस नहीं हुआ, कि प्रभुको निमन्त्रण करें। ये लोग सोच ही रहे थे, कि इतनेमें ही किसीने द्वार खटखटाया। गदाधरने जल्दीसे किवाड़ खोले। देखा, महाप्रभु खड़े हैं, सभी महाप्रभुकी इस भक्तवत्सलताकी मन-ही-मन सराहना करने लगे। महाप्रभु जल्दीसे स्वयं ही भोजन करने बैठ गये। सभीको साथ ही बैठकर प्रसाद पानेकी आज्ञा हुई। महाप्रभुकी आज्ञा सभीने पालन की, सभी प्रभुके साथ बैठकर प्रसाद पाने लगे। प्रसाद पाते-पाते प्रभु कहते जाते थे—'अहा, हमारा कैसा सौभाग्य है, श्रीपादजीके लाये हुए चावल, गदाधरके हाथसे बनाये हुए, फिर गोपीनाथ भगवान्-का महाप्रसाद। इस प्रसादसे श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होती है। इन चावलोंकी सुन्दर सुगन्धि ही भक्तिको बढ़ाने वाली है।' महाप्रभुके इस प्रकार प्रसाद पानेसे सभीको परम प्रसन्नता प्राप्त हुई।

रथ-यात्राके समय नियमानुसार तीसरी बार भक्तोंके आनेका समय हुआ। अबके भक्त अपनी स्त्रियोंको भी साथ लेकर आये थे, जिसका वर्णन अगले अध्यायमें होगा। भक्तोंकी विदाईके समय नित्यानन्दजीको एकान्तमें बुलाकर महाप्रभुने उनसे कहा—'श्रीपाद! आपके लिये विधि-निषेध क्या? आप तो वृन्दावनविहारी गोप-कृष्णके उपासक हैं। बेचारे गँवार ग्वाल बाल विधि-निषेध क्या जानें? अब आप एक काम करें, अपना विवाह कर लें और आदर्श गृहस्थ बनकर लोगोंके

सम्मुख एक सुन्दर आदर्श उपस्थित करें कि गृहस्थमें रहकर भी किस प्रकार भजन, कीर्तन और परमार्थ-चिन्तन किया जाता है।'

गद्गद कण्ठसे अश्रुविमोचन करते हुए नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो ! आप तो घरमें सन्तानहीन युवती विष्णुप्रियाजीको छोड़कर संन्यासी बन गये हैं और मुझे संन्यासीसे गृहस्थ बननेका उपदेश कर रहे हैं, आपकी लीला जानी नहीं जाती ।'

महाप्रभुने कहा—'श्रीपाद ! मैं अब गृहस्थी भोगनेके योग्य नहीं रहा। मेरी अवस्था एकदम पागलोंकी-सी हो गयी है। मुझसे अब किसी भी कामकी आशा करना व्यर्थ है। अब सम्पूर्ण गौड़-देशका भार आपके ही ऊपर है और यह काम आपके गृहस्थ बन जानेपर ही हो सकेगा।'

नित्यानन्दजीने कहा—'प्रभो ! मैं आपकी आज्ञाके सम्मुख लोक-निन्दा और शास्त्र-मर्यादाकी भी परवा नहीं करता। लोग मेरी निन्दा तो खूब करेंगे, कि संन्यासीसे अब गृहस्थ बन गया, किन्तु आपकी आज्ञाके सम्मुख मैं इन निन्दा-वाक्योंको अति तुच्छ समझता हूँ। आप जैसी आज्ञा देंगे वैसा ही मैं करूँगा।'

महाप्रभु तो सबकी मनकी बातें जानते थे, किससे कौन-सा काम कराना उचित होगा, इसका उन्हें ही ज्ञान था। कहाँ तो अपने अन्तरङ्ग विरक्त भक्तोंको स्त्री-दर्शन करना भी पाप बताते थे और कहा करते थे—'हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु' 'स्त्रियोंका और स्त्रियोंसे संसर्ग रखनेवाले विषयी पुरुषोंका दर्शन भी विषभक्षणसे भी बुरा है।' और कहाँ आज वे ही अवधूत नित्यानन्दजीको गृहस्थ बननेकी आज्ञा दे रहे हैं। नित्यानन्दजीने महाप्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की और वे फिर पुरीसे लौटकर पानीहाटीमें राघव पण्डितके ही यहाँ आकर ठहरे। इस प्रान्तमें

नित्यानन्दजीका प्रभाव पहलेसे ही अत्यधिक था। सभी लोग इन्हें श्रीगौराङ्गका दूसरा ही विग्रह समझते थे। इसलिये ये भक्तोंको साथ लेकर खूब धूमधामसे सङ्कीर्तनका प्रचार करने लगे। पाठकोंको स्मरण होगा, अम्बिकानगरके सूर्यदास पण्डितके यहाँ नित्यानन्दजी पहले भी ठहरे थे और वे इनके चरणोंमें भक्ति भी बहुत अधिक रखते थे, उन्हींके यहाँ जाकर फिर ठहरे। उन्होंने परिवारसहित इनका तथा इनके साथियोंका खूब आदर-सत्कार किया। उनकी वसुधा और जाह्नवी नामकी दो सुन्दरी और सुशीला कन्याएँ थीं। इन्हीं दोनों कन्याओंका नित्यानन्दजीके साथ विवाह हुआ।

इस प्रकार दो विवाह करके नित्यानन्दजी भगवती भागीरथीके किनारे खड़दा नामक ग्राममें रहने लगे। भक्तवृन्द इनका बहुत अधिक मान करते थे। यहीं वसुधाके गर्भसे परम तेजस्वी वैष्णव-सम्प्रदायके प्रवर्तक श्रीवीरचन्द्रजीका जन्म हुआ। उन्होंने नित्यानन्दजीके तिरोभावके अनन्तर अपना एक अलग ही वैष्णव-सम्प्रदाय बनाया। इनके पश्चात् इनकी पत्नी जाह्नवीदेवी भी भक्तिका खूब प्रचार करती रहीं। इस प्रकार नित्यानन्दजीद्वारा गुरुकुलकी स्थापना हुई, जो किसी-न-किसी रूपमें अद्यावधि विद्यमान है।

नित्यानन्दजी महाप्रभुके अनन्य उपासक थे, उन्होंने उनकी आज्ञा मानकर लोक-निन्दा सहकर भी विवाह किया और स्त्री-बच्चोंमें रहकर लोगोंको दिखा दिया, कि इस प्रकार निर्लिप्त भावसे रहकर गृहस्थीमें भगवद्-भजन किया जाता है। वे गृहस्थ होनेपर भी सदा उदासीन ही बने रहते थे। उन्होंने प्रवृत्ति-मार्गमें भी निवृत्ति-मार्गका आचरण करना बता दिया। निवृत्ति-प्रवृत्ति ये ही तो दो मार्ग हैं। निवृत्ति-मार्गका तो कोई लाखोंमेंसे एक-आध आचरण कर सकता है। इसीलिये

तो भगवान्ने 'कर्मयोगो विशिष्यते' कहकर निष्काम मार्गकी स्तुति की है। प्रवृत्ति-मार्ग दो प्रकारका होता है—एक सकाम, दूसरा निष्काम। आजकल इन्द्रिय-भोगोंको भोगते हुए जो गृहस्थ केवल पेट-पालनको ही मुख्य समझते हैं, उनका धर्म न निष्काम है और न सकाम। यह तो पशु-धर्म है; परस्परके संसर्गसे स्वतः ही सन्तानें बढ़ती रहती हैं॥ सकाम कर्म वे हैं जो वेदोक्त रीतिसे स्वर्गादि सुखोंकी इच्छासे किये जायँ। निष्काम कर्म वे हैं, जो भगवत्-प्रीतिके ही लिये बिना किसी सांसारिक इच्छाके कर्तव्य समझकर किये जायँ, प्रभु-प्रसन्नता ही जिनका एकमात्र लक्ष्य हो। निष्काम कर्म करनेवाले कुल दो प्रकारके होते हैं—एक तो वीर्यजन्य कुल और दूसरा शब्दजन्य कुल। जो वंशपरम्परासे उत्पन्न होते हैं वे वीर्यजन्य कुल कहलाते हैं और जो शिष्यपरम्परासे शाखा चलती है, वह शब्दजन्य कुल कहाते हैं। आजकलकी महन्ती उसी कुलका विकृत और गिरा हुआ स्वरूप है। नित्यानन्दजीद्वारा इन दोनों ही कुलोंकी सृष्टि हुई। उनके वंशज भी गोस्वामी और वैष्णवोंके गुरु हुए और उनकी शिष्य-परम्परा भी अद्यावधि विद्यमान है।

प्रकाशानन्दजीके साथ पत्र-व्यवहार

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्णा-
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥*

(भर्तृहरि० नी० श० ७९)

महाप्रभु गौराङ्गदेवके सार्वभौम भट्टाचार्यने एक स्तोत्रमें एक सौ आठ नाम बताये हैं। उनमेंसे एक नाम मुझे अत्यन्त ही प्रिय है, वह है 'अदोष-दर्शी'। सचमुच महाप्रभु अदोष-दर्शी थे, वे

---

* जो मन, वाणी और शरीरमें प्रेमरूपी अमृतसे भरे हुए हैं, उपकार-परम्पराओंसे जो त्रिभुवनको प्रसन्न करते हैं और दूसरोंके छोटे-से-छोटे गुणको भी पर्वतके समान विशाल मानकर जो मन-ही-मन प्रफुल्लित होते हैं, ऐसे सच्चे सन्त इस वसुधातलपर कितने हैं? अर्थात् पृथ्वीको अपनी पद-धूलिसे पावन बनानेवाले ऐसे सन्त-महापुरुष लाखोंमें कोई विरले ही होते हैं।

मुखसे ही दूसरोंकी बुराई न करते हों, यही नहीं, किन्तु वे लोगोंके दोषोंकी ओर ध्यान ही नहीं देते थे। उनके जीवनमें कटुता कहीं भी नहीं पायी जाती। वे बड़ोंके सामने सदा सुशील बने रहते। संन्यासी होनेपर भी उन्होंने कभी संन्यासीपनेका अभिमान नहीं किया, सदा अपनेसे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध पुरुषोंके सामने वे नम्रतापूर्वक बर्ताव करते। सदा उनके लिये सम्मानसूचक सम्बोधनका प्रयोग करते। छोटे भक्तोंसे अत्यन्त ही स्नेहके साथ और अपने बड़प्पनको भुलाकर इस प्रकार बातें करते कि उस समय अपनेमें और उसमें किसी प्रकारका भेद-भाव न रहने देते। इन्हीं सब कारणोंसे तो भक्त इन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते और अपनेको सदा प्रभुकी इतनी असीम कृपाके भारसे दबा हुआ-सा समझते।

जहाँ अत्यन्त ही प्रेम होता है, वहीं भगवान् प्रकट हो जाते हैं। भगवान्का न कोई एक निश्चित रूप है, न कोई एक ही नियत नाम। नाम-रूपसे परे होनेपर भी उनके असंख्यों रूप हैं और अगणित नाम हैं। जिसे जो नाम-रूप प्रिय हो उसी नाम-रूपद्वारा प्रभु प्रकट हो जाते हैं। भगवान् प्रेममय तथा भावमय हैं। जहाँ भी प्रेम हो जाय, जिसमें भी दृढ़ भावना हो जाय, उसके लिये वही सच्चा ईश्वरका स्वरूप है, तभी तो गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

जब प्रेमपात्र अपने प्यारेकी असीम अनुकम्पाके भारसे दबने लगता है, तब उसकी स्वतः ही इच्छा होती है, कि मैं अपने प्यारेके गुणोंका बखान करूँ। वह ऐसा करनेके लिये विवश हो जाता है उससे उसकी बिना प्रशंसा किये रहा ही नहीं जाता। प्रेममें यही तो एक विशेषता है। प्रेमी अपने आनन्दको सबमें बाँटना चाहता है। वह

स्वार्थी पुरुषके समान स्वयं अकेला ही उसकी मधुमय मिठाससे तृप्त होना नहीं चाहता। दूसरोंको भी उस अद्भुत रसका आस्वादन करानेके लिये व्यग्र हो उठता है। उसी व्यग्रतामें वह विवश होकर अपने उपास्य-देवके गुण गाने लगता है।

गौड़-देशके सभी गौर-भक्त प्रभुके प्रेमसे इतने छक गये थे कि वे अपनी मस्तीको रोक नहीं सके। उन दिनों श्रीकृष्णभगवान्‌के ही मधुर नामोंका कीर्तन होता था, तबतक गौर-संकीर्तन आरम्भ नहीं हुआ था। भक्त लोग महाप्रभुमें भगवत्-भावना रखते थे। इन सबके अग्रणी थे परम शास्त्रवेत्ता श्रीअद्वैताचार्य। इसलिये उन्होंने ही पहले-पहल नीलाचलमें ही गौर-संकीर्तनका श्रीगणेश किया। तबतक गौराङ्गके सम्बन्धके पदोंकी रचना नहीं हुई थी; इसलिये अद्वैताचार्यने स्वयं ही निम्न पद बनाया—

श्रीचैतन्य नारायण करुणासागर।
दुःखितेर बन्धु प्रभु मोर दयाकर॥

इस पदकी रचना करके सभी भक्तोंसे उन्होंने इसे ताल-स्वरसे गवाया। सभी भक्त प्रेममें विभोर होकर इस पदका संकीर्तन करने लगे। महाप्रभु भी कीर्तनकी उल्लासमय आनन्दमय सुमधुर ध्वनि सुनकर वहाँ आ पहुँचे। जब उन्होंने अपने नामका कीर्तन सुना, तब तो वे उलटे पैरों ही लौट पड़े। पीछे कुछ प्रेमयुक्त क्रोध प्रकट करते हुए महाप्रभु श्रीवास पण्डितसे कहने लगे—'आपलोग यह क्या अनर्थ कर रहे हैं, कीर्तनीय तो वे ही श्रीहरि हैं, उनके कीर्तनको भुलाकर अब आपलोग ऐसा आचरण करने लगे हैं, जिससे लोगोंमें मेरा अपयश हो और परलोकमें मैं पापका भागी बनूँ।' इतनेमें ही कुछ गौड़ीय भक्त संकीर्तन करते हुए जगन्नाथजीके दर्शनोंसे लौटकर प्रभुके दर्शनोंके लिये आ रहे

थे। वे जोरोंसे 'जय चैतन्यकी' 'जय सचल जगन्नाथकी' 'जय संन्यासी-वेषधारी कृष्णकी' आदि जयजयकार करते आ रहे थे। तब श्रीवासने कहा—'प्रभो ! हमें तो आप जो आज्ञा देंगे वही करेंगे। किन्तु हम संसारका मुख थोड़े ही बन्द कर सकते हैं। आप ही बतावें इन्हें किसने सिखा दिया है ?' इससे महाप्रभु कुछ लज्जित-से होकर चुपचाप बैठे रहे, उन्होंने इस बातका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। पीछे ज्यों-ज्यों लोगोंका उत्साह बढ़ता गया; त्यों-त्यों भगवान्के नामोंके साथ निताई गौरका नाम भी जुड़ता गया। पीछेसे तो निताई-गौरका ही कीर्तन प्रधान बन गया।

अधिकांश भक्तोंका भाव इनके प्रति सचमुच ईश्वरपनेका था। किन्तु ये सदा सावधान ही बने रहते। अपनेको सदा दासानुदास ही समझते और कभी किसीके सामने अपनी भगवत्ता स्वीकार नहीं करते। इनके भक्त भिन्न-भिन्न प्रकृतिके थे। बहुत-से तो इन्हें वात्सल्य-भावसे ही प्यार करते, ये भी उन्हें सदा पितृभावसे पूजते तथा मानते थे। दामोदर पण्डितसे तो पाठक परिचित ही होंगे। प्रभुने उन्हें घरपर माताकी सेवा-शुश्रूषाके निमित्त नवद्वीप भेज दिया था। एक बार जब वे पुरीमें प्रभुसे मिलने आये तो वैसे ही बातों-ही-बातोंमें माताका कुशल-समाचार पूछते-पूछते प्रभुने कहा—'पण्डितजी ! माता कृष्ण-भक्ति करती हैं न ?' बस, फिर क्या था, दामोदर पण्डितका क्रोध आवश्यकतासे अधिक बढ़ गया। वे माताके चरणोंमें बड़ी श्रद्धा रखते थे और स्पष्ट-वक्ता ऐसे थे, कि प्रभुका जो भी कार्य उन्हें अशास्त्रीय या अनुचित प्रतीत होता उसे उसी समय सबके सामने ही कह देते। प्रभुके ऐसा पूछनेपर उन्होंने रोषके साथ कहा—'प्रभो ! माताकी भक्तिके सम्बन्धमें आप पूछते हैं ? तो सच्ची बात तो यह है, कि आपमें जो कुछ थोड़ी-बहुत भगवद्भक्ति दीखती है, यह सब माताकी ही कृपाका फल है।'

दामोदर पण्डितके ऐसे उत्तरको सुनकर प्रभु प्रेममें विभोर हो गये और प्रेममयी माताके स्नेहका स्मरण करते हुए गद्गद कण्ठसे कहने लगे—'पण्डितजी ! आपने बिल्कुल सत्य बात कह दी। अहा, माताकी भक्तिको कोई क्या समझ सकेगा ? आपने ही यथार्थमें माताको समझा है। सचमुच मेरे हृदयमें जो भी कुछ कृष्ण-भक्ति है वह माताका ही प्रसाद है। हाय ! ऐसी प्रेममयी जननीको भी छोड़कर मैं चला आया।' इतना कहते-कहते प्रभु वस्त्रसे मुख ढककर रुदन करने लगे। यह उन महापुरुषकी दशा है, जिन्हें भक्त साक्षात् 'सचल जगन्नाथ' समझते थे। उन्होंने दामोदर पण्डितके इस रूखे उत्तरका कुछ भी बुरा न मानकर उलटी उनकी प्रशंसा ही की। तभी तो आज असंख्यों पुरुष गौर-चरणोंका आश्रय ग्रहण करके असीम आनन्दका अनुभव कर रहे हैं और अपने मनुष्य-जीवनको धन्य बना रहे हैं।

महाप्रभुकी ख्याति दूर-दूरतक फैल गयी थी। साधारण जनतामें ही नहीं, किन्तु विद्वन्मण्डलीमें भी इनके अद्भुत प्रभावकी चर्चा होने लग गयी थी। सार्वभौम भट्टाचार्यकी विद्वत्ता, धारणा-शक्ति और पढ़ानेकी सुगम और सरल शैलीकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो चुकी थी। काशीके विद्वत्समाजमें उनका नाम गौरवके साथ लिया जाता था। उन दिनों काशीमें प्रकाशानन्द सरस्वती नामक एक दण्डी संन्यासी परम विद्वान् और वेदान्त-शास्त्रके प्रकाण्ड पण्डित थे। वे सार्वभौमकी अलौकिक प्रतिभा और प्रचण्ड पाण्डित्यसे परिचित थे। उन्होंने जब सुना कि पुरीमें एक नवीन अवस्थाका युवक संन्यासी विराजमान है और सार्वभौम-जैसे विद्वान् अपने वेदान्त-ज्ञानको तुच्छ समझकर उसके चरणोंमें भक्ति करते हैं और उसे साक्षात् ईश्वर समझते हैं, तब तो उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ। तबतक उनकी अद्वैत-वेदान्तमें निष्ठा थी, वैसे वे सरस और

प्रेमी हृदयके थे, किन्तु अभीतक उनकी सरस्वती छिपी ही हुई थी, उसे किसी भारी चीजकी ठेस नहीं लगी थी जिससे वह छलककर प्रस्फुटित हो सकती। उन्होंने कौतुकवश एक श्लोक लिखकर जगन्नाथजी आनेवाले किसी गौड़ीय भक्तके हाथों प्रभुके पास भेजा। वह श्लोक यह था—

यत्रास्ते मणिकर्णिका मलहरी स्वर्दीर्घिका दीर्घिका
रत्नं तारकमोक्षदं मृततनौ शम्भुः स्वयं यच्छति।
एतत्त्वद्भुतमेव यत् सुरपुरो निर्वाणमार्गस्थितात्
मूढोऽन्यत्र मरीचिकासु पशुवत् प्रत्याशया धावति॥

इस श्लोकमें ज्ञानको प्रधानता दी गयी और मोक्षको ही परम पुरुषार्थ बताकर उसीकी प्राप्तिके लिये संकेत किया गया है। इसका भाव यह है—'जिस स्थानपर मणिकर्णिका-कुण्ड और पाप-ताप-हारिणी सुरदीर्घिका भगवती भागीरथी हैं, जहाँ मुर्देको देवाधिदेव भगवान् शूलपाणि स्वयं मोक्षको देनेवाले तारकरत्नको प्रदान करते हैं; मूर्खलोग ऐसी परम पावन मोक्षके मार्गमें स्थित सुरपुरीका परित्याग करके पृथ्वीपर पशुके समान इधर-उधर भटकते फिरते हैं, यही आश्चर्य है!'

गौड़ीय भक्तने यथासमय नीलाचल पहुँचकर पूज्यपाद प्रकाशानन्दजीका पत्र प्रभुके पादपद्मोंमें समर्पित किया। प्रभु पत्रको पाकर और प्रकाशानन्दजीका नाम सुनकर बहुत अधिक प्रसन्न हुए। उन्होंने बड़े ही आदरके सहित पत्रको स्वयं खोला और खोलकर पढ़ने लगे। श्लोकको पढ़ते ही प्रभु उसका भाव समझ गये और मन्द-मन्द मुस्कराते हुए वे सार्वभौम आदि भक्तोंकी ओर देखने लगे। भक्तोंके जिज्ञासा करनेपर स्वरूपदामोदरने वह पत्र पढ़कर उपस्थित सभी भक्तोंको सुना दिया। प्रभुने श्रीपाद प्रकाशानन्दजीके पाण्डित्यकी प्रशंसा की और उनके सम्मानार्थ स्वरूप गोस्वामीसे एक श्लोक लिखवाकर उसी भक्तके हाथ उत्तरस्वरूपमें उनके पास भिजवा दिया। वह श्लोक यह है—

घर्माम्भो मणिकर्णिका भगवतः पादाम्बु भागीरथी
काशीनाम्पतिरर्द्धमेव भजते श्रीविश्वनाथः स्वयम्।
एतस्यैव हि नाम शम्भुनगरे निस्तारकं तारकं
तस्मात्कृष्णपदाम्बुजं भज सखे! श्रीपादनिर्वाणदम्॥

'जिनके पसीनेके जलसे मणिकर्णिकाकी उत्पत्ति हुई है, भगवती भागीरथी जिनके चरण-जलसे उत्पन्न हुई हैं, स्वयं साक्षात् काशीपति भगवान् विश्वनाथ जिनके आधे अङ्ग बने हुए हैं। और काशी-नगरीमें जिनका तारक नाम ही जीवोंको संसार-सागरसे तारनेमें समर्थ है। हे सखे ! ऐसे मोक्षदायक श्रीकृष्ण-चरणोंका भजन तुम क्यों नहीं करते। अर्थात् उन्हीं चरणारविन्दोंका चिन्तन करो।' इस श्लोकमें भगवत्-भक्तिको प्रधानता दी गयी है और मुक्तिको भक्तिके सामने तुच्छ बताया है।

इस उत्तरको पाकर स्वामी प्रकाशानन्दजी महाराजकी क्या दशा हुई होगी, इसे तो वे ही जानें, किन्तु उन्होंने थोड़े दिनोंके बाद एक श्लोक प्रभुके पास और भेजा। महाप्रभुका नियम था कि वे भगवान्के प्रसाद पानेमें आगा-पीछा नहीं करते थे। मन्दिरका प्रसाद जब भी उन्हें मिल जाता तभी उसे मुँहमें डाल देते थे। भक्तवृन्द उन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे, इसलिये वे इन्हें नित्य ही बहुत बढ़िया-बढ़िया विविध प्रकारके पदार्थ खिलाया करते थे। प्रभु भी उनकी प्रसन्नताके निमित्त सभी प्रकारके पदार्थोंको खा लेते और दिनमें अनेकों बार। यह संन्यासके साधारण नियमके विरुद्ध आचरण है। संन्यासीको तो एक बार ही भिक्षामें जो रूखा-सूखा अन्न मिल जाय, उसीसे उदर-पूर्ति कर लेनी चाहिये। उसे विविध प्रकारके रसोंको पृथक्-पृथक् स्वाद नहीं लेना चाहिये, किन्तु महाप्रभु तो प्रेमी थे। वे संन्यासी भी थे किन्तु

पहले प्रेमी और पीछे संन्यासी। प्रेमके सामने वे संन्यास-नियमोंको कभी-कभी स्वतः ही भूल जाते, कहावत भी है 'प्रेममें नियम नहीं।' सचमुच वे प्रेमी भक्तोंके प्रेमके वशीभूत होकर उनकी प्रसन्नताके निमित्त नियमोंकी विशेष परवा नहीं करते थे। इसे मस्तिष्कप्रधान विचारक कैसे समझ सकता है? वह तो नियमोंको ही ईश्वर समझता है और कठोरता तथा हठके साथ नियमोंका पालन करता है। ऐसा पुरुष भी वन्दनीय और पूजनीय है, किन्तु दूसरोंको भी ऐसा ही बननेके लिये आग्रह करना ठीक नहीं। प्रेमीका तो पथ ही दूसरा है। 'गोकुल गाँवको पैंडो ही न्यारो' प्रेमियोंकी मथुरा तो तीन लोकोंसे न्यारी ही है। प्रकाशानन्दजीने नियमोंकी कठोरता दिखाते हुए भर्तृहरिशतकके शृङ्गारशतकका निम्नलिखित श्लोक लिखकर प्रभुके पास भेजा—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

इसका भाव यह है कि विश्वामित्र, पराशर प्रभृति ऋषि-महर्षि सहस्रों वर्षपर्यन्त वायु-भक्षण करके तथा सूखे पत्ते खाकर घोर तप करते रहे, इतनेपर भी वे स्त्रीके कमलरूपी मनोहर मुखको देखकर मोहित हो गये। जब इतने-इतने बड़े संयम करनेवाले महर्षियोंकी यह दशा है, तो जो नित्यप्रति बढ़िया चावल, दूध, दही, घृत तथा इनके बने हुए भाँति-भाँतिके पदार्थोंको रोज ही खाते हैं, उनकी इन्द्रियोंका यदि वशमें रहना सम्भव है तो विन्ध्याचल-पर्वतका भी समुद्रके ऊपर तैरते रहना सम्भव हो सकता है। अर्थात् ऐसे पदार्थोंको खाकर इन्द्रियोंका संयम करना असम्भव है।

महाप्रभुने इस श्लोकको पढ़ा, पढ़ते ही उन्हें कुछ लज्जा-सी आयी और विरक्तभावसे उन्होंने यह पत्र स्वरूपदामोदरके हाथमें दे दिया। स्वरूपदामोदरजीने कुछ रोषके स्वरमें कहा—'मैं इसका अभी उत्तर देता हूँ।'

महाप्रभुने अत्यन्त ही सरलतासे कहा—'इसका उत्तर हो ही क्या सकता है? गालीका उत्तर गाली ही हो सकती है और विवेकी पुरुष गाली देना उचित नहीं समझते इसीलिये वे दूसरोंकी गाली सुनकर मौन ही रह जाते हैं। वे कैसी भी गालीका उत्तर नहीं देते। इसलिये अब इसका उत्तर देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। बात ठीक ही है। इन्द्रियाँ बड़ी बलवान् होती हैं, वे विद्वानोंको भी अपनी ओर खींच लेती हैं।'

महाप्रभुकी आज्ञासे उस समय तो सभी भक्त चुप रह गये, किन्तु सभीमें महाप्रभुके समान सहनशीलता नहीं हो सकती। इसलिये भक्तोंने प्रभुके परोक्षमें नीचेका श्लोक लिखकर प्रकाशानन्दजीके पास इस श्लोकका उत्तर भेज दिया—

सिंहो बली द्विरदशूकरमांसभोजी
संवत्सरेण कुरुते रतिमेकवारम्।
पारावतस्तृणशिखाकणमात्रभोगी
कामी भवेदनुदिनं वद कोऽत्र हेतुः॥

अर्थात् 'महाबली सिंह शूकर और हाथियोंका पुष्टकारी मांस ही खाता है फिर भी वर्षभरमें केवल एक ही बार काम-क्रीडा करता है। (किसी-किसीका कथन है कि सिंह सम्पूर्ण आयुमें ही एक बार रति करता है) इसके विपरीत कपोत साधारण तृणोंके अग्रभाग तथा कंकड़ आदिको ही खाकर जीवन-निर्वाह करता है, फिर भी नित्यप्रति काम-क्रीडा करता है। (कपोतके समान कामी पक्षी दूसरा कोई है ही नहीं, वह दिनमें अनेकों बार रति करता है।) यदि भोजनके ही ऊपर कामी

होना और न होना अवलम्बित हो, तो बताओ इस वैषम्यंका क्या कारण है ?' पता नहीं इस श्लोकका श्रीपाद प्रकाशानन्दजीपर क्या असर हुआ, किन्तु इसके बाद फिर पत्र-व्यवहार बन्द ही हो गया। सार्वभौम भट्टाचार्यने महाप्रभुसे आज्ञा माँगी कि हमें काशी जानेकी आज्ञा दीजिये। हम वहाँ प्रकाशानन्दजीको शास्त्रार्थमें पराजित करके, उन्हें भक्ति-तत्त्व समझा आवेंगे। महाप्रभुको शास्त्रार्थ और जय-पराजय ये सांसारिक प्रतिष्ठाके कार्य पसन्द नहीं थे। भगवद्भक्त किसे पराजित करे। सभी तो उसके इष्टदेवके स्वरूप हैं। इसलिये सभीको 'सीयराम' समझकर वह हाथ जोड़े हुए प्रणाम ही करता है—

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुगपानी ॥

किन्तु सार्वभौम कैसे भी भक्त सही, उन्हें अपने शास्त्रका कुछ-न-कुछ थोड़ा-बहुत अभिमान तो था ही। भक्तोंके सामने वह दबा रहता था और अभिमानियोंके सम्मुख प्रस्फुटित हो जाता था। महाप्रभुके मने करनेपर भी उन्होंने काशी जानेके लिये प्रभुसे आग्रह किया। महाप्रभुने उनकी उत्कट इच्छा देखकर काशीजी जानेकी आज्ञा दे दी। ये काशी गये भी। किन्तु वहाँसे जैसे गये थे वैसे ही लौट आये, न तो वे महामहिम प्रकाशानन्दजीको शास्त्रार्थमें पराजित ही कर सके और न उन्हें ज्ञानीसे भक्त ही बना सके। इससे वे कुछ लज्जित भी हुए और महाप्रभुके सामने आनेमें संकोच करने लगे। तब महाप्रभु स्वयं उनसे जाकर मिले और उन्हें सान्त्वना देते हुए कहने लगे—'आपका कार्य बड़ा ही स्तुत्य था। भक्तिविहीन जीवोंको भक्ति-मार्गमें लानेकी इच्छा किसी भाग्यशाली महापुरुषके ही हृदयमें होती है।' महाप्रभुके इन सान्त्वनापूर्ण वाक्योंसे सार्वभौमकी लज्जा कुछ कम हुई। इस घटनाके अनन्तर उनका प्रेम महाप्रभुके चरणोंमें और भी अधिक बढ़ गया।

पुरीमें गौड़ीय भक्तोंका पुनरागमन

अमृतं राजसम्मानममृतं क्षीरभोजनम्।
अमृतं शिशिरे वह्निरमृतं प्रियदर्शनम्॥*

(सु० र० भां० १७१। ५०८)

जो सचमुच हमारे हृदयको अत्यन्त ही प्यारा लगता हो, हृदय जिसके लिये तड़फता रहता हो, यदि ऐसे प्यारेके कहीं दर्शन मिल जायँ तो हृदयमें कितनी अधिक प्रसन्नता होती होगी, इसका अनुभव सहृदय सच्चे प्रेमी ही कर सकते हैं। अपने प्यारेके निमित्त दुःख सहने में भी एक प्रकारका सुख प्रतीत होता है। प्यारेके स्मरणमें आनन्द है, उसके कार्य करनेमें स्वर्गीय सुख है, उसके लिये तड़फनेमें मधुरिमा है और उसके वियोगजन्य दुःखमें भी एक प्रकारका मीठा-मीठा सुख ही है। सम्मिलनमें क्या है इसे बताना हमारी बुद्धिके बाहरकी बात है।

रथ-यात्राको उपलक्ष्य बनाकर गौड़ीय भक्त प्रतिवर्ष नवद्वीपसे नीलाचल आते थे। वर्तमान समयके तीर्थ-यात्रीगण उस समयके तीर्थ-यात्रियोंके दुःखका अनुमान लगा ही नहीं सकते। उस समय सर्वत्र पैदल ही यात्रा की जाती थी। रास्तेमें अनेक नदी-नद पड़ते थे, उन्हें नावोंद्वारा पार करना होता था। घटवारिया यात्रियोंको भाँति-भाँतिके क्लेश देते थे

---

* संसारमें भिन्न-भिन्न प्रकृतिके पुरुष होते हैं, उन्हें जो चीजें अत्यन्त ही प्रिय प्रतीत होती हैं, उनके लिये वे ही वस्तुएँ अमृत हैं। मान-प्रतिष्ठा चाहनेवालेको 'राजसम्मान' ही अमृत है। स्वादिष्ट पदार्थ खाने-वालोंके लिये क्षीरका भोजन ही अमृत है। गरीब लोगोंके लिये जाड़ेमें अग्नि ही अमृतके समान है और प्रेमियोंको अपने प्यारेका दर्शन हो जाना ही अमृत-तुल्य है। साधारणतया ये चारों बातें सभी लोगोंको प्रिय होती हैं।

और बहुत-से लोगोंको तो दो-दो, तीन-तीन दिनतक पार होनेके लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। थोड़ी-थोड़ी दूरपर राज्यसीमा बदल जाती। विधर्मी शासक तीर्थ-यात्रा करनेवाले स्त्री-पुरुषोंकी विशेष परवा ही नहीं करते थे। परस्पर एक राजासे दूसरे राजाके साथ युद्ध होता रहता। युद्धकालमें यात्रियोंको भाँति-भाँतिकी असुविधाएँ उठानी पड़तीं, अपने ओढ़ने-बिछानेके वस्त्र स्वयं लादने पड़ते और धीरे-धीरे पूरी यात्रा पैदल ही समाप्त करनी पड़ती। इन्हीं सब बातोंके कारण उस समय तीर्थ-यात्रा करना एक कठिन कार्य समझा जाता था।

नवद्वीपसे जगन्नाथजीका बीस-पचीस दिनका पैदल रास्ता है, इतने दुःख होनेपर भी गौर-भक्त बड़े ही उल्लास और आनन्दके सहित प्रभु-दर्शनोंकी लालसासे नीलाचल प्रतिवर्ष आते। पहले तो प्रायः पुरुष ही आया करते थे और बरसातके चार मास प्रभुके साथ रहकर अपने-अपने घरोंको लौट जाते। दूसरे वर्षसे भक्तोंकी स्त्रियाँ भी आने लगीं और प्रभुके दर्शनोंसे अपनेको धन्य बनाने लगीं। दूसरे वर्ष दो-चार परम भक्ता माताएँ आयी थीं, तीसरे वर्ष प्रायः सभी भक्तोंकी स्त्रियाँ अपने छोटे-छोटे बच्चोंको साथ लेकर प्रभु-दर्शनोंकी इच्छासे नीलाचल चलनेके लिये प्रस्तुत हो गयीं। उन्हें घरका, कुटुम्ब-परिवारका तथा रुपये-पैसेका कुछ भी ध्यान नहीं था। उनके लिये तो 'अवध तहाँ जहँ रामनिवासू' वाली कहावत थी। उनका सच्चा घर तो वही था जहाँ उनके प्रभु निवास करते हैं, इसलिये पतियोंके मार्गके भय दिखानेपर भी वे भयभीत न हुई और विष्णुप्रियाजीसे पूछ-पूछकर प्रभुको जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय थे उन्हें ही बना-बनाकर प्रभुके लिये साथ ले चलने लगीं। किसीने प्रभुके लिये लड्डु ही बाँधे हैं, तो कोई भाँति-भाँतिके मुरब्बे तथा अचारोंको ही साथ ले चली है। किसीने सन्देश बनाये हैं, तो किसीने वर्षोंतक न बिगड़नेवाली विविध प्रकारकी खोयेकी मिठाइयाँ ही बनायी हैं। इस

प्रकार सभी भक्त और उनकी स्त्रियाँ प्रभुके निमित्त विविध प्रकारके आहार और खाद्य पदार्थ लेकर नीलाचलके लिये तैयार हुए। पानीहाटी-निवासी राघव पण्डितकी भगिनी महाप्रभुके चरणोंमें बड़ी श्रद्धा रखती थी, वह प्रतिवर्ष सुन्दर-सुन्दर सैकड़ों वस्तुएँ बनाकर एक बड़ी-सी झालीमें रखकर राघव पण्डितके हाथों प्रभुके पास भेजती। उसकी चीजें कितने दिन भी क्यों न रखी रहें न तो सड़ती थीं और न खराब होती थीं। भक्तोंमें 'राघव पण्डितकी झाली' प्रसिद्ध थी। प्रभु भी राघवकी झालीकी चीजोंको बहुत दिनोंतक सुरक्षित रखते थे। नवद्वीप, पानीहाटी, कुलीन-गाँव, खण्डग्राम तथा शान्तिपुर आदि सभी स्थानोंके भक्त एकत्रित होकर सबसे पहले शचीमाताके आँगनमें एकत्रित होते और माताकी चरण-धूलि सिरपर चढ़ाकर उनकी आज्ञा लेकर ही वे प्रस्थान करते। अबके माताने देखा चन्द्रशेखर आचार्यरत्नके साथ उनकी गृहिणी अर्थात् शचीमाताकी भगिनी भी जा रही है। अपने बच्चोंके सहित आचार्यपत्नी सीतादेवी भी नीलाचल जानेको तैयार है। श्रीवास पण्डितकी पत्नी मालिनीदेवी, शिवानन्द सेनकी स्त्री तथा उनका पुत्र चैतन्यदास, सपत्नीक मुरारी गुप्त ये सभी यात्रिक वेशमें खड़े हुए हैं। डबडबायी आँखोंसे और रुँधे हुए कण्ठसे माताने सभीको जानेकी आज्ञा प्रदान की और रोते-रोते उन्होंने कहा—'तुम्हीं सब बड़े भाग्यवान् हो, जो पुरी जाकर निमाईके कमलमुखको देखोगे, न जाने मेरा भाग्योदय कब होगा, जब उस सुवर्णरङ्गवाले निमाईके सुन्दर मुखको देखकर अपने हृदयको शीतल बना सकूँगी। तुम सभी उससे कहना कि उस अपनी दुःखिनी माताको एक बार आकर दर्शन तो दे जाय। मैं उसके कमलमुखको देखनेके लिये कितनी व्याकुल हूँ।' इसी प्रकार अपनी उम्रकी स्त्रियोंसे विष्णुप्रियाजीने भी संकेतसे यही अभिप्राय प्रकट किया। सभी स्त्री-पुरुष मातृचरणोंकी वन्दना करते हुए पुरीको चल दिये।

हरि-कीर्तन करते हुए किसीको भी रास्तेका कष्ट प्रतीत नहीं हुआ। सभी जगन्नाथपुरीमें पहुँच गये।

भक्तोंका आगमन सुनकर महाप्रभुने उनके स्वागतके लिये पहलेसे ही स्वरूप गोस्वामी तथा गोविन्द आदि भक्तोंको भेज दिया था। इन सभीने जाकर भक्तोंके अग्रणी अद्वैताचार्यके चरणोंमें प्रणाम किया और उन्हें मालाएँ पहनायीं। फिर महाप्रभु भी आकर मिल गये और सभीको धूमधामके साथ अपने स्थानको ले गये। सभीके ठहरने तथा प्रसाद आदिका पूर्वकी ही भाँति प्रबन्ध कर दिया गया। भक्तोंकी बहुत-सी स्त्रियोंने पहले ही पहल प्रभुको संन्यासी-वेशमें देखा था। वे प्रभुके ऐसे भिक्षुक वेष देखकर जोरोंसे रुदन करने लगीं। भक्तोंकी स्त्रियाँ बारी-बारीसे प्रभुको भिक्षा कराने लगीं। महाप्रभु बड़े ही प्रेमके साथ सभीके निमन्त्रणको स्वीकार करके उनके स्थानोंपर जा-जाकर भिक्षा करने लगे। पूर्वकी ही भाँति 'रथ-यात्रा, हीरापञ्चमी, जन्माष्टमी, दशहरा और दीपावली' आदिके उत्सव मनाये गये। गौड़ीय भक्त संकीर्तन करते-करते उन्मत्त हो जाते थे और बेसुध होकर कीर्तनमें लोट-पोट हो जाते। महाप्रभु सबके साथ जोरोंसे नृत्य करते। एक दिन नृत्य करते-करते महाप्रभु कुएँमें गिर पड़े। तब भक्तोंने उन्हें निकाला, महाप्रभुके शरीरमें किसी प्रकारकी चोट नहीं लगी।

महाप्रभु पुरीमें भक्तोंकी विविध प्रकारसे इच्छा पूर्ण किया करते थे। भक्त उन्हें जिस प्रकार भी खिला-पिलाकर सन्तुष्ट होना चाहते थे, प्रभु उनकी इच्छानुसार उसी प्रकार भिक्षा करके उन्हें सन्तुष्ट करते थे।

क्वारके दशहरेके पश्चात् सभी भक्त लौटनेके लिये प्रस्तुत हुए। प्रभु पहलेकी भाँति फिर एक-एकसे अलग-अलग मिले और उनसे उनकी मनकी बातें पूछीं। कुलीनग्रामनिवासी प्रभुकी आज्ञानुसार प्रतिवर्ष जगन्नाथजीके लिये पट्टडोरी लाया करते थे। वे प्रतिवर्ष महाप्रभुसे वैष्णवके लक्षण पूछते।

पहले वर्ष पूछनेपर प्रभुने बताया था—'जिसके मुखसे एक बार भी भगवन्नामका उच्चारण हो गया वही वैष्णव है।'

दूसरे वर्ष पूछनेपर आपने कहा—'जो निरन्तर भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करता रहे वही वैष्णव है।'

तीसरे बार फिर वैष्णवकी परिभाषा पूछनेपर प्रभुने कहा—'जिसे देखते ही लोगोंके मुखोंमेंसे स्वतः ही श्रीहरिके नामोंका उच्चारण होने लगे वही वैष्णव है।' इस प्रकार तीन वर्षोंमें प्रभुने वैष्णव, वैष्णवतर और वैष्णवतम तीन प्रकारके भक्तोंका तत्त्व बताया। महाप्रभुने सभीको उपदेश किया कि वे वैष्णवमात्रके प्रति श्रद्धाके भाव रखें। वैष्णव चाहे कैसा भी क्यों न हो, वह पूजनीय ही है।

इस प्रकार जिसने भी जो प्रश्न पूछा उसीका प्रभुने उत्तर दिया। अद्वैताचार्यको भक्तोंके देख-रेख करते रहनेके लिये प्रभुने फिरसे उन्हें सचेष्ट किया। भक्तोंको नवद्वीपसे नीलाचल लाने और रास्तेमें उनके सभी प्रकारके प्रबन्ध करनेका भार प्रभुने शिवानन्द सेनके ऊपर दिया था। उन्हें फिरसे प्रभुने समझाया कि सभीको खूब सावधानीपूर्वक लाया करें।

नित्यानन्दजीसे प्रभुने निवेदन किया—'श्रीपाद! आप प्रतिवर्ष नीलाचल न आया करें। वहीं रहकर संकीर्तनका प्रचार किया करें।' इस प्रकार सभीको समझा-बुझाकर प्रभुने विदा किया। सभी रोते-रोते प्रभुको प्रणाम करके गौड़-देशकी ओर चले गये। केवल पुण्डरीक विद्या-निधि कुछ कालतक महाप्रभुके साथ पुरीमें ही और रहना चाहते थे इसलिये प्रभु उनके साथ अपने स्थानपर लौट आये। विद्यानिधिको प्रभु प्रेमके कारण 'प्रेमनिधि' के नामसे सम्बोधन किया करते थे। उनकी स्वरूपदामोदरके साथ बहुत अधिक प्रगाढ़ता हो गयी थी। गदाधर इनके मन्त्र-शिष्य थे ही, इसलिये वे इनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगे।

कारके बाद शीतकी जो पहली षष्ठी होती है, उसे 'ओढनषष्ठी' कहते हैं। उस दिन जगन्नाथजीको सर्दीके वस्त्र उढ़ाये जाते हैं। उस दिन भगवान्के शरीरपर बिना धुले माड़ी लगे हुए वस्त्रोंको देखकर विद्यानिधिको बड़ी घृणा हुई। उसी दिन रात्रिमें भगवान्ने बलरामजीके सहित हँसते-हँसते इनके कोमल गालोंपर खूब चपतें जमायीं। जागनेपर इन्होंने देखा कि सचमुच इनके गाल फूले हुए हैं, इससे इन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। महाप्रभु इनके और स्वरूपदामोदरके साथ कृष्ण-कथा कहने-सुननेमें सबसे अधिक आनन्दका अनुभव करते थे। कुछ कालके अनन्तर महाप्रभुकी आज्ञा लेकर ये अपने स्थानके लिये लौट आये।

इसी प्रकार चार वर्षोंतक भक्त महाप्रभुके पास प्रतिवर्ष रथ-यात्राके समय बराबर आते रहे। पाँचवें वर्ष प्रभुने भक्तोंसे कह दिया कि अबके हम स्वयं ही वृन्दावन जानेकी इच्छासे गौड़-देशमें आकर जननी और जन्म-भूमिके दर्शन करेंगे। अबके आपलोग न आवें। इस बातसे सभी भक्तोंको बड़ी भारी प्रसन्नता हुई। महाप्रभु जबसे दक्षिणकी यात्रा समाप्त करके आये थे, तभीसे वृन्दावन जानेके लिये सोच रहे थे, किन्तु रामानन्दजी, सार्वभौम तथा महाराज प्रतापरुद्रजीके अत्यधिक आग्रहके कारण अभीतक न जा सके। अब उनकी वृन्दावन जानेकी इच्छा प्रबल हो उठी। इससे पुरी-निवासी भक्तोंने भी उन्हें अधिक विवश करना नहीं चाहा। दुःखित मनसे उन्होंने प्रभुको वृन्दावन जानेकी सम्मति दे दी। अब महाप्रभु वृन्दावन जाकर अपने प्यारे श्रीकृष्णकी लीलास्थलीके दर्शनोंके लिये बहुत अधिक उत्सुकता प्रकट करने लगे। वे वृन्दावन जानेकी तैयारियाँ करने लगे।*

---

* आगेकी पुण्य लीलाओंके लिये चौथा खण्ड देखनेकी प्रार्थना है।